ॐ

जुर्वेद

(अन्तिम अध्याय)

ईशावास्योपनिषद्

विधुशेखर त्रिवेदी

प्रियवर

श्री रमेश चन्द्र रस्तोगी को सप्रेम भेंट

[illegible]

२३.५.९०

यजुर्वेद

(अन्तिम अध्याय)

ईशावास्योपनिषद्

श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान

के तत्वावधान में

वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु

मेसर्स उमा प्रकाशन लिमिटेड

ई/१४ इन्डस्ट्रियल एस्टेट, ताल कटोरा रोड,

लखनऊ

द्वारा

केवल ३२.०० लागत मूल्य पर

मुद्रित एवं प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९८८ १०,००० प्रतियां

९२२२
ईश/त्रि

विनम्र निवेदन

ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय का यह भाष्य वैदिक ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से श्रीमती चम्पादेवी वैदिक संस्थान के तत्वावधान में उमा प्रकाशन लिमिटेड द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित किया जा रहा है। इसके यशस्वी लेखक, श्री विधुशेषर त्रिवेदी एक वरिष्ठ आई० ए० एस० अधिकारी हैं, जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य वैदिक ज्योति के प्रकाश से जन-जन के जीवन को आलोकित करना है।

सुविज्ञ सज्जनों से हमारा विनम्र अनुरोध है कि इस ब्रह्म यज्ञ को सफल बनाने के लिये मुक्त हस्त से दान देकर पुण्य अर्जित करें क्योंकि समस्त दानों में वेद विद्या का दान सर्वश्रेष्ठ है।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥

॥ मनुस्मृति। ४। २३३॥

जल, अन्न, गो, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी आदि समस्त वस्तुओं के दानों से ब्रह्मदान अर्थात् वैदिक ज्ञान का दान श्रेष्ठ है।

पुण्यकर्म के रूप में दान की महिमा अपार है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा दी गई है—

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

श्रद्धा से देना चाहिये, अश्रद्धा हो तो भी देना चाहिये; अपनी सम्पत्ति के अनुसार प्रसन्नता से देना चाहिए, लज्जा से अर्थात् विनम्रता से देना चाहिए, भय से देना चाहिए, विवेक से प्रेमपूर्वक देना चाहिये।

वेद में उपदेश दिया गया है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।

॥ अथर्व । ३ । २४ । ५ ॥

सौ हाथों से संग्रह करो, हज़ार हाथों से दान करो। अपने कार्यक्षेत्र तथा कर्तव्यक्षेत्र की अभिवृद्धि करो ।

जिन महानुभावों को यह पुस्तक सम्मानार्थ भेंटकी जा रही है, उनसे प्रार्थना है कि वह भी कृपया कम से कम पुस्तक के मूल्य के समतुल्य दान अवश्य देने का कष्ट करें जिससे वैदिक ज्ञान के प्रचार में सतत् प्रयत्नशील इस संस्थान को अपने मार्ग पर अग्रसर होने में उनका बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हो सके ।

इसके अतिरिक्त मुझे यह भी निवेदन करना है कि वैदिक ज्ञान की इस अपूर्व पुस्तक का न केवल स्वयं अध्ययन करें बल्कि अपने परिवार के अन्य सदस्यों को भी इसके स्वाध्याय के लिये प्रेरित करें तथा अपने पुस्तक संग्रह में वेद की मर्यादा के अनुसार इसे श्रेष्ठ स्थान प्रदान करें ।

आभार सहित,

प्रेमा त्रिवेदी

अध्यक्ष

श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान
ई/१४ इन्डस्ट्रियल स्टेट
ताल कटोरा रोड, लखनऊ

दिनाँक १९. ८. १९८९

ओ३म्

पूज्य पिता

स्व० पं० उमादत्त जी त्रिवेदी

एवं

स्नेहमयी पूज्या माँ

स्व० श्रीमती चम्पादेवी त्रिवेदी

की

पावन स्मृति

में

सादर समर्पित

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
॥ ऋग् । १ । ८९ । ०६ ॥ ॥ यजु. । २५ । १९ ॥
॥ साम उत्त. २१ । ९ । ३ क्र. सं. १८७५ ॥

(वृद्धश्रवाः) महान यश तथा प्रचुर अन्न एवं धन वाले (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (नः स्वस्ति) हमारे लिये कल्याणकारी हों, (स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः) सब कुछ जानने वाले, सर्वज्ञ तथा सबका पालन-पोषण करने वाले परमात्मा हमारा कल्याण करें, (अरिष्टनेमिः) कभी नष्ट न होने वाले दृढ़ वज्र को धारण करने वाले तथा (तार्क्ष्यः) भक्तों के प्रयोजनों को शीघ्र पूर्ण करने वाले प्रभु (नः स्वस्ति) हमारे योग क्षेम को वहन करें, धारण करें, (स्वस्ति नः बृहस्पतिः दधातु) सूर्य चन्द्र आदि महान देवों एवं महान शक्तियों के स्वामी देवाधिदेव परब्रह्म हमारे लिये सुख एवं कल्याण को धारण करें । श्रवः श्रवणीयं यशः अर्थात् श्रवण करने योग्य यश । वृद्धश्रवाः वृद्धं प्रभूतं श्रवः, श्रवणं, अन्नं, धनं कीर्तिर्वा यस्य सः । महान् अन्न धन तथा यश है जिसका । तार्क्ष्यः–तूर्णं अर्थं रक्षति इति तार्क्ष्यः, निरुक्त (१० । ३ । १७) अर्थ अथवा प्रयोजन को शीघ्र पूरा करने वाला ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
॥ ऋग् । १ । ८९ । ०८ ॥ ॥ यजु. । २५ । २१ ॥
॥ सामवेद । उत्त. २१ । ९ । २ ॥ क्रम सं. १८७४

हे यजनीय देवो ! हम अपने कानों से कल्याणकारी वचनों को सुनें, हम अपनी आँखों से कल्याणकारी दृश्यों को देखें तथा हृष्ट-पुष्ट अङ्गों से युक्त शरीरों से हम परमात्मा की स्तुति करते हुये देवों एवं विद्वानों के लिये हितकारी जो हमारी आयु है, उसे प्राप्त करें ।

ॐ



स्व० पं० उमादत्त जी त्रिवेदी

एवं

स्व० श्रीमती चम्पादेवी त्रिवेदी

नमन

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।

स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

॥ अथर्व १० । ८ । १ ॥

(यः भूतं च भव्यं च) जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान (यः सर्वं अधितिष्ठति) सबका अधिष्ठाता है, सबका स्वामी है, (यस्य च केवलं स्वः) और जिसका केवल प्रकाशमय तथा आनन्दमय ही स्वरूप है अर्थात् जो प्रकाश स्वरूप तथा सुख स्वरूप है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

यह उल्लेखनीय है कि भगवान् का वास्तविक स्वरूप आनन्दमय ही है इसीलिये भगवान् को सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) कहा जाता है।

उपर्युक्त तथ्य तैत्तिरीय उपनिषद् के वारुणी विद्या प्रकरण (भृगु-वल्ली) में अत्यन्त सुन्दर ढंग से समझाया गया है। महर्षि वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता से कहा कि मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये तब महर्षि वरुण ने उससे कहा कि जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, उसी को ब्रह्म जानो।

पिता के आदेशानुसार भृगु ने तप किया और पहले यह समझा कि अन्न ही ब्रह्म है क्योंकि अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्त में अन्न में ही मिल जाते हैं। जब पिता ने उसे और तप करने को कहा तब भृगु ने यह समझा कि प्राण ही ब्रह्म है किन्तु पिता ने फिर तप करने को कहा तब भृगु ने तप

करके समझा कि मन ही ब्रह्म है। पिता इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुये और उन्होंने फिर तप करने को कहा तब भृगु ने तप करके समझा कि विज्ञान ही ब्रह्म है क्योंकि विज्ञान से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, विज्ञान से ही जीवित रहते हैं और अन्त में विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं। किन्तु महर्षि वरुण ने पुनः उससे तप करने को कहा तब अन्त में तपः पूत, अर्थात् तप से पवित्र भृगु ने यह तत्व ज्ञान प्राप्त किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्द से समस्त प्राणी तथा भूत पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसी से जीवित रहते हैं और अन्त में इसी में विलीन हो जाते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में कहा गया है 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।' यदि आकाश की भाँति व्यापक, आनन्द स्वरूप परमात्मा न होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन श्वास ले सकता ? यह आनन्द स्वरूप परमात्मा ही सबको आनन्द देता है।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

॥ अथर्व १०। ७। ३२॥

(पृथिवी यस्य प्रमा) पृथिवी जिसकी पदस्थानीय है (अन्तरिक्षं उत उदरम्) और अन्तरिक्ष जिसके उदर के समान है, (यः दिवं मूर्धानं चक्रे) और जिसने द्युलोक को मूर्धा अथवा शिर के रूप में बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

यह आलंकारिक वर्णन है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है और यह समस्त विश्व मानों उसके शरीर

के समान है। भगवान् के इस विराट रूप में पृथिवी पदस्थानीय, अन्तरिक्ष उदरस्थानीय है तथा द्युलोक शिरस्थानीय है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।

अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

॥ अथर्व १०।७।३३॥

(सूर्यः पुनर्णवः चन्द्रमाः च) सूर्य तथा पुनः पुनः नवीन होने वाला चन्द्रमा (यस्य चक्षुः) जिसके नेत्र हैं (यः अग्निं आस्यं चक्रे) तथा जिसने अग्नि को अपना मुख बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

॥ अथर्व १०।७।३४॥

(वातः यस्य प्राणापानौ) वायु जिसका प्राण और अपान है (अङ्गिरसः चक्षुः अभवन्) सूर्य अथवा प्रकाश देने वाली किरणें जिसके चक्षु के समान हैं, (यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे) तथा जिसने दिशाओं को अपने प्रज्ञा साधन अर्थात् कानों के रूप में बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में अङ्गिरसका का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है—

(अङ्गानाम् रसः आङ्गिरसः) प्राण अङ्गों का रस है इसलिए इसे अङ्गिरस कहते हैं। आदित्य संसार का समष्टि प्राणरूप है जैसा कि प्रश्नोपनिषद् में कहा है। अतः समस्त प्रजाओं का प्राण होने के कारण सूर्य भी आङ्गिरस है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते तदेतदृचाभ्युक्तम्।

॥ प्रश्नो० । प्रथम प्रश्न । ७ ॥

(वैश्वानरः। विश्वान्नरान् नयति इति वैश्वानरः) निरुक्त अध्याय ७। पाठ ६। १। २१ (सः एषः) वह यह विश्व को ले जाने वाला अर्थात् गति, स्फूर्ति, चेतना तथा प्रेरणा देने वाला, (विश्वरूपः प्राणः) अनेक प्रकार से जीवन देने वाला प्राण, (अग्निः) सूर्य (उदयते) उदय होता है। वह इस ऋचा में भी कहा गया है।

सूर्य को विश्वरूपः प्राणः इसलिए कहा गया है क्योंकि वह विश्व को सैकड़ों प्रकार से प्राण अथवा जीवन देता है। उसी से वृष्टि होती है, उसी से वायु का सञ्चार होता है, उसी से अन्न औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और उसी के आधार पर समस्त जीवन चक्र चलता है। इसीलिए वेद में सूर्य को जगत का आत्मा कहा गया है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः

॥ प्रश्नोपनिषद् । प्रथम प्रश्न । ८ ॥

(विश्वरूपम् हरिणम्) समस्त रंगों की मनोहारी किरणों वाला (जातवेदसम्) समस्त उत्पन्न पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करके उनके सम्बन्ध में ज्ञान देने वाला, (परायणम्) सम्पूर्ण संसार का आश्रय (तपन्तम्) तपने वाला अर्थात् सबको ऊर्जा तथा ऊष्मा

देने वाला (एकं ज्योतिः) एकमात्र ज्योति स्वरूप (सहस्ररश्मिः) अनन्त रश्मियों वाला, (शतधा वर्तमानः प्रजानां प्राणः) प्रजाओं का सैकड़ों प्रकार का मूर्तरूप प्राण अर्थात् प्राणियों को सैकड़ों प्रकार से जीवन, चेतना, प्रेरणा एवं स्फूर्ति देने वाला (एषः सूर्यः) वह सूर्य (उदयति) उदय होता है।

अङ्गिरस शब्द का निर्वचन निरुक्त अध्याय ३। खण्ड ५। १७ में निम्न प्रकार किया गया है—अङ्गिरस अङ्गिराः। अङ्गारेषुः अङ्गिराः। अङ्गारों में उत्पन्न होने वाला ऋषि अर्थात् अग्नि प्रधान तपस्वी।

अङ्गारः अङ्कनाः—'अकि लक्षणे' धातु से आरन् प्रत्यय।

स्वामी दयानन्द जी ने इसका अर्थ किया है 'प्रकाशिकाः किरणाः' अर्थात् प्रकाश देने वाली किरणें।

उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर महाभारत में निम्नाङ्कित श्लोक आया है—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥

॥ महाभारत। शान्ति। ४७। ४४॥

अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक जिसका शिर है, आकाश जिसकी नाभि है, पृथिवी जिसकी चरण स्वरूप है, सूर्य जिसकी चक्षु है तथा दिशायें जिसकी श्रोत्र हैं, ऐसे विश्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है। तैत्ति॰ उपनिषद् में कहा है 'नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।'

द्युलोक आदि तीनों लोक तथा सूर्य, चन्द्र, दिशायें आदि सभी भगवान् के विराट स्वरूप के अवयव हैं, यह भाव पुरुष सूक्त के निम्नाङ्कित प्रसिद्ध मन्त्रों में भी आया है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत ।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

॥ यजु० । ३१ । १२ ॥

(चन्द्रमाः मनसः जातः) इस पूर्ण परब्रह्म के मन अथवा ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, (चक्षोः सूर्यः अजायत) चक्षु अथवा ज्योतिस्वरूप सामर्थ्य से सूर्य मण्डल उत्पन्न हुआ, (श्रोत्राद् वायुः च प्राणः च) श्रोत्र अथवा आकाश स्वरूप सामर्थ्य से वायु तथा प्राण और (मुखात् अग्निःअजायत) मुख अथवा मुख्य ज्योतिर्मय भक्षण स्वरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ ।

यह मन्त्र ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में निम्नाङ्कित पाठभेद के साथ आया है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥

। अथर्व । १९ । ६ । ७ । ऋग् । १० । ९० । १३ ।

परमात्मा के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, चक्षुओं से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र एवं अग्नि उत्पन्न हुये तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुआ ।

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षᳬं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ऽअकल्पयन् ।।

।। ऋग० । १० । ९० । १४ ।। यजु० । ३१ । १३

अथर्व । १९ । ६ । ८ ।।

इसी परमेश्वर की (नाभ्याः आसीत् अन्तरिक्षम्) नाभि अथवा अवकाश स्वरूप मध्यम सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अथवा लोकों के बीच का आकाश हुआ, (शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत) शिर अथवा शिर के तुल्य उत्तम सामर्थ्य से प्रकाश युक्त द्युलोक हुआ (पद्भ्याम् भूमिः) पैरों से अथवा पृथिवी के कारण स्वरूप सामर्थ्य से पृथिवी (दिशः तथा श्रोत्रात्)और कान अथवा अवकाश स्वरूप सामर्थ्य से दिशायें हुईं। (तथा लोकान् अकल्पयन्) इसी प्रकार ईश्वर के सामर्थ्य से अन्य लोकों की उत्पत्ति की कल्पना की गई है।

मन्त्र स्वयं कह रहा है कि यह काल्पनिक आलङ्कारिक वर्णन यह दिखाने के लिये किया गया है कि वास्तव में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस निराकार ज्येष्ठ ब्रह्म का ही रूप है और इसमें कार्य करने वाले शक्तिशाली देव, ब्रह्म के विराट रूप के विभिन्न अवयवों के समान हैं, उसी के जीवित जाग्रत, शाश्वत अविनाशी अंश हैं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशायें, वायु, सूर्य,चन्द्र आदि के रूप में यह ज्येष्ठ ब्रह्म हमें हर समय साक्षात् दिखाई पड़ता है, हम इससे क्षण भर भी अलग नहीं हो सकते। वास्तव में हम भी तो इसी के एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग हैं।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च ।

मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।।

।। यजु० । १६ । ४१ ।।

(शम्भवाय च मयोभवाय च नमः) कल्याण स्वरूप तथा सुख स्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है, (शङ्कराय च मयस्कराय चा नमः) कल्याण करने वाले तथा परमानन्द देने वाले जगदीश्वर को नमस्कार है, शिवाय चा शिवतराय चा नमः) सर्वमङ्गलमय सुखदाता तथा परम कल्याणकारी महेश्वर को नमस्कार है ।

शम् पूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातु से शङ्कर शब्द सिद्ध होता है । यः शम् कल्याणं, सुखम् करोति स शङ्करः, जो कल्याण करने वाला तथा सुख देने वाला है, वह शङ्कर है । स्कन्द पुराण में कहा है—

शं करोमि सदा ध्यानात् परमं यन्निरामयम् ।
भूतानामसकृद् यस्माद् तेनाहं शङ्करः स्मृतः ।।

सदा ध्यान करने से मैं प्राणियों का निरन्तर परम कल्याण करता हूँ तथा उन्हें नीरोग रखता हूँ । इसीलिए मुझे शंकर कहा जाता है ।

'शिवु कल्याणे' धातु से शिव शब्द सिद्ध होता है । जो कल्याण स्वरूप तथा कल्याण करने वाला है, वह शिव है । अथवा शिष् धातु से 'व' प्रत्यय करके शेव तथा शिव शब्द बनता है । शिष्यते सुखावहो भवतीति शिवः । सुखदाता होने से भगवान् शिव हैं ।

"मनुष्यान् शिवमन्विच्छन् तस्मादेव शिवः स्मृतः"

।। महाभारत । अनु० । १६१ । १० ।।

सदा मनुष्यों के कल्याण की इच्छा करने से भगवान् शिव कहे जाते हैं ।

प्राक्कथन

ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता का अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है। इसीलिए इसको (वेद+अन्त) वेदान्त की संज्ञा भी दी गई है।

यजुर्वेद की काण्व एवं माध्यन्दिन बाजसनेयि संहिताओं के अन्तिम अध्याय में कुछ पाठभेद है। इसके अतिरिक्त माध्यन्दिन बाजसनेयि संहिता के अन्तिम अध्याय में केवल १७ मन्त्र हैं, जबकि काण्व शाखा की संहिता के अन्तिम अध्याय में १८ मन्त्र हैं।

वस्तुत: शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की संहिता का चालीसवाँ अध्याय ही इस समय ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में ब्रह्म विषयक ज्ञान का उपदेश होने के कारण यह ब्रह्माध्याय, आत्माध्याय, आत्मसूत्र, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त, एवं आत्मज्ञान आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। वाजसनेयि संहिता के मन्त्र भी अन्त में दिये गये हैं।

प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ में 'ईशावास्यम्' पद होने के कारण ही इस उपनिषद् का नाम ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् पड़ा। सभी उपनिषदों में इसका प्रथम स्थान है और इसे उपनिषद् भवन की आधारशिला कहा जाता है, क्योंकि इसमें दी हुई शिक्षाओं तथा इसमें वर्णित तत्वज्ञान की गीता तथा अन्य उपनिषदों में विवेचना की गई है और उन्हें अधिक विस्तार से समझाया गया है, विशेषतया बृहदारण्यक उपनिषद् में। अस्तु इस उपनिषद् को भली प्रकार समझने के लिए हमें विभिन्न वेदमन्त्रों तथा गीता एवं उपनिषदों की सहायता लेनी चाहिए।

इस उपनिषद् की महत्ता का मुख्य कारण यह है कि यह यजुर्वेद

की मूल संहिता का ही भाग है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह उपनिषद् आत्मविद्या के सभी ग्रन्थों में शीर्ष स्थान पर है और इसके १८ मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्टता एवं सरलता से परमात्मा के स्वरूप तथा मनुष्य के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। जीवन की लौकिक सफलता तथा मोक्ष प्राप्ति एवं समाज के विकास तथा मनुष्य जाति के चरमोत्कर्ष के लिए अत्यन्त महत्पूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस उपनिषद् में किया गया है। जीवन का ऐसा कोई महत्वपूर्ण पक्ष शेष नहीं रह गया है जिसके सम्बन्ध में इसमें मार्ग निर्देश न दिया गया हो। साथ ही इसके मन्त्र अत्यन्त सरल हैं और इन्हें सुगमता से कण्ठस्थ किया जा सकता है। वास्तव में प्रत्येक मानव का यह परम कर्तव्य है कि वह इन मन्त्रों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके इन पर आचरण करे और अपने जीवन को सफल बनाये तथा समाज में सुख एवं शान्ति का वातावरण उत्पन्न करे।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वैदिक धर्म का सत्व और आत्मज्ञान का आदिस्रोत इन १८ मन्त्रों में सूत्र रूप में भर दिया गया है और आजकल के युग में जबकि लोगों के पास विस्तृत अध्ययन का समय नहीं है, इस छोटे से उपनिषद् से बढ़कर अन्य कोई धर्मग्रन्थ नहीं है। मनुष्य जीवन की सफलता के लिए मूलभूत सिद्धान्त, आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, परमात्मा का स्वरूप, जीवन का लक्ष्य, उसकी पूर्ति का उपाय, कर्म एवं ज्ञान का समुच्चय, भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का सामञ्जस्य सभी कुछ इस उपनिषद् में बीजरूप में विद्यमान है। इतने थोड़े मन्त्रों में मानव धर्म का मूल स्रोत भरा हुआ है, यह देखकर कितना आश्चर्य होता है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि हमारे वर्तमान विद्यार्थी शिक्षा प्रणाली के दोष से ज्ञान के ऐसे अनुपम भण्डार से वञ्चित रह जाते हैं।

यद्यपि यह कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी उपनिषदों रूपी गौओं से गीता रूपी महान अमृत को दुहा है,

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

वास्तव में गीता के कर्मयोग तथा अनासक्ति योग का मूल आधार यह ईशावास्योपनिषद् ही है ।

इस समय लगभग ११२ उपनिषदें उपलब्ध हैं किन्तु इनमें केवल निम्नांकित ११ उपनिषदें ही प्रमुख हैं और इन्हीं पर सभी बड़े बड़े विद्वानों एवं आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं ।

क्रम सं०	उपनिषद्	वेद जिसके अन्तर्गत है
१-	ईशोपनिषद्	शुक्ल यजुर्वेद
२-	कठोपनिषद्	कृष्ण यजुर्वेद
३-	केनोपनिषद्	सामवेद (यह उपनिषद् तलवकार ब्राह्मण का भाग है ।)
४-	प्रश्नोपनिषद्	अथर्ववेद
५-	मुण्डकोपनिषद्	अथर्ववेद
६-	माण्डूक्योपनिषद्	अथर्ववेद
७-	ऐतरेयोपनिषद्	ऋग्वेद
८-	तैत्तिरीयोपनिषद्	कृष्ण यजुर्वेद
९-	बृहदारण्यकोपनिषद्	शुक्ल यजुर्वेद (यह उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का भाग है ।)
१०-	छान्दोग्योपनिषद्	सामवेद
११-	श्वेताश्वतरोपनिषद्	कृष्ण यजुर्वेद

यहाँ यह कहना भी अत्यन्त आवश्यक है कि आजकल उपलब्ध कुछ तथाकथित उपनिषदें तो पूर्णरूपेण मिथ्या कथन करने वाली तथा जन साधारण में भ्रम उत्पन्न करने वाली, मूर्खों द्वारा रचित पुस्तकें

हैं। हमारे पतन की सीमा यहाँ तक पहुँची है कि अल्लाह के नाम से एक अल्लोपनिषद् भी लिख दिया गया, जो कि वस्तुतः उपनिषद् के नाम पर कलङ्क है।

मानव जीवन में ईशोपनिषद् का महत्व

यद्यपि संसार में मानव मात्र का मुख्य उद्देश्य सुख एवं सुख के साधनों को प्राप्त करना है, फिर भी यह देखा जाता है कि संसार में प्रत्येक पुरुष द्वारा सुख के साधनों की प्राप्ति के उपाय करने पर भी उसे प्रायः दुःख की ही प्राप्ति होती है, सुख की नहीं। इसका क्या कारण है ? इस पर गम्भीरता से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि इसका प्रमुख कारण अज्ञान एवं अनाचार है।

अज्ञान का नाश केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान दो प्रकार का है–एक सांसारिक ज्ञान अथवा प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान जिसे वर्तमान समय में विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरा आध्यात्मिक ज्ञान जिसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है। आधुनिक युग में भौतिक विज्ञान इतने उच्च शिखर पर पहुँच चुका है कि उसकी सहायता से आज हम चन्द्र-लोक की भी यात्रा कर सकते हैं और कुछ ही क्षणों में अत्यन्त घातक-शस्त्रों से सम्पूर्ण मानव जाति का विनाश कर सकते हैं।

परन्तु आज पाश्चात्य देशों में, जहाँ भौतिक ज्ञान चरम उत्कर्ष पर है, घोर मानसिक अशान्ति का वातावरण व्याप्त है, जिसके कारण वहाँ के निवासी भी धीरे-धीरे अध्यात्मज्ञान की ओर उन्मुख हो रहे हैं ताकि उन्हें वास्तविक सुख की प्राप्ति हो सके।

आज हमारे स्वार्थपरक अनैतिक आचरणों के फलस्वरूप विश्व में जो अशान्ति एवं तनाव का वातावरण व्याप्त है, उससे प्रत्येक व्यक्ति सन्तप्त एवं दुःखी दिखाई देता है। यदि इसे दूर करने का

कोई सच्चा उपाय है तो वह ईशोपनिषद् में वर्णित ज्ञान एवं शिक्षाओं पर आचरण करना ही है। इसी से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में तथा पूर्ण मानव समाज में सच्ची शान्ति की स्थापना हो सकती है। जो लोग सांसारिक वैभव से ऊपर उठकर अमृतत्व अथवा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, परमात्मा में लीन हो जाना चाहते हैं, उनके लिए भी सच्चा तथा सर्वश्रेष्ठ मार्ग इस उपनिषद् में स्पष्ट रूप से बताया गया है।

इस उपनिषद् में किसी सम्प्रदायवाद अथवा वर्ग-भेद की गन्ध तक नहीं है और ईश्वरीय ज्ञान होने से यह सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं वर्गों के सदस्यों के लिए समान रूप से पठनीय एवं अनुकरणीय है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमारे छात्र इसको पढ़ें, और इसका मनन करें तथा तदनुसार आचरण करें तो वे आगे चलकर सच्चे मानव बन सकेंगे, और संसार को सच्चा मार्ग दर्शन कर संसार में शान्ति स्थापित कर सकेंगे। शिक्षाविदों का यह कर्तव्य है कि वे ईशोपनिषद् की शिक्षाओं को पाठ्य पुस्तकों में उद्धृत कर विद्यार्थियों का ज्ञानवर्धन करें, जिससे वे न केवल अपना, प्रत्युत पूरे मानव-मात्र का कल्याण कर सकें।

जैसा कि पाठकों को विदित है, ईशोपनिषद् की अनेक टीकायें आजकल उपलब्ध हैं किन्तु बहुत सी टीकायें तो केवल नाम-मात्र की हैं, जिनसे जनसाधारण की समझ में उपनिषद् की गूढ़ शिक्षायें एवं मौलिक सिद्धान्त लेशमात्र भी नहीं आते। इसके अतिरिक्त यह भी कहना पड़ेगा कि बहुत सी टीकाओं में तो वस्तुतः अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है जिससे विद्यार्थियों एवं साधारण पाठकों में भ्रमोत्पादन ही होता है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी जैसे महान एवं पूजनीय विद्वानों ने भी जो व्याख्या की है, वह अपने पूर्व निश्चित मत के अनुसार ही मन्त्रों

का अर्थ करने के लिए की है ताकि उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस उपनिषद् द्वारा हो सके। यह बात लगभग उन सभी बड़े आचार्यों पर लागू होती है जिन्होंने नये सम्प्रदाय प्रारम्भ किये अथवा नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। उपनिषद् ही नहीं प्रत्युत हमारे अनेक धर्म ग्रन्थों की भी यह दुर्दशा तथा खींचातानी समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा की जाती रही है, जो वास्तव में अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण है।

ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि उपनिषद् के शब्दों से जो सीधा-सीधा तथा वास्तविक अर्थ निकलता हो उसे बिना किसी साम्प्रदायिक विचार अथवा पूर्वनिश्चित मत के प्रतिपादन के लिए तथा बिना तोड़े-मरोड़े जन साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जाय ताकि वह इसके श्रेष्ठ मार्गदर्शन से लाभान्वित हो सके।

वेदों की उत्पत्ति

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद इन चारों वेदों की उत्पत्ति परब्रह्म से हुई है। वेद अपौरुषेय हैं, वे किसी मनुष्य के बनाये हुये नहीं हैं। न उनमें किसी मनुष्य के विचार हैं और न उनमें कोई इतिहास है क्योंकि ये तो सृष्टि के आदिकाल में ही परब्रह्म द्वारा क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन चार महर्षियों के हृदय में प्रकाशित किये गये थे।

वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से बना है, जिसके कारण वेद का अर्थ है ज्ञान। वास्तव में वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है जो परमात्मा ने कृपा करके प्राणिमात्र के कल्याण के लिये हमें दिया है। एक अन्य विद् धातु सत्तार्थक है तथा एक तीसरी विद् धातु का अर्थ विचार है। इसके अतिरिक्त विद्लृ धातु भी है, जिसका अर्थ लाभ होता है। इन चारो धातुओं से करण तथा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है।

अत: जिसके श्रवण एवं अध्ययन से सत्यज्ञान प्राप्त होता है, जिससे समस्त सुखों का लाभ होता है, जिससे मनुष्यों में श्रेष्ठ विचार उत्पन्न होते हैं तथा जो दिव्य ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण नित्य है, उसे वेद कहते हैं।

श्रवणार्थक श्रु धातु में करण कारक में क्तिन् प्रत्यय करने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। सृष्टि के आरम्भ से अब तक वेदों का गुरु-शिष्य परम्परा से श्रवण, मनन तथा अध्ययन किया गया है तथा हमारे महर्षियों एवं विद्वान् तपोनिष्ठ त्यागी ब्राह्मणों ने इसे स्वयं श्रवण द्वारा प्राप्त करके अपने पुत्रों तथा शिष्यों को सुनाया तथा सिखाया है, अतएव इन्हें श्रुति कहा जाता है। भारत की यह अनोखी परम्परा जिसके कारण आज तक वेद अक्षुण्ण रह सके हैं, कितनी आश्चर्य-जनक है। इसके लिए ब्राह्मणों ने कितना त्याग, कितनी तपस्या की है, यह विचारणीय है। क्या हम अपने पूज्य पूर्वजों के इस ऋण से उऋण होने के लिये कुछ कर रहे हैं? क्या हम अपनी सन्तान को दिव्य वैदिक ज्ञान उपलब्ध करा रहे हैं अथवा उन्हें केवल विदेशियों का मानसिक दास ही बना रहे हैं, इन सब प्रश्नों पर हमें गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिये।

जिस प्रकार भगवान ने प्राणियों के जीवन के लिये वायु, जल, अग्नि तथा अन्न आदि की व्यवस्था की है, उसी प्रकार उसने अपनी सृष्टि के सर्वोत्तम प्राणी अर्थात् मनुष्य के लिए ज्ञान का प्रकाश किया है, ताकि वह संसार के रहस्यों को यथार्थ रूप में जानकर अपना जीवन सफल बना सके।

वेदों में जहाँ एक ओर जीवन से सम्बन्धित अत्यन्त सामान्य एवं सरल तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति, जीव एवं परमात्मा के गूढ़तम रहस्यों को भी प्रकाशित किया गया है। सम्पूर्ण ज्ञान होने के कारण उसमें छोटी से छोटी बातों से लेकर

कठिन से कठिन एवं गूढ़ से गूढ़ विषयों का समावेश किया गया है, जिन्हें नियमानुसार अध्ययन करके तथा योग से प्राप्त होने वाली सूक्ष्म बुद्धि से जाना जा सकता है।

वेद का प्रमुख विषय ब्रह्म उसी प्रकार है जिस प्रकार मनुष्य जीवन का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष है, किन्तु जिस प्रकार जीवन में मोक्ष से पूर्व धर्म, अर्थ एवं काम से सम्बन्धित कार्यों का समावेश होता है, उसी प्रकार वेदों में ब्रह्मज्ञान से पूर्व सब प्रकार के प्रकृति विज्ञान तथा अन्य समस्त विद्याओं जिन्हें अपरा विद्या अथवा अविद्या कहा जाता है, का भी समावेश है क्योंकि वेदों को मनुष्य का सर्वाङ्गीण अभ्युदय अभीष्ट है, एकाङ्गी नहीं। जिस प्रकार केवल मोक्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल विद्या अथवा मोक्ष दिलाने वाला ब्रह्मज्ञान ही मनुष्य के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण एवं सफल जीवन के लिये मोक्ष के पूर्व सांसारिक वैभव एवं ऐश्वर्य आवश्यक है उसी प्रकार उसके लिये विद्या के साथ-साथ अविद्या अर्थात् अन्य प्रकार की विद्याएं जैसे आधुनिक विज्ञान, गणित, टेक्नॉलाजी, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि भी आवश्यक हैं, ताकि वह सांसारिक जीवन में धन, सम्पत्ति, वैभव एवं सुख प्राप्त कर सके। इसी कारण वेद में परा एवं अपरा अथवा विद्या एवं अविद्या दोनों का समावेश है। यह कथन वेदमन्त्रों पर ही आधारित है, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

स्वयं परब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति होने का प्रमाण वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थो में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, केवल नास्तिक तथा विधर्मी ही इसमें शङ्का करते हैं।

पुरुष सूक्त के निम्नांकित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाᳪंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

॥ ऋग् । १० । ९० । ९ ॥ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥

॥ कृष्ण यजु० । ३५ । १० ॥ ॥ अथर्व । १९ । ६ ।१३ ॥

(तस्माद् सर्वहुतः यज्ञात्) सभी आहुतियाँ जिसके लिए दी जाती हैं, उस सर्वपूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ परब्रह्म से (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋग्वेद तथा सामवेद उत्पन्न हुये (तस्माद् छन्दांसि जज्ञिरे) उससे अथर्ववेद उत्पन्न हुआ, (तस्माद् यजुः अजायत) तथा उसी से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं,

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

॥ अथर्व १० । ७ । २० ॥

(यस्मात् ऋचः अपातक्षन्) जिससे ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, (यस्मात् यजुः अपाकषन्) जिससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ, (सामानि यस्य लोमानि) सामवेद के मन्त्र जिसके लोमों के सदृश हैं, (अथर्वाङ्गिरसः मुखम्) तथा अथर्ववेद जिसके मुख के समान है (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कहो वह देव कौन सा है ? उत्तर (तं स्कम्भम्)

स्विदेव सः) उस सर्वाधार के विषय में कहो कि वह देव कौन सा है ?

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ॥

॥ अथर्व ११ । ७ । २४ ॥

प्रलय के बाद एकमात्र शेष रहने तथा सर्वोपरि विद्यमान होने से भगवान को (उत्+शिष्ट=उच्छिष्ट कहते हैं। (उच्छिष्टात्) परब्रह्म से (यजुषा सह) यजुर्वेद के सहित (ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणम्) ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा पुराण (सर्वे देवाः दिविश्रितः दिवि) समस्त देव तथा द्युलोक में स्थित समस्त प्रकाशमान (एवं अप्रकाशमान) पदार्थ उत्पन्न हुये हैं।

पुराण

इस मन्त्र में पुराण शब्द से तात्पर्य उन अठारह पुराणों से नहीं है जिन्हें आज हम लोग पुराणों के नाम से जानते हैं। यहाँ पुराण का अर्थ वह सामान्य इतिहास अथवा पुरानी कथायें भी नहीं है, जिन्हें हम इस समय पुराण शब्द से समझते हैं, बल्कि इसका वास्तविक अर्थ भूमि एवं प्रकृति से सम्बन्धित वह विज्ञान है जिससे भूमि की मूल अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक के विकास का सम्यक् ज्ञान होता है। यह कथन वेद के निम्नांकित मन्त्र पर आधारित है—

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ।।

।। अथर्व ११ । ८ । ७ ।।

(या भूमिः इतः पूर्वा आसीत्) वर्तमान स्थिति से पूर्व भूमि की जो स्थिति थी, दशा थी, (याम् अद्धातयः इद् विदुः) जिसे सत्यान्वेषी विद्वान लोग ही जानते हैं, (ताम् यः वै नामथा विद्यात्) भूमि की उस पूर्वावस्था को जो निश्चित रूप से, विस्तार से भली-भाँति साङ्गोपाङ्ग जानता है, (सः पुराणवित् मन्येत) वह अपने को पुराणवित् माने ।

तात्पर्य यह है कि जो सृष्टि की आदि से अब तक की स्थिति की तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भूमि की संरचना, उसमें हुये परिवर्तनों एवं विकास को भली भाँति जानता है, वह वास्तविक पुराणवित् है ।

इस प्रकार पुराण का अर्थ, भूमि की संरचना, परिवर्तन एवं विकास से सम्बन्धित ज्ञान हुआ ।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी वेदों की उत्पत्ति ब्रह्म से दिखाई गई है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।

(शतपथ ब्राह्मण) ।। बृह० उ० २ । ४ । १० ।।

(अस्य महतः भूतस्य) इस महान् सत्ता का (एतत् निःश्वसितम्) यह निःश्वास है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद हैं ।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत् ।

॥ छान्दोग्य २ । २३ । २ ॥

(प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वर ने (लोकान् अभ्यतपत्) सम्पूर्ण लोकों को तपाया (तेभ्यः अभितप्तेभ्यः) उन तपाये हुये लोकों से (त्रयीविद्या संप्रास्रवत्) ऋग् यजु साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों से युक्त चारों वेद आविर्भूत हुये ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

॥ श्वेता० । उप० । ६ । १८ ॥

(यः वै पूर्वम् ब्रह्मा विदधाति) जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, (च यः वै तस्मै वेदान् प्रहिणोति) और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, (तं आत्मबुद्धिप्रकाशं देवम् शरणम्) उस आत्मज्ञान विषयक बुद्धि को प्रकट करने वाले प्रसिद्ध देव परमेश्वर की शरण में (अहं मुमुक्षु प्रपद्ये) मोक्ष की इच्छा रखने वाला मैं प्राप्त होता हूँ ।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥

॥ मुण्डक । २ । १ । ६ ॥

(तस्मात् ऋचः साम यजूंषि) उस परमेश्वर से ऋचा, साम और यजु तीनों प्रकार के मन्त्र, जो चारों वेदों में हैं, (दीक्षाः च सर्वे

यज्ञाः) संस्कार और समस्त यज्ञ (क्रतवः दक्षिणाः च) बृहद् यज्ञ दान और (संवत्सरः यजमानः च लोकाः) काल के अंग, यज्ञकर्ता तथा वे समस्त लोक उत्पन्न होते हैं, (यत्र सोमः पवते) जहाँ चन्द्रमा प्रकाशित होता है एवं पवित्र करता है, (यत्र सूर्यः) तथा जहाँ सूर्य पवित्र करता है, प्रकाशित होता है तथा तपता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

।। मुण्डक । ३ । १ । ३ ।।

(यदा पश्यः रुक्मवर्णम् कर्तारम्) जब दृष्टा उस प्रकाशमान, जगत् के कर्ता (ईशम् ब्रह्मयोनिम् पुरुषं पश्यते) तथा सब पर शासन करने वाले, वेदों के कारण अथवा वेदों को प्रकट करने वाले परम पुरुष को देखता है, (तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय) तब ज्ञानी भक्त (पुण्य और पाप दोनों को छोड़कर (निरञ्जनः परमम् साम्यम् उपैति) निर्लेप एवं निर्मल होकर परम समत्व भाव को प्राप्त होता है।

स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ।

।। शतपथ । का० ११ । प्रकरण ४ । ब्राह्मण १ । काण्डिका ३ ।।

(सः इमानि त्रीणि ज्योतींषि अभितताप) उस प्रजापति ने अग्नि वायु और सूर्य इन तीनों ज्योतियों को तपाया (तेभ्यः तप्तेभ्यः) उन तपायी गई ज्योतियों से (त्रयो वेदाः अजायन्त) तीन वेद अर्थात् त्रयी विद्या उत्पन्न हुई, (अग्नेः ऋग्वेदः) अग्नि से ऋग्वेद (वायोः यजुर्वेदः) वायु से यजुर्वेद (सूर्यात् सामवेदः) तथा सूर्य से सामवेद।

इसी भाव को मनुस्मृति में निम्न प्रकार कहा गया है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः साम लक्षणम् ॥

॥ मनु. १ । २३ ॥

सनातन ब्रह्म ने यज्ञ की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु तथा आदित्य से ऋग्. यजु तथा साम लक्षणों से युक्त त्रयी विद्या अर्थात् चारों वेदों को दुहा ।

महर्षि वेद व्यास ने ब्रह्म के विषय में बताते हुये लिखा है

शास्त्र योनित्वात् ब्रह्म सूत्र १ । १ । ३ ॥

वेदों की उत्पत्ति का कारण होने से। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म से ही वेदों की उत्पत्ति हुई है। इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि ऋग्वेदादि शास्त्र अनेक विद्याओं से सम्पन्न हैं, तथा दीपक की भाँति सभी अर्थों एवं विद्याओं को प्रकाशित करने वाले हैं। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न शास्त्रों अर्थात् वेदों की रचना कर सके, यह सम्भव नहीं है।

त्रयी विद्या

वेदों को त्रयी विद्या कहे जाने से कुछ लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वास्तव में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद ये ही तीन मूल वेद हैं और अथर्ववेद बाद का है किन्तु यह विचार पूर्णरूप से निराधार है। ऋग्वेद के जिस मन्त्र "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत" का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उसी में चारों वेदों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उसमें अथर्व वेद को छन्दांसि कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद के मन्त्र "ऋचः सामानि छन्दांसि" में भी अथर्ववेद को छन्दांसि ही कहा गया है। अतः इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है।

वास्तव में केवल विनियोग की दृष्टि से ही चारों वेदों में आये हुये मन्त्रों को ऋग्, यजुः तथा साम तीन प्रकार से कहा जाता है।

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ।।

(ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी । षड्गुरुशिष्यः)

विनियोग की दृष्टि से चारों वेदों में आये हुये मन्त्रों में से प्रत्येक को ऋग् यजुः अथवा साम इन तीनों में से किसी एक प्रकार का कहा जाता है। वास्तव में मन्त्रों की रचना तथा विनियोग की दृष्टि से मन्त्रों की ऋग् यजु तथा साम, ये तीन संज्ञायें की गयी हैं।

चारों वेदों के नाम के साथ साथ त्रयीविद्या का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है।

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ।।

(महाभारत शान्तिपर्व)

ऋग्, यजुः साम तथा अथर्व नामक चार वेदों में प्रतिपादित त्रयीविद्या को भली प्रकार से देखें अर्थात् उसका सम्यक् रूप से अध्ययन करें।

अथर्ववेद के महत्व तथा उसमें प्रतिपादित ब्रह्मविद्या के कारण इसके अनेक नाम हैं। जहाँ एक ओर केवल छन्दांसि लिखकर अथर्व वेद का उल्लेख किया गया है, वहीं दूसरी ओर इसको अथर्वाङ्गिरसः तथा ब्रह्मवेद भी कहा गया है।

अथर्ववेद के मन्त्र 'यस्मादृचो अपातक्षन्' जो ऊपर दिया जा चुका है, में तथा शतपक्ष ब्राह्मण में अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरसः कहा

गया है जबकि गोपथ ब्राह्मण में इसे ब्रह्मवेद कहा गया है।

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति

॥ गोपथ. पूर्व । २ । १६ ॥

उपनिषदों तथा शाखा ग्रन्थों में भी चार वेदों का उल्लेख किया गया है—

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ।

॥ छान्दोग्य उप० । ७ । १ । २ ॥

(स ह उवाच) वे प्रसिद्ध नारद बोले, (भगवः) हे भगवन् ! (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद, (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद, (सामवेदम्) सामवेद (चतुर्थं आथर्वणम्) और चौथे अथर्ववेद का (अध्येमि) स्वाध्याय करता हूँ।

ऋग् यजु तथा साम शब्दों के अर्थ निम्न प्रकार हैं—

निरुक्त (१।७) में कहा है ऋग् अर्चनी अर्थात् पदार्थों के गुणों को बताने वाली। ऋक् तथा ऋचा शब्द, 'ऋच् स्तुतौ' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होते हैं। ऋग्भिः शसन्ति। ऋचाओं से पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं।

महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि जिन मन्त्रों में अर्थ के उद्देश्य से पादव्यवस्था की जाती है, उन्हें ऋचा कहा जाता है।

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।

॥ मीमांसा । २ । १ । १५ ॥

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तमाहुः
सर्वा गतिः याजुषी हैव शिश्वत् ।

समस्त मूर्त पदार्थ ऋग्वेद से प्रसिद्ध होते हैं अर्थात् समस्त मूर्त पदार्थों का ज्ञान ऋग्वेद से होता है तथा सारी गतियाँ अर्थात् सारे कर्म यजुर्वेद से अथवा यजुः संज्ञक मन्त्रों से सिद्ध होते हैं।

यजुष् शब्द यज् धातु जिसका अर्थ देव पूजा, संगतिकरण तथा दान होता है, से उसि प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। यजुर्वेद यज्ञ विद्या का प्रकाशक है। 'यजुभिः यजन्ति' यजुः मन्त्रों से पूजा अथवा यज्ञ करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे यजः और यन्+जू. भी कहा गया है। वस्तुतः यह देवपूजा और कला कौशल आदि का संगतिकरण तथा दान से सम्बन्धित होने से यज्ञः है। यह यन्+जूः अर्थात् ज्ञान, गमन, प्राप्ति और मोक्ष का समन्वय करते हुये प्रयत्न अथवा क्रिया के कौशल को प्रयतित करने वाला है। अतः यह (यन्+जूः) यजुः है।

सामन् शब्द के तीन अर्थ हैं—

१-(सम्+मा) यह ऋचा के साथ समान परिमाण वाला है। 'छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है'या ऋक् तत् साम'जो ऋचा है वही साम है। सामवेद में थोड़े से मन्त्रों को छोड़कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। ऋचायें ही उपासना भेद से साम कहलाती हैं। वस्तुतः ऋग्वेद के जिन मन्त्रों का गान किया जाता है वे साम कहलाते हैं।

२-'षो' अन्तकर्मणि धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर साम शब्द सिद्ध होता है। ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों में उपासना अन्तिम है, तथा साम उपासना से सम्बन्धित है। सामभिः स्तुवन्ति साम से स्तुति अथवा उपासना करते हैं। तात्पर्य यह है कि सामवेद प्रमुख रूप से उपासना से सम्बन्धित है।

३-नैदान आचार्यों द्वारा साम की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है-

(सम+मन्) देवजनों ने इसे ऋचा के समान माना है। अतः इसका नाम साम हैं।

साम=(सा+अम)

१- 'सा' द्युलोक है तथा 'अम' पृथिवी लोक है, दोनों का समन्वय (सा+अम) साम है।

२-'सा' ऋक् है तथा 'अमः' सामगान है, दोनों का समन्वय (सा+अम) साम अर्थात् उपासना है।

३-'सा' सर्व शक्तिमान् परमेश्वर है 'अमः' जीव है, दोनों का जिसमें सम्मिलन हो वह (सा+अम) साम है।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक १,१६, प्रवाक १ से ६ में कहा है कि है कि १-यह पृथिवी ही ऋग् है, अग्नि साम है। यह अग्निरूप, साम पृथिवी रूप ऋग् में अध्यूढ (अन्तर्गत) है इसीलिए ऋक् सहित साम गाया जाता है। 'इयमेव 'साग्निरमस्तत्साम'। यह पृथिवी सा है, 'अमः' अग्नि है; दोनों मिलकर (सा+अम्) साम हैं।

२-अन्तरिक्ष ही ऋग् है, वायु साम है। यह वायु रूपी साम अन्तरिक्ष रूपी ऋग् में अध्यूढ है। इसीलिए ऋक् सहित साम गाया जाता है। 'अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम' अन्तरिक्ष ही सा है, वायु अमः है, दोनों का युगल (सा+अम्) साम है।

३-द्युलोक ही ऋग् है, आदित्य साम है। यह आदित्य स्वरूप साम द्यु स्वरूप ऋग् में अध्यूढ है। इसीलिए ऋग् सहित साम गाया जाता है। "द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम।" द्युलोक ही सा है, आदित्य अमः है, दोनों का समन्वय (सा+अम्)=साम है।

४-नक्षत्र ही ऋग् है, चन्द्रमा साम है। चन्द्रमा समान साम नक्षत्र समान ऋग्वेद में अधिगत है। अतः ऋक् सम्मिलित साम का गान होता है "नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम।" नक्षत्र 'सा' है

चन्द्रमा 'अमः' है दोनों का युगल (सा+अम्)=साम है।

५-आदित्य की शुक्ल दीप्ति ऋग् है और जो इसकी अतिशय कृष्ण दीप्ति है वह साम है। यह अतिशय कृष्ण दीप्ति रूपी साम शुक्ल दीप्ति रूपी ऋग् के अन्तर्गत है। अतः ऋग् सम्मिलित साम गाया जाता है। "अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम" आदित्य की यह शुक्ल दीप्ति ही सा है और अतिशय कृष्ण दीप्ति अमः है; दोनों का युगल (सा+अम्) साम है।

अथर्ववेद प्रमुख रूप से ब्रह्मज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। अथर्वन् की व्याख्या करते हुये गोपथ-ब्राह्मण में कहा गया है (अथ+अर्वाङ्) अर्थात् उसे यहीं अपने अन्दर ढूंढ, वह ब्रह्म कहीं दूर नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि चारों वेदों के वे मन्त्र जिनसे संसार के पदार्थों अथवा क्रियाओं आदि का बोध होता है, ऋक् कहलाते हैं; जिन मन्त्रों से यज्ञ तथा पूजन आदि किया जाता है, यजुः कहलाते हैं तथा जिनका उपासना के लिये गान किया जाता है, साम कहलाते हैं। अतएव ऋक् यजुः साम कहने का तात्पर्य तीन वेदों के नामों से नहीं है प्रत्युत चारो वेदों में आये हुये इन तीन प्रकार के मन्त्रों से है, जिन्हें सामूहिक रूप से त्रयीविद्या कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि जिन लोगों ने वेदों, उपनिषदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों का विधिवत अध्ययन नहीं किया है किन्तु फिर भी जो वेदों के सम्बन्ध में अपने ज्ञान (वास्तव में अज्ञान) को प्रदर्शित करना चाहते हैं, वे लोग पाश्चात्य विद्वानों द्वारा या तो भ्रमवश और या जान बूझकर वेदों की गरिमा को गिराने के उद्देश्य से लिखी गई असत्य एवं अनर्गल बातों के आधार पर इस प्रकार की निर्मूल शंकायें उठाते रहते हैं।

वेदार्थ

वेदों का वास्तविक अर्थ समझना साधारण मनुष्यों के सामर्थ्य की बात नहीं है। केवल योगी, ब्रह्मचारी, सदाचारी, सूक्ष्मदर्शी मेधावी विद्वान् ही मन्त्रों का वास्तविक अर्थ समझ सकते हैं।

महर्षि वेदव्यास ने लिखा है—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥

साक्षात् स्वयम्भू नारायण ही वेदों के रूप में प्रकट हुये हैं, ऐसा हमने सुना है। वेदों के ईश्वरात्म होने से अर्थात् उनके ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण बड़े बड़े विद्वान् भी उनका वास्तविक अर्थ समझने में मोहित हो जाते हैं, भ्रमित हो जाते हैं। किन्तु फिर भी कुछ मूर्ख एवं मदान्ध व्यक्ति अनर्गल अर्थ प्रकाशित करने में नहीं हिचकिचाते। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे नास्तिक, वेदनिन्दक अथवा विधर्मियों द्वारा पोषित हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य वेदों का अपमान करना है। ये लोग भी वेदों के विषय में अनेक अनर्गल तथा असत्य बातें प्रचारित एवं प्रसारित करते रहते हैं और वेदों के गलत अर्थ प्रकाशित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। यह दुःख एवं चिन्ता का विषय है कि हमारे विद्वान् एवं नवयुवक ऐसे लोगों का प्रतिकार करने के लिए कोई प्रभावी कार्यवाही नहीं करते।

निरुक्त के व्याख्याकार श्री दुर्गाचार्य ने लिखा है कि मन्त्रों के अर्थों की सीमा नहीं है। ये महार्थ अथवा अनेक अर्थों से युक्त हैं और इनके अर्थ कठिनता से आते हैं। जैसे घोड़े पर चढ़ने वाले की विशेषता के अनुसार घोड़े तीव्र तथा तीव्रतर गति से चलते हैं, वैसे ही अर्थ करने वालों की प्रज्ञाशक्ति के अनुसार मन्त्र साधु एवं साधुतर अर्थ को प्रकट करते हैं।

मन्त्रों के अर्थ प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते हैं, आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक। इसके अतिरिक्त मन्त्रों के याज्ञिक अर्थों का भी विशेष महत्व होता है। इस प्रकार—

१-यज्ञ से सम्बन्धित अथवा यज्ञ परक अर्थ याज्ञिक कहे जाते हैं।

२-संसार के भौतिक पदार्थों, पशु, पक्षियों एवं मानव समाज तथा राष्ट्र आदि से सम्बन्धित अर्थ आधिभौतिक कहे जाते हैं।

३-वेद में उल्लिखित तेंतीस देवताओं जैसे आदित्य, अग्नि, वायु, इन्द्र (विद्युत) प्रजापति, रुद्र आदि से सम्बन्धित अर्थ आधिदैविक कहे जाते हैं।

४-शरीर, जीवात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित अर्थ आध्यात्मिक कहे जाते हैं।

श्री दुर्गाचार्य ने लिखा है, "तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः" निरुक्तटीका २/८ अतएव मन्त्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा अधियज्ञ के आश्रित जितने अर्थ उपपन्न हो सकते हैं उन सभी की योजना की जानी चाहिये। इन भिन्न भिन्न प्रकार के अर्थों में शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। 'उदाहरणार्थ इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस प्रसिद्ध मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में विष्णु का अर्थ व्यापक परमात्मा है, आधिदैविक अर्थ में सूर्य तथा अधियज्ञ में चषाल अथवा यज्ञ के यूप के ऊपर का ढक्कन होता है। इसके अतिरिक्त विष्णु का अर्थ यज्ञ भी होता है। विष्णुर्वै यज्ञः।

तर्कऋषि

निरुक्त में कहा है कि पूर्वकाल में ऋषि लोगों के न रहने पर मनुष्यों ने देवताओं से कहा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा, हमें

पदार्थ का ज्ञान कौन करायेगा ? तब देवों ने मनुष्यों को तर्क ऋषि प्रदान किया। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का सही अर्थ जानने के लिए प्रगाढ़ चिन्तन करना चाहिये और वेद के प्रमाणों तथा विवेकपूर्ण तर्क का प्रयोग करना चाहिये (कुतर्क का नहीं) क्योंकि तर्क से ही यह निश्चित हो सकता है कि सही एवं कल्याणकारी अर्थ क्या है। मन्त्र के अर्थ का निर्वचन प्रकरण, प्रामाणिकता तथा वेदाङ्गों एवं शास्त्रों के ज्ञान के आधार पर तर्क की सहायता से किया जाना चाहिये, मनमाने तरीके से नहीं। ऐसा करने के लिये केवल सदाचारी, सत्यवादी तथा तपस्वी विद्वान् ही सक्षम है; कुसंस्कार वाले दुराचारी तथाकथित विद्वान् नहीं। मनुस्मृति में कहा है—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

॥ मनु. । १२ । १०५ ॥

धर्म के वास्तविक सिद्धान्त को जानने के इच्छुक मनुष्य को चाहिये कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा विविध प्रकार के शास्त्रों में कहे गये शब्द आदि तीनों प्रमाणों को भली भाँति जाने।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

॥ मनु. । १२ । १०६ ॥

ऋषियों के वाक्यों तथा अन्य धार्मिक उपदेशों को, वेदों का विरोध न करने वाले तर्कों से अनुसन्धान करने वाला विद्वान ही धर्म के वास्तविक तत्व को समझता है, दूसरा नहीं।

इस सम्बन्ध में आचार्य यास्क ने निम्नांकित मन्त्र का उल्लेख किया है—

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।

अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ।।

।। ऋग् । १० । ७१ । ०८ ।।

(यत् सखायः ब्राह्मणः) जब वेदोक्त कर्मों के ऐसे (सखायः) वेदज्ञ विद्वान् जिनके ज्ञान, वचन एवं कर्म में एक रूपता है, (हृदा तष्टेषु मनसः जवेषु) हृदय से तथा सूक्ष्म बुद्धि के साथ मन की दौड़ों में अर्थात् हृदय मन तथा सूक्ष्म बुद्धि से गम्य वेदार्थ चिन्तन के लिए (संयजन्ते) एकत्रित होते हैं (अह अत्र त्वं वेद्याभिः वि जहुः) तब निश्चय से वे विद्वान् वेदार्थ चिन्तन की प्रक्रिया से अज्ञ एवं असमर्थ (वि वेद्याभिः, वि वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः) अर्थात् वेदार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक प्रवृत्तियों से विहीन पुरुष को (जहुः) छोड़ देते हैं। (उ त्वे ओह ब्रह्माणः वि चरन्ति) तथा (ओहब्रह्माणः ऊहब्रह्माणः ऊहः येषां ब्रह्मेति) तर्क ही जिनके वेदार्थ ज्ञान का महान् साधन है, ऐसे विद्वान् (यां यां देवतां निराह) मन्त्रों में जिस जिस देवता का अथवा विषय का उल्लेख किया गया है, तस्याः तस्याः ताद्भाव्यम् अनुभवन्ति उस उस देवता के भाव अथवा गूढ़ तत्व का अनुभव करते हैं अथवा वह विद्वान् तर्क द्वारा जिस जिस देवता का अर्थ मन्त्र में देखते है, उस उस देवता के ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं।

इस मन्त्र का अर्थ बताते हुये यास्काचार्य जी ने लिखा है 'सेयं विद्या श्रुतिमति बुद्धिः' अर्थात् यह तर्क विद्या श्रुति से, मनन से और बुद्धि से प्राप्त करने योग्य है। तप के द्वारा इस तर्क विद्या का पार पाने की इच्छा करनी चाहिए अर्थात् तप के द्वारा ही यह विद्या भली प्रकार प्राप्त की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि केवल सदाचारी

एवं तपस्वी लोग ही वैदिक ज्ञान, मनन एवं बुद्धि के द्वारा ठीक ठीक तर्क करके मन्त्रों का सही अर्थ समझ सकते हैं। तप के बिना कठिन परिश्रम के बिना केवल श्रुतिमति बुद्धि भी अभीष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकती।

वेदों का महत्व

वेद भारतीय संस्कृति एवं समस्त शास्त्रों के आधार हैं।

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रन्तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

महर्षि याज्ञवल्क्य

वेद शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र नहीं है। सारे शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाकृतम्॥

महा.। अनु.। १२२। ४॥

समस्त आगम शास्त्र एवं स्मृतियाँ आदि वेदों को ही आधार एवं प्रमाण मानकर बनाई गई हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥

॥ मनु.। १२। ९७॥

चारों वर्ण, तीनों लोक, पृथक् पृथक् चारों आश्रम तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य के जो भी श्रेष्ठकर्म हैं वे सभी वेद से प्रसिद्ध हैं अर्थात् वेद पर ही आधारित हैं।

वेद धर्म के मूल हैं।

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥

॥ मनु. । १२ । ११२ ॥

धर्म से सम्बन्धित संशय के निर्णय के लिये ऋग्वेद के ज्ञाता यजुर्वेद के ज्ञाता तथा सामवेद के ज्ञाता, अर्थात् ऋक्, यजु, साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों से युक्त चारों वेदों के विद्वानों की परिषद को ही प्रमाण मानना चाहिये।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परोधर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

मनु. १२ । ११३

वेद का ज्ञाता एक भी श्रेष्ठ सदाचारी द्विज जिस धर्म की व्यवस्था दे, उसी को परम धर्म मानना चाहिये, लाखों अज्ञानियों के कथन को नहीं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

मनु. । २ । ६

सम्पूर्ण वेद धर्म के मूल हैं। स्मृति में निर्धारित नियम, वेद तथा स्मृति के विद्वानों एवं साधुजनों का आचरण और अपनी आत्मा को सन्तुष्टि देने वाले श्रेष्ठ कार्य धर्म का मार्ग निश्चित करने वाले हैं।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥

मनु. २ । ८

विद्वान को समस्त वेद शास्त्र को ज्ञान चक्षु से देखना चाहिये और श्रुति के प्रमाण के अनुसार निर्धारित धर्म का आचरण करना चाहिये ।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुष्ठिन्हि मानवः ।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।।

मनु. २ । ९

वेद तथा स्मृति में वर्णित धर्म के अनुसार आचरण करते हुये मनुष्य इस लोक में यश प्राप्त करता है और मृत्यु के उपरान्त उत्तम सुख का भोग करता है ।

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।

मनु. १२ । १०६

जो पुरुष आर्ष ग्रन्थों में दिये गये धर्मोपदेशों का ऐसे तर्कों से अनुसन्धान करता है, जो वेदशास्त्र के विरुद्ध नहीं है, वही वास्तव में धर्मज्ञ है, अन्य कोई नहीं ।

इस प्रकार इस लोक में हमारे धर्म के सर्वश्रेष्ठ दिग्दर्शक मनु जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी ग्रन्थ में कही गई वेद-विरुद्ध बात को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये और प्रत्येक कथन अथवा उपदेश को तर्क की कसौटी पर कसा जाना चाहिये ।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।।

मनु. २ । १३

अर्थ और काम में जो व्यक्ति आसक्त नहीं हैं उन्हीं के लिये धर्म के विशेष ज्ञान का विधान किया गया है । धर्म के विशेष ज्ञान की

इच्छा रखने वाले ऐसे पुरुषों के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं।

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

मनु. १२। ९९

सनातन वेद शास्त्र समस्त भूतों को धारण करता है, यह सबका हितकारी है, अतएव इसे समस्त जीवों के लिये, समस्त प्राणियों के लिये कल्याण का परम साधन मानता हूँ।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वं लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

मनु. १२। १००॥

वेद शास्त्र का ज्ञाता राज्य शासन, सेनापतित्व तथा दण्ड नेतृत्व एवं समस्त लोकों का आधिपत्य भली प्रकार से कर सकता है। वेदों के विद्वान् में इतनी क्षमता, इतनी योग्यता होती है।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

मनु. । २। ७॥

जो कोई भी धर्म किसी के लिए मनु ने बतलाया है वह सब वेद पर आधारित है क्योंकि वेद सर्व ज्ञानमय है। इससे स्पष्ट है कि इस समय उपलब्ध मनुस्मृति में जो बातें वेद विरुद्ध हैं, वह सब प्रक्षिप्त हैं और उन्हें मनुस्मृति से निकाल दिया जाना चाहिये।

वेद के अनुसार आचरण करने से तथा वैदिक ज्ञान प्राप्त करने से पापों का नाश होता है।

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ।।

मनु. । ११ । २४६ ।।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि एधः अर्थात् काष्ठ को शीघ्र ही भस्मसात् कर देती है उसी प्रकार वेदों का ज्ञाता ज्ञानरूपी अग्नि से समस्त पापों को जला देता है ।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ।।

मनु. १२ । १०१ ।।

जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि हरे वृक्षों को भी जला देती है उसी प्रकार वेदज्ञाता अपने कर्मों से जनित दोषों को भस्म कर देता है ।

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्ठं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ।।

मनु. ११ । २६३ ।।

जिस प्रकार बड़े जलाशय में फेंका गया ढेला शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सारे पाप वेदों के अध्ययन से नष्ट हो जाते हैं ।

मोक्षप्राप्ति

वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

मनु. १२ । १०२ ।।

वेद शास्त्र के तत्त्व को जानने वाला, चाहे किसी आश्रम का पालन करने वाला हो, वह इसी लोक में स्थित रहते हुये ब्रह्म को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है ।

वेद मानव जाति के चक्षु हैं तथा स्वतः प्रमाण हैं।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमितिस्थितिः॥

॥ मनु. । १२ । ९४ ॥

देव, पितर तथा मनुष्यों के लिये वेद सनातन चक्षु हैं, मार्गदर्शक हैं तथा वे संशय, तर्क एवं प्रमाण की आवश्यकता से परे हैं क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण हैं, इनकी इयत्ता असीम है। यह वेद की मर्यादा हैं।

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥

॥ मनु. । ६ । ८४ ॥

वेद अज्ञानी तथा ज्ञानी दोनों की शरण हैं। ये स्वर्ग की इच्छा करने वालों के भी आश्रय हैं तथा मोक्ष की इच्छा करने वालों के भी। तात्पर्य यह है कि वेद से अज्ञानी ज्ञानी हो जाता है तथा ज्ञानी और अधिक उन्नति करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

॥ विदुर. । २ । ३४ ॥

गौवें गन्ध से देखती हैं अर्थात् पशु अपने भोजन का ज्ञान गन्ध से करते हैं, ब्राह्मण वेदों के द्वारा देखते हैं अर्थात् उन्हें वेदों से ज्ञान प्राप्त होता है, अतः ब्राह्मणों का चक्षु वेद ही है, राजा गुप्तचरों के द्वारा देखते हैं क्योंकि उनको महत्वपूर्ण सूचनायें गुप्तचरों के द्वारा ही मिलती हैं, जबकि अन्य लोग आँखों से देखते हैं अर्थात् सामान्य लोगों की ज्ञान प्राप्ति का साधन उनकी आँखें ही होती हैं।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ।।

।। मनु. । १२ । १०९ ।।

जिनके द्वारा धर्मानुसार वेदाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन किया गया है, उन्हीं को श्रेष्ठ ब्राह्मण जानना चाहिये। इसमें वेद का अध्ययन ही प्रत्यक्ष कारण है।

पर्जन्यनाथा पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ।।

।। विदुर. २ । ३८ ।।

पशुओं के रक्षक मेघ होते हैं क्योंकि बादलों से वृष्टि पर ही पशुओं का पोषण आधारित है, राजाओं के सहायक मंत्री होते हैं, स्त्रियों के रक्षक एवं सहायक उनके पति होते हैं तथा वेद के बन्धु ब्राह्मण होते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे वेदों का प्रचार प्रसार करें, उनके सम्मान की रक्षा करें और वैदिक ज्ञान के अनुसार अपना आचरण करें। वास्तव में, "ब्राह्मणा वेद बान्धवाः" यह वाक्य प्रत्येक ब्राह्मण के लिए आदर्श वाक्य अथवा महावाक्य होना चाहिये।

वेदाध्ययन का महत्व

यो ऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।

।। मनु. २ । १६८ ।।

जो ब्राह्मण वेद पढ़ना छोड़कर अन्य पुस्तकों के अध्ययन में परिश्रम करता है वह इसी जीवन में अपने कुल सहित शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

॥ मनु० । ४ । १४७ ॥

आलस्य का परित्याग करके समयानुसार नित्य वेद का ही अध्ययन करना चाहिये । ब्राह्मण के लिए यही परम धर्म है, अन्य सब उपधर्म हैं ।

वेदाध्ययन की अनिवार्यता

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

॥ मनु० । २ । १६६ ।

श्रेष्ठ ब्राह्मण तप करते हुये सदा वेद का ही अभ्यास करें क्योंकि ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन में श्रम करना ही परम तप कहा गया है ।

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
य स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥

॥ मनु. । २ । १६७ ॥

वह द्विज नख से शिखा पर्यन्त परम तप करने वाला कहा जाता है जो माला धारण करके अर्थात् जो खूब सज संवर कर भी यथाशक्ति प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करता है । आशय यह है कि यद्यपि तपस्वी के लिए माला धारण करना आदि श्रृङ्गारिक कार्य वर्जित हैं किन्तु फिर भी यदि कोई द्विज माला आदि धारण करके भी प्रतिदिन नियमित रूप से यथाशक्ति वेद का स्वाध्याय करता है तो उसका यह स्वाध्याय परम तप माना जाता है ।

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्चैव विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥

॥ मनु० । २ । १६५ ॥

द्विज को विधिपूर्वक निर्दिष्ट भिन्न भिन्न तप और व्रत करते हुये सम्पूर्ण वेद का उसके गूढ़ अर्थ एवं ज्ञान के सहित अध्ययन करना चाहिये।

> यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
> तस्य नित्यं क्षरत्येष पयोदधिघृतं मधु ।।
>
> ।। मनु० । २ । १०७ ।।

जो व्यक्ति पवित्रता से एक वर्ष तक नियमपूर्वक वेदों का स्वाध्याय करता है, उसके लिए वेद कामधेनु की भाँति दूध, दही, घी तथा मधु देते हैं अर्थात् नियम से वेद का स्वाध्याय करने वाले को भौतिक सुख सम्पदा एवं आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है।

> न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
> ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।
>
> ।। मनु० । २ । १५४ ।।

न वयोवृद्ध होने से, न श्वेत केशवाला होने से, न धनवान होने से और न ही बड़े बन्धु-बान्धवों वाला होने से कोई महान बनता है। ऋषियों द्वारा निश्चित किये गये धर्म के अनुसार वही महान होता है जो वेदों का स्वाध्याय तथा पठन-पाठन करता है।

वेदों का सम्मान

> योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
> स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।
>
> मनु० ।२।११।।

जो व्यक्ति हेतु शास्त्र (तर्क शास्त्र) का आश्रय लेकर असत्य एवं अनुचित तर्कों द्वारा वेद का अनादर करे, उस नास्तिक एवं वेदनिन्दक का सभी सज्जनों द्वारा बहिष्कार कर दिया जाना चाहिए।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ।।

।। मनु०।७ । १३४ ।।

जिस राजा के राज्य में वेदपाठी विद्वान क्षुधा से पीड़ित रहता है, उसका सम्पूर्ण राज्य भी क्षुधा से शीघ्र ही पीड़ित हो जाता है अर्थात् उसके राज्य में अन्न आदि की कमी तथा सुख शान्ति का अभाव हो जाता है। इस प्रकार वह क्षुधा सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देती है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि जिस राज्य अथवा राष्ट्र में वेद पाठी ब्राह्मणों का अपमान होता है, वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।

परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ।।

।।अथर्व० । ५ । १९ । ६ ।।

(यः उग्रः राजा) जो उग्र राजा गर्व करते हुये (ब्राह्मणं जिघत्सति) ब्राह्मण को नष्ट करना चाहता है, उसका राज्य तथा (तत् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (यत्र ब्राह्मणः जीयते) जहाँ ब्राह्मण का निरादर होता है, उसे कष्ट दिया जाता है, (परा सिच्यते) बह जाता है, नष्ट हो जाता है। मनुस्मृति में कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नराणां ब्राह्मणाः स्मृताः ।।

।। मनु० । १ । ९६ ।।

भूतों में प्राणी श्रेष्ठ है, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, बुद्धिजीवियों

अर्थात् बुद्धि वाले प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है तथा मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥

॥ मनु.। १। ९७॥

ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में, कर्मों में कर्तव्य बुद्धि रखने वाले श्रेष्ठ हैं, कर्मों में कर्तव्य बुद्धि रखने वालों में कल्याण कारी कर्म करने वाले श्रेष्ठ हैं तथा कर्म करने वालों में वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं।

न विप्रपादोदकपङ्कलानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

॥ चाणक्य १२। १०॥

जिन घरों में ब्राह्मणों के चरणों के धोने से कीचड़ नहीं होती, जहाँ वेदशास्त्र की ध्वनि की गर्जना तथा स्वाहा-स्वधा के उच्चारण के साथ यज्ञ नहीं होता, वे घर श्मशान के समान हैं।

वेदाध्ययन में सदाचार का महत्व

यह उल्लेखनीय है कि केवल सदाचारी व्यक्ति ही वेदों के अध्ययन का पवित्र फल प्राप्त करता है, दुराचारी नहीं।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥

॥ मनु. १। १०९॥

आचाररहित ब्राह्मण वेद के फल को प्राप्त नहीं कर सकता,

केवल आचार से संयुक्त ब्राह्मण ही वेद के सम्पूर्ण फल का भोग करता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

॥ मनु २। ९७॥

दुष्टभाव वाला विप्र वेदपाठ, त्याग, यज्ञ, नियम अथवा तप, किसी भी प्रकार से सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अतः दुष्टता एवं दुराचार का परित्याग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरः विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥

॥ मनु. २। ११८॥

केवल सावित्री अर्थात् गायत्री जानने वाला और शास्त्रानुसार नियम से जीवन यापन करने वाला विप्र श्रेष्ठ है किन्तु सब पदार्थों को बेचने वाला, भक्ष्याभक्ष्य सभी कुछ खाने वाला तथा शास्त्र के प्रतिकूल अनियन्त्रित आचरण करने वाला तीन वेदों का ज्ञाता भी श्रेष्ठ नहीं है।

मन्त्र

मन्त्राः मननात् ॥ निरुक्त ७। १२॥

मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वाः सत्यविद्याः यैस्ते मन्त्राः अर्थात् जिनसे समस्त सत्य विद्याओं का ज्ञान होता है, वे मन्त्र होते हैं। मन्त्र शब्द 'मन् ज्ञाने' धातु से बना है, अतः मनन का अर्थ जानना भी होता है।

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

॥ निरुक्त १। २॥

पुरुष की समस्त विद्यायें अनित्य होने के कारण उनसे परम

कल्याण एवं मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, कर्मसिद्धि कराने वाले तो वेद में उल्लिखित मन्त्र ही हैं।

मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः उसका ज्ञान अपरिपूर्ण तथा परिवर्तनशील होने के कारण अनित्य है। ऐसे सन्दिग्ध एवं अपूर्ण ज्ञान से कभी भी सत्कर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती। वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होने से पूर्ण एवं नित्य हैं। वैदिक ज्ञान तीनों कालों में एक सा रहता है, और वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। अतः वेदमन्त्र अश्वमेघ यज्ञ से लेकर शिल्प पर्यन्त सभी कर्मों, तथा मोक्ष की सिद्धि कराने वाले हैं। इसीलिये महर्षि यास्काचार्य ने देवता शब्द को मन्त्र के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है।

तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

॥ निरुक्त । १ । २ ॥

जिस प्रकार मनुष्यों की भाषा में शब्दों का प्रयोग होता है उसी प्रकार देवता अर्थात् मन्त्र में भी होता है।

स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है—

कर्मकाण्डे देवता शब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते। तेषां कर्मकाण्डादि विधेर्द्योतकत्वात्।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (वेद विषयविचारः)

कर्म काण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण किया जाता है और जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहलाते हैं क्योंकि वे ही कर्मकाण्ड आदि विधि के द्योतक हैं और उन्हीं से सब अर्थों का यथावत प्रकाश होता है।

मन्त्र तथा छन्द पर्यायवाची शब्द हैं। यह उल्लेखनीय है कि श्रुति, वेद तथा नगम भी पर्यायवाची हैं। अष्टाध्यायी में छन्द मन्त्र

और निगम ये तीनों शब्द वेदों के लिए प्रयुक्त किये गये हैं।

निगम का निर्वचन निम्न प्रकार है—

निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा,
सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचार:)

जिससे सारे पदार्थों के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सके अथवा सारी विद्यायें जिसमें हैं वह निगम, वेद अथवा मन्त्र है।

देवता

देवता अथवा देव शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है—

देवो दानाद्वा, द्वीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।

॥ निरुक्त ७। १५ ॥

दान देने से, अन्धकार को नाश करने वाला प्रकाश देने से, ज्ञान का प्रकाश करने से, सत्य उपदेश देने से अथवा द्युस्थानीय होने से देव कहा जाता है। मन्त्रों से सत्य विद्याओं तथा समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है और इस प्रकार उनसे ज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त होता है, अतः उन्हें देवता कहा जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि मन्त्र के सम्बन्ध में देवता शब्द का एक अन्य अर्थ भी है—

या तेनोच्यते सा देवता।

॥ सर्वानुक्रमणी ५ ॥

मन्त्र द्वारा जिस विषय को कहा जाता है वही उस मन्त्र का देवता होता है अर्थात् मन्त्र का जो प्रतिपाद्य विषय होता है उसे उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'अग्निमीले पुरोहितम्' इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है अतः इस मन्त्र का

देवता अग्नि है किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी मन्त्रों का देवता ओङ्कार अथवा ब्रह्म ही होता है क्योंकि वही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आचार्य कात्यायन ने लिखा है 'ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः।' आध्यात्मिक अर्थ में सब ऋचाओं का देवता ओङ्कार, परमेष्ठी अथवा ब्रह्म होता है।

छन्द

छन्दांसि छादनात् (निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १२)

छादन, आच्छादन अथवा रक्षा करने के कारण छन्द कहा जाता है। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है---

अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका (वेदविषय विचार)

अविद्यादि समस्त दुःखों का निवारण करने तथा सुखों से आच्छादित करने के कारण छन्द अथवा वेद कहा जाता है। आह्लादन तथा दीपन अर्थ वाली चदि धातु में असुन् प्रत्यय लगाने पर 'चन्देरादेश्चछः' उणादि सूत्र ४।२१९ के अनुसार, चकार के स्थान पर छकार हो जाने से छन्द शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः छन्द का अर्थ हुआ ज्ञान का प्रकाश एवं सुख देने वाला।

वेदाध्ययनेन सर्वविद्या प्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका।

वेद के अध्ययन से समस्त विद्याओं की प्राप्ति होने के कारण मनुष्य आह्लादी, सुखी तथा सर्वार्थ का ज्ञाता हो जाता है इसीलिए मन्त्रों को छन्द अथवा वेद कहा जाता है।

छन्दों द्वारा आच्छादन अथवा रक्षा किये जाने के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में यह आलंकारिक वर्णन आया है कि देवता लोग मृत्यु के भय से वेदों में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने गायत्र्यादि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया। देवों ने अपनी रक्षा हेतु स्वयं को छन्दों से जो आच्छादित कर लिया यही छन्दों का छन्दस्त्व है—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिर-च्छादयन्यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।

॥ छान्दोग्य । १ । ४ । २ ॥

(देवाः वै मृत्योः बिभ्यतः) देव निश्चय ही मृत्यु के भय से भयभीत होकर (त्रयीं विद्याम्) ऋग् यजुः साम लक्षण वाले चारों वेदों में (प्राविशन्) प्रविष्ट हो गये (ते छन्दोभिः अच्छादयन्) उन्होंने गायत्री आदि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया (तत् छन्दसां छन्दस्त्वम्) वही छन्दों का छन्दस्त्व है अर्थात् यही इनका विशेष गुण है जिसके कारण इन्हें छन्द कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि यह छन्द अपने को उच्चारण करने वाले अथवा गान करने वाले की पूर्णरूप से रक्षा करते हैं। उसे इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि कष्ट, दुःख तथा संकट उसके पास आ ही नहीं पाते।

यस्माच्छादिता देवाश्छन्दोभिर्मृत्युभीरवः ।
छन्दसां तेन छन्दस्त्वं ख्यायते वेदवादिभिः ॥

॥ गार्ग्य । उपनिदान सूत्र । ८ ।२ ॥

मृत्यु से भयभीत देवों ने अपने को छन्दों से आच्छादित किया अतएव छन्दों का यही छन्दस्त्व वेदविदों द्वारा कहा जाता है।

जिस प्रकार सूर्य की सात प्रकार की रश्मियाँ अथवा सूर्य के रथ के सात अश्व प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार वेद में सात प्रकार के छन्द होते

हैं। पुराणों में सूर्य के सात अश्वों के नाम भी वही बताये गये हैं जो वैदिक छन्दों के नाम हैं।

हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिग्जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पङ्क्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः।

॥ विष्णु पुराण। द्वितीयांश ७। ८॥

वास्तव में छन्द शब्द का अर्थ सूर्य रश्मि भी होता है।

छन्दों की अक्षर संख्या

इन सात छन्दों में सर्वप्रथम तथा सबसे प्रमुख गायत्री छन्द है जिसमें २४ अक्षर होते हैं। इसके पश्चात् अन्य छन्दों में क्रमशः चार-चार अक्षर अधिक होते जाते हैं।

सप्त चछन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि।

॥ अथर्व। ८। ९। १९॥

(उत्तराणि चतुः सप्त छन्दांसि) उत्तरोत्तर चार अक्षर के आधिक्य वाले सात छन्द हैं। (अन्यः अन्यस्मिन्) यह एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) समर्पित हैं अर्थात् उत्तरोत्तर पूर्व छन्द पर आश्रित हैं। यह विचार करना चाहिये कि (स्तोमाः कथं तेषु प्रतितिष्ठन्ति) इन छन्दों में स्तोम किस प्रकार प्रतिष्ठित है (तानि स्तोमेषु कथं अर्पितानि) तथा वे छन्द इन स्तोमो में किस प्रकार अर्पित हैं। स्तोमः स्तवनात्। स्तुति मे प्रयोग किये जाने वाले छन्दों के समूह

विशेष को स्तोम कहते हैं जैसे अग्नि देवता के मन्त्रों का त्रिवृत स्तोम होता है।

यह उल्लेखनीय है कि एक या दो अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकता से छन्दोभेद नहीं होता किन्तु निर्धारित संख्या से अक्षरों के न्यून अथवा अधिक होने पर छन्द के नाम के साथ भिन्न भिन्न सांकेतिक शब्द लगाये जाते हैं।

उदाहरणार्थ :–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

॥ यजु० ३।३५॥

इस ऋचा के प्रथम पाद में ८ अक्षरों के स्थान पर ७ अक्षर हैं। अतः इसमें केवल २३ अक्षर होने से यह छन्द निचृद् गायत्री कहा जाता है। पिङ्गल सूत्र में प्रथम सप्तक के लिये छन्दों के स्वरों का निर्देश निम्न प्रकार किया गया है।

छन्द	स्वर
(१) गायत्री	षड्ज
(२) उष्णिक्	ऋषभ
(३) अनुष्टुप्	गान्धार
(४) बृहती	मध्यम
(५) पङ्क्ति	पञ्चम
(६) त्रिष्टुप्	धैवत
(७) जगती	निषाद

छन्दों का गान उनके निर्धारित स्वरों में ही किया जाना चाहिये।

छन्दों का न केवल स्वर निर्धारित है बल्कि उनका वर्ण भी निर्धारित है। उदाहरणार्थ गायत्री श्वेत वर्णा होती है।

गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता ।

।। गोपथ १ । १ । २७ ।।

देवों की एकाक्षरा गायत्री श्वेतवर्णा कही गयी है। इसी प्रकार छन्दों का देवताओं से भी विशिष्ट सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ गायत्री छन्द का अग्नि के साथ तथा उष्णिक् का सविता के साथ विशिष्ट सम्बन्ध माना जाता है।

छन्दों का मन्त्रों के अर्थ से भी सीधा सम्बन्ध होता है—

तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।

महर्षि जैमिनि। मी०। २। १। ३५

उन मन्त्रों में से, जिनमें अर्थ के अनुरोध से पाद व्यवस्था होती है,वह ऋक् कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि छन्दों की पाद व्यवस्था का भी मन्त्रों के अर्थों से गहरा सम्बन्ध होता है और मन्त्र में प्रयुक्त पादों की मनमाने ढंग से इधर उधर ले जाकर अर्थ नहीं किये जा सकते। मन्त्र का अर्थ मन्त्र पद-क्रम के अनुसार करना चाहिए तथा यथासम्भव प्रतिपाद अवान्तर अर्थ पृथक् पृथक् दिखाना चाहिये। अतः मन्त्रों के सही एवं सूक्ष्म अर्थों की जानकारी के लिए छन्दः शास्त्र का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। वास्तव में वेदार्थ का महत्वपूर्ण प्रासाद छन्दःशास्त्र की आधारशिला पर सुप्रतिष्ठित है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै ।

।। अथर्व १९। २१। १ ।।

१- गायत्री २- उष्णिक् ३- अनुष्टुप् ४- बृहती ५- पङ्क्ति अथवा विराट ६- त्रिष्टुप् ७- जगती। यह सात प्रमुख छन्द हैं।

गायत्री

गायत्री छन्द में आठ-आठ अक्षर के तीन पाद, इस प्रकार कुल २४ अक्षर होते हैं। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही गायत्री छन्द से किया गया है। गायत्री छन्द सभी छन्दों से श्रेष्ठ है। इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।

।। गीता । १० । ३५ ।।

सामवेद के मन्त्रों में मैं वृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ।

इस गायत्री छन्द में ही वह परम प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसे गायत्री अथवा सावित्री कहा जाता है क्योंकि इसका देवता सविता है।

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

ऋग् ३ । ६२ । १० यजु. ३६ । ३, ३० । २, ३ । ३५, २२ । ९
साम. उत्तरार्चिक १३ । ४ । ३ । १ क्रम सं. १४६२ ।

इस वेदमाता अर्थात् ज्ञान की माता गायत्री, ब्रह्म गायत्री, सावित्री, महामन्त्र अथवा गुरुमन्त्र का अर्थ संक्षेप में निम्न प्रकार है। जप करते समय यही अर्थ अपने मन बुद्धि तथा हृदय में स्थिर रखना चाहिए और जप के अन्त में भगवान् को अपना पिता समझकर विश्वासपूर्वक उससे अपनी मनोकामना का निवेदन करना चाहिए।

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

(ओ३म्) हे अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान परम पिता परमात्मा ! (भूः)सत्, हे सर्वाधार ! आपकी ही एकमात्र और अनन्त सत्ता पर यह सारा ब्रह्माण्ड आश्रित है, (भुवः) चित् । हे सर्वज्ञ ! हमारे समस्त अवगुणों, दुःखों, कष्टों तथा संकटों को जानने वाले और उन्हें दूर करके हमें सुख देने वाले, (स्वः) सुख स्वरूप,परमानन्द को देने वाले,हे सच्चिदानन्द! (तत् सवितुः देवस्य) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले,उसे प्रेरणा देने वाले तथा उसका पालन पोषण करने वाले उस परब्रह्म के (वरेण्यं भर्गः) श्रेष्ठ, वरण करने योग्य, कल्याणकारी, पापनाशक तेज का हम (धीमहि) ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं तथा उसे अपने अन्दर धारण करते हैं । (यः) जो । हे प्रभो ! (नः धियः प्रचोदयात्) हमारी बुद्धि और वाणी को तथा हमारे कर्मों को कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित कीजिये ।

गायत्री का निर्वचन निम्न प्रकार किया जाता है—

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीयं ततः स्मृता । —व्यास।

अपना गान करने वाले की रक्षा करती है अतः इसे गायत्री कहते हैं ।

गायत्री शब्द में 'गाय+त्री' ये दो शब्द हैं । गय नाम प्राणों का है । त्रै धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'त्री' बनता है । अतः गायत्री का अर्थ हुआ प्राणों की रक्षा करने वाली ।

तद् यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ।

बृहदा. ५ । १४ । ४

इसने जो प्राणों की रक्षा की थी इसी से इसका गायत्री नाम हुआ ।

रक्षा करती है, वह गायत्री है।

निरुक्त में गायत्री छन्द के सम्बन्ध में गायत्री शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है—

गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीता, गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्।

।। निरुक्त। ७। १२ ।।

१- स्तुति करने में गान किये जाने के कारण गायत्री है। स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से 'अत्रच्' प्रत्यय करने पर गायत्री शब्द निष्पन्न होता है।

२- अथवा यह छन्द (त्रिगमन) तीन पादों वाला होता है। अतः गम और त्रि के विपर्यय से गायत्री निष्पन्न हुआ। त्रि+गम (विपर्यय) गम+त्रि=गायत्री।

३- ब्राह्मण कहता है कि गान करते हुये परमेश्वर के मुख से सर्व-प्रथम यह छन्द निकला। अतः इसका नाम गायत्री है। गै+यत् से रक प्रत्यय, गायत्र–गायत्री।

वेद में भी कहा गया है कि गायत्री छन्द से पूजनीय ब्रह्म की स्तुति करते हैं तथा गायत्री में प्राणों की रक्षा करने की शक्ति है।

गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कम्।

अथर्व ९। १०। २ ऋ० १। १६४। २४

गायत्री छन्द से अर्चनीय देव का प्रतिमापन अर्थात् गुण वर्णन करते हैं।

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितम्।

अथर्व ९।१०।१ ।। ।। ऋग् ।१।१६४।२३।

(गायत्रे यद् गायत्रं अधि आहितम्) गायत्री छन्द में जो गायत्र अथवा प्राणों की रक्षा का विज्ञान रखा है।

इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करने में गायत्री की शक्ति असंदिग्ध है, केवल आवश्यकता है इसके विधि एवं भक्तिपूर्वक जप, गान तथा उपासना की।

२- उष्णिक

उष्णिक्=उष्णिज्। इसके तीन निर्वचन हैं–

उष्णिगुत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः।

निरुक्त ७।१२

१–उष्णिक् उत् स्नाता भवति। उत्, उत्कृष्टं स्नातं शुद्धत्वं यथा सा उष्णिक् अर्थात् जिससे उत्कृष्ट शुद्धता प्राप्त होती है वह उष्णिक् कहा जाता है। उक्त निर्वचन का आधार यह है कि उष्णिक् अथवा उष्णिज् शब्द उत् उपसर्ग पूर्वक ष्णा, शौच धातु से इजि प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता। (उत्+ष्णा+इजि)

२ स्निह्यतेः वा स्यात् अथवा ष्णिह धातु जिसका अर्थ प्रीति होता है, से उत् उपसर्ग लगाकर (उत्+स्निह्) उष्णिज् शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ हुआ 'प्रिय'। यह छन्द प्रिय होता है अतः इसे उष्णिक् कहा जाता है।

३ उष्णीषिणी इव इति औपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः। इसे उष्णीषिणी अथवा पगड़ी की उपमा दी गई है। जिस प्रकार सिर के चारों ओर पगड़ी लपेटी जाती है उसी प्रकार गायत्री के तीनों पादों में एक एक अक्षर अधिक होने से यह उष्णिक् छन्द गायत्री छन्द की पगड़ी के समान है (उष्णीषिणी=उष्णीष=उष्णिज्)। गायत्री के तीनों पादों में तो आठ आठ अक्षर होते हैं किन्तु उष्णिक् के प्रत्येक पाद में ९ अक्षर होते हैं। उष्णीषं स्नायतेः—उत् उपसर्ग पूर्वक

ष्णा धातु से उष्णीष शब्द सिद्ध होता है। सामान्य रूप से उष्णीय का अर्थ सफेद पगड़ी होता है। इस छन्द में ६-६ अक्षर के तीन पाद तथा २७ अक्षर होते हैं।

३- अनुष्टुप्

अनुष्टुप् = अनुष्टुब्। अनुष्टुब् अनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदा सतीम् चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्।

॥ निरुक्त ७। १२ ॥

अनुष्टोभन करने से इस छन्द को अनुष्टुभ् अथवा अनुष्टुप् कहते हैं। ब्राह्मण के अनुसार यह अनुष्टुप् छन्द तीन पादों वाली गायत्री का अपने चतुर्थ पाद से अनुस्तवन अथवा अनुकरण करता है। अतएव इसे अनुष्टुप् कहते हैं। अनु उपसर्ग पूर्वक निघण्टु पठित स्तुत्यर्थक स्तुभ् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्) शब्द सिद्ध होता है। गायत्री में आठ आठ अक्षरों वाले तीन पाद होते हैं जबकि अनुष्टुप् में चार पाद होते हैं। इस प्रकार इस छन्द में ३२ अक्षर होते हैं।

४- बृहती

इसमें ३६ अक्षर होते हैं। इस प्रकार यह छन्द अनुष्टुप् से चार अक्षर बड़ा है। अतः इसे वृहती कहते हैं। बृहती परिबर्हणात्।

(बृह् + अति + ङीप् = वृहती) 'बृह वृद्धौ' धातु से अति प्रत्यय लगाने पर तथा बकार का वकार होने से वृहत् शब्द सिद्ध होता है। वृहत् से ङीप् प्रत्यय करने पर बृहती शब्द बनता है। इसमें ६-६ अक्षर के चार पाद होते हैं। इस प्रकार गायत्री तथा उष्णिक् छन्द तीन तीन पाद के होते हैं जबकि अनुष्टुप् तथा वृहती चार चार पाद के होते हैं।

५- पङ्क्ति

(पचि धातु से क्तिन् प्रत्यय) आठ आठ अक्षरों वाले पाँच पादों के इस छन्द में चालीस अक्षर होते हैं। पाँच पादों का छन्द होने के कारण ही इसे पङ्क्ति कहते हैं। पंक्ति पञ्च पदा।

६ त्रिष्टुप्

त्रिष्टुप्=(त्रि+स्तुभ) स्तुभ का अर्थ है स्तुति करना। निरुक्त (७।१२) में कहा गया है—

त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः, त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते।

त्रिष्टुभ में उत्तर पद तो स्तुभ है, किन्तु यह त्रित्व क्या है?

उत्तर–त्रि के दो अर्थ हैं; १-यह छन्द गायत्री आदि से बहुत अधिक अक्षरों वाला होने से तीर्णतम अर्थात् अधिक विस्तृत है, बहुत बड़ा है। अतः यह त्रि है। यह छन्द पङ्क्ति से भी चार अक्षर बड़ा है क्योंकि यह ४४ अक्षरों का होता है। यह छन्द बहुत बड़ा होता हुआ पदार्थों का स्तवन करता है अतः यह त्रिष्टुभ् है।

२-त्रिवृद् वज्रः तस्य स्तोभति इति वा। त्रिवृद्, वज्र है, उसकी स्तुति करता है इसलिए त्रिष्टुप् है। वज्र के तीन पार्श्व तीखे होते है, अतः उसे त्रिवृद् अथवा त्रि कहा जाता है।

७- जगती

इसका निर्वचन निरुक्त (७।१२) में निम्न प्रकार से किया गया है—

जगती गततमं छन्दः, जलचरगतिर्वा जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्।

१- यह छन्द अन्य छन्दों से (गततम) आगे गया हुआ है, बहुत बड़ा है, अतः इसे जगती कहा जाता है। यह ४८ अक्षरों का छन्द है। गम्+गम्+अति+ङीप् (उणा. २.८४)।

२- इसकी गति गुरु-लघु के लम्बे भेदों के कारण जल में चलने वाली लहरों की तरह है। जलचर गति=ज+लचर+गति=ज+गति जगति = जगती।

३- ब्राह्मण जगती का निर्वचन इस प्रकार करता है कि जल्गल्यमानः असृजत् जगती। बहुधास्तूयमान परमेश्वर ने इसे रचा है, अतः यह जगती है।

वेदान्त

वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है वेदों का अन्त वेदानां अन्तः वेदान्तः। यदि यहाँ अन्त शब्द का तात्पर्य अन्तिम भाग अथवा अन्तिम सूक्त माना जाय तो यह अर्थ केवल 'ईशावास्योपनिषद्' में ही घटित होगा क्योंकि वही यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। अन्य कोई उपनिषद् वेद का भाग नहीं है किन्तु इस विषय में सभी विद्वान सहमत हैं कि सभी प्रमुख ग्यारह उपनिषद् जिनके नाम आगे दिये जा रहे हैं, वेदान्त के अन्तर्गत आते हैं।

वेदान्त सार में कहा गया है—

> वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम् तदुपकारीणि
> शारीरकसूत्रादीनि च।

उपनिषद् तथा उनके समर्थन में अथवा उनके सम्बन्ध में लिखे गये शारीरक सूत्र अथवा ब्रह्म सूत्र सामूहिक रूप से वेदान्त कहे जाते हैं। महर्षि वेद व्यास कृत ब्रह्मसूत्र को वेदान्त दर्शन कहते हैं, यह भी वेदान्त का एक भाग है।

वास्तव में उपनिषद् के समान वेदान्त का भी तात्पर्य अध्यात्म

विद्या, आत्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या से है। यह ब्रह्मविद्या तिलों में तेल के समान वेदों में गूढ़ रूप से सुप्रतिष्ठित है।

तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः।

वेद में वेदान्त उसी प्रकार सुप्रतिष्ठित है जैसे तिलों में तेल।

वैदिक वाङ्मय का विवरण

१ वेद —	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
२ ऋषि जिनके हृदय तथा बुद्धि में वेदों का प्रकाश हुआ —	अग्नि	वायु	आदित्य	अङ्गिरा
३ प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थ —	ऐतरेय	शतपथ	साम अथवा ताण्ड्य तलवकार	गोपथ

(इनके अतिरिक्त आरण्यक भी महत्वपूर्ण हैं)

४ प्रमुख उपनिषद् —	ऐतरेय	ईश, कठ	केन	प्रश्न
		बृहदारण्यक	छान्दोग्य	माण्डूक्य
		तैत्तिरीय		मुण्डक
		श्वेताश्वतर		
५ उपवेद —	आयुर्वेद	धनुर्वेद	गन्धर्ववेद	अर्थवेद

६ वेदाङ्ग — शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष

७ उपाङ्ग

१- दर्शन—	न्याय	वैशेषिक	सांख्य	योग	मीमांसा	वेदान्त
प्रणेता—ऋषि	गौतम	कणाद	कपिल	पतञ्जलि	जैमिनि	व्यास

वेदों की स्वतः प्रामाणिकता

यह उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है कि ईश्वरीय ज्ञान अथवा स्वयं भगवान् की वाणी होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण हैं उन्हें अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, जबकि चारों वेदों की संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, गीता आदि जो अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं; उन्हें वेदों के प्रमाण की आवश्यकता होती है। अतः यदि किसी ग्रन्थ में कोई भी वाक्य, कथन अथवा सिद्धान्त वेदानुकूल नहीं है अथवा वेद विरुद्ध है तो वह मान्य नहीं हो सकता और विद्वानों का कर्तव्य है कि उसे अमान्य करके उसकी उपेक्षा कर दें तथा यदि किसी ग्रन्थ में कोई बात वेदों की मर्यादा के प्रतिकूल है तो उसका सशक्त प्रतिकार करें।

महर्षि कणाद ने लिखा है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।

॥ वैशेषिक १।१।३ ॥

ईश्वर का वचन होने के कारण वेद प्रमाण है।

इसी प्रकार महर्षि कपिल ने लिखा है—

निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ।

सांख्यदर्शन । ५१

परमात्मा की निज शक्ति से प्रकट होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण हैं।

कृष्ण द्वैपायन महर्षि व्यास ने लिखा है—

शास्त्र योनित्वात् ।

ब्रह्मसूत्र १।१।३

ब्रह्म, वेद की योनि अर्थात् उत्पत्ति का कारण है। तात्पर्य यह है कि

वेद किसी पुरुष के बनाये हुये नहीं हैं बल्कि अपौरुषेय हैं, स्वयं भगवान् की ही मंगलकारी वाणी हैं, अतः उनके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

अतएव च नित्यत्वम् ।

॥ ब्रह्मसूत्र । १ । ३ । २९ ॥

और इस कारण से ही वेद नित्य हैं।

ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण वेद नित्य हैं। यह स्पष्ट है कि ईश्वर के ज्ञान को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं हो सकती। स्वामी दयानन्द जी ने अत्यन्त दृढ़ता से लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश के कारण स्वतः प्रमाण है, उसी प्रकार समस्त विश्व को ज्ञान की आभा से आलोकित करने वाले वेद स्वतः प्रमाण हैं।

स्वयं वेद में ही कहा गया है—

अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः ।

प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ।

अथर्व ७ । १०५ । १

(अपक्रामन् पौरुषेयात्) मनुष्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को छोड़कर, उनसे अलग हटकर (दैव्यं वचः) दिव्य वेदवाणी को (वृणानः) ग्रहण करते हुये (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब मित्रों के साथ (प्र-नीतीः अभ्यावर्तस्व) श्रेष्ठ नीति पर आचरण करो।

इस प्रकार वेद का यह स्पष्ट निर्देश है कि मनुष्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन न करके हमें केवल वैदिक ज्ञान के अनुसार ही आचरण करना चाहिए क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान होने के

कारण उनमें कुछ भी असत्य अथवा अमंगलकारी नहीं हो सकता। साथ ही हमें अपने इष्ट मित्रों को भी वैदिक शिक्षा के अनुसार ही न्यायपूर्ण आचरण करने के लिए प्रेरित करना चाहिये।

वेदाध्ययन का अधिकार

कुछ लोगों में यह भ्रान्त धारणा है कि वेदों के अध्ययन का अधिकार केवल द्विजों को है किन्तु यह विचार सर्वथा त्रुटिपूर्ण एवं अनुचित है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जब विधर्मी एवं विदेशी लोग वेदों का अध्ययन करते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होती बल्कि हम लोग उससे अपने को गौरवान्वित समझते हैं किन्तु जब अपने ही देश के तथा कथित शूद्र अथवा अन्त्य वर्गों के लोग जो भारतमाता की सन्तान होने के कारण वास्तव में हमारे सहोदर हैं, वेदों का अध्ययन करना चाहते हैं तो कुछ मूर्ख व्यक्ति इस पर आपत्ति करते हैं। हमें इस प्रकार के अवैदिक एवं अनैतिक विचारों से बचना चाहिये।

इसी प्रकार कुछ मूर्खों के अनुसार स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। जब अपने धर्म एवं संस्कृति के अनुसार कोई भी कल्याणकारी कार्य तथा यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, तब यह कहना कहाँ की बुद्धिमानी है कि वेदपाठ के समान श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी कार्य में स्त्रियों का अधिकार नहीं है। सभी जानते हैं कि अपने देश में अनेक ऐसी विदुषी एवं वेदज्ञ स्त्रियाँ हुयी हैं जो अपने युग के अनेक विद्वानों से अधिक योग्य एवं ज्ञानवती थीं। कदाचित इन मूर्ख लोगों को यह पता नहीं है कि वेद के अनेक अध्यायों, सूक्तों एवं मन्त्रों की ऋषि महिलायें हैं। अथर्ववेद के सम्पूर्ण चतुर्दश काण्ड जिसमें विवाह से सम्बन्धित अत्यन्त सुन्दर मन्त्र हैं, की ऋषि सावित्री सूर्या हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त संख्या १५१ की ऋषि श्रद्धा कामायनी हैं। जब स्वयं वेद में

ही महिलायें मन्त्र दृष्टा ऋषि हैं, तब यह कहना कि महिलाओं को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है, हमारे बौद्धिक एवं धार्मिक अधःपतन की सीमा ही कही जायेगी।

स्वयं वेद में ही कहा गया है कि इस कल्याणमयी वाणी के अध्ययन का अधिकार संसार के प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्याभ्या ꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः

समृध्यतामुप मादो नमतु । ॥ यजु. । २६ । २ ॥

इस मन्त्र में ईश्वर मनुष्यों को उपदेश दे रहा है कि (यथा इमां कल्याणीं वाचं जनेभ्यः) जिस प्रकार इस कल्याणी वेदवाणी का मैं समस्त जनों के लिए (ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च अर्याय च स्वाय च अरणाय) ब्राह्मणों, क्षत्रियों, शूद्रों, वैश्यों तथा अपने और पराये सभी लोगों के लिए (आवदानि) उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार तुम लोगों को भी इसका उपदेश सबको करना चाहिए और यह प्रार्थना करनी चाहिए कि (दातुः देवानां दक्षिणायै प्रियः भूयासम्) मैं उदारमना दानशील श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा देवों अथवा विद्वानों की दक्षिणा अर्थात् उनके द्वारा किये जाने वाले सम्मान एवं सत्कार तथा उनके द्वारा दिये जाने वाले धन अथवा ज्ञान के दान के लिए उनका प्रिय बनूं; (मे अयं कामः समृध्यताम्) मेरी यह कामना अथवा उद्देश्य उत्तमता से समृद्धि को प्राप्त हो, (मा अदः उपनमतु) तथा मुझे उसमें सुख प्राप्त हो।

इस प्रकार समस्त जातियों में वैदिक ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करते हुये हमें श्रेष्ठ व्यक्तियों के सम्मान का पात्र बनने का प्रयास करना चाहिये और इस श्रेष्ठ कार्य में सुख का अनुभव करना चाहिये। वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिए त्यागी ब्राह्मणों को प्रेरित करने वाला कितना सुन्दर मन्त्र है यह।

इस अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्र में दो शिक्षायें दी गई हैं। मन्त्र के प्रथम भाग में भगवान् ने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि चारों वेदों की यह पवित्र कल्याणमयी वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य सभी वर्गों के लिए समान रूप से है। इसका ज्ञान प्राप्त करने में, इसका अध्ययन करने में किसी के लिये किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यदि कोई अल्पज्ञ, स्वार्थी अथवा अन्यायी व्यक्ति कोई प्रतिबन्ध लगाता है तो वह भगवान् के इस स्पष्ट निर्देश के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण मान्य नहीं हो सकता।

मन्त्र के दूसरे भाग में विद्वानों को विशेषतया ब्राह्मणों को जिन पर वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार का गुरुतर दायित्व है, यह शिक्षा दी गई है कि वे सबको वेदवाणी का उपदेश दें और इस कार्य में उदारमना, दानी महापुरुषों तथा अन्य विद्वानों की सहायता एवं सहयोग प्राप्त करें; यही उनकी वास्तविक दक्षिणा है।

वैदिक ज्ञान का प्रचार प्रसार करके जगत का कल्याण करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों के जीवन की यही कामना होनी चाहिये और उन्हें भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि उनकी यह कामना और भी बलवती हो तथा वह इसकी पूर्ति करके परमानन्द का अनुभव कर सकें।

आत्मज्ञान की महिमा

सांसारिक व्यवहार की वास्तविकता तथा आत्मज्ञान के महत्व के सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी से

कहे गये निम्नांकित वचन अत्यन्त रोचक एवं विचारोत्पादक हैं।

स होवाच—न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

बृहदारण्यकोपनिषद्। २।४।५-१॥

हे मैत्रेयी ! निःसन्देह पति की कामना के लिए पत्नी को पति प्रिय नहीं होता बलिक अपनी ही कामना के लिए पति प्रिय होता है॥ १॥

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥ २॥

हे मैत्रेयी ! निश्चय ही पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती किन्तु अपनी ही कामना के लिये पत्नी प्रिय होती है॥२॥

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति॥ ३॥

हे मैत्रेयी ! निःसन्देह पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते बल्कि अपनी ही कामना के लिये पुत्र प्रिय होते हैं॥ ३॥

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति॥ ४॥

हे मैत्रेयी ! निश्चित रूप से धन की कामना के लिए धन प्रिय नहीं होता बलिक अपनी ही कामना के लिए धन प्रिय होता है॥४॥

न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति॥ ५॥

हे मैत्रेयी ! निश्चय ही ब्राह्मण की कामना के लिये ब्राह्मण

प्रिय नहीं होता बल्कि अपनी ही कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है ।। ५ ।।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति ।। ६ ।।

हे मैत्रेयी ! निःसन्देह क्षत्रिय की कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपनी ही कामना के लिए क्षत्रिय प्रिय होता है ।। ६ ।।

हे मैत्रेयी ! लोकों की कामना के लिए लोक प्रिय नहीं होते, अपनी ही कामना के लिए लोक प्रिय होते हैं ।। ७ ।।

हे मैत्रेयी ! निश्चय ही देवों की कामना के लिए देव प्रिय नहीं होते, अपनी ही कामना के लिए देव प्रिय होते हैं ।। ८ ।।

हे मैत्रेयी ! निःसन्देह प्राणियों की कामना के लिए प्राणी प्रिय नहीं होते, अपनी ही कामना के लिए प्राणी प्रिय होते हैं ।। ९ ।।

हे मैत्रेयी ! निःसन्देह सब की कामना के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपनी ही कामना के लिए सब प्रिय होते हैं ।। १० ।।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।

बृहदा. । २ । ४ । ५ ।।

(वा अरे) हे मैत्रेयी ! निःसन्देह (आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः) आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने (निदिध्यासितव्यः) तथा निदिध्यासन द्वारा अनुभव किये जाने योग्य है । (अरे मैत्रेयी) हे मैत्रेयी ! (आत्मनः) आत्मा के ही (दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन) दर्शन, श्रवण, मनन, एवं विज्ञान से (इदं सर्वं विदितम्) यह सब ज्ञात हो जाता है ।

कितनी महत्वपूर्ण हैं उपर्युक्त पंक्तियाँ, जिनसे स्पष्ट है कि आत्मा का ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है और उसका ज्ञान प्राप्त कर लेने से मनुष्य का सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। यह है आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान की महिमा।

मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि आत्मविद्या सब विद्याओं का आधार है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

॥ मुण्डक। १। १॥

(देवानां प्रथमः) देवताओं में सर्वप्रथम (विश्वस्य कर्ता) विश्व के कर्ता तथा (भुवनस्य गोप्ता) समस्त संसार के रक्षक (ब्रह्मा संबभूव) ब्रह्मा प्रकट हुये। (सः ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय) उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को (सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् ब्रह्मविद्याम् प्राह) सब विद्याओं की आधारभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

आत्मज्ञान की महिमा को ही दृष्टि में रखते हुये भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि विद्याओं में मैं आत्मविद्या हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

॥ गीता। १०। ३२॥

हे अर्जुन! मैं सृष्टि के विभिन्न सर्गों का आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय हूँ, समस्त विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूँ तथा शंका समाधान करने के समय बोले जाने वाले

वाद, अल्प, वितण्डा नामक वाक्यों में अर्थ-निर्णय का हेतु होने से जो प्रधान होता है, वह वाद नामक वाक्य हूँ ।

आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या से पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है इस तथ्य का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

॥ तैत्तिरीय । ब्रह्मानन्द । १ ॥

(ब्रह्मविद्) ब्रह्मज्ञानी (परम् आप्नोति) परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । (तद् एषा अभि उक्ता) उसी भाव को व्यक्त करने वाली यह ऋचा कही गई है । (सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म) ब्रह्म सत्य, ज्ञान-स्वरूप एवं अनन्त है । (यः परमे व्योमन् गुहायां निहितम्) जो, पुरुष हृदय रूपी गुहा के परम व्योम अर्थात् श्रेष्ठ आकाश में स्थित परब्रह्म को (वेद) जानता है, (सः विपश्चिता ब्रह्मणा सह) वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ मिलकर अथवा उसका साक्षात्कार करके (सर्वान् कामान् अश्नुते) समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, आप्तकाम अथवा आत्मकाम हो जाता है । जिसकी समस्त कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं वह आप्तकाम कहलाता है तथा आत्मा को प्राप्त करना ही जिसकी एकमात्र कामना रह जाती है वह आत्मकाम कहलाता है । वास्तव में ये दोनों शब्द एक ही स्थिति का वर्णन करते हैं ।

यही भाव बृहदारण्यकोपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

॥ बृहदा. । ४ । ४ । १२ ॥

(चेत् पुरुषः) यदि कहीं पुरुष (अहम् अस्मि इति विजानीयात्) 'मैं यह हूँ" यह जान ले अर्थात् अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप जो नित्य शुद्ध बुद्ध है, जान ले, तो (किम् इच्छन्) फिर क्या इच्छा करता हुआ अथवा (कस्य कामाय) किसकी कामना के लिए (शरीरम् अनुसञ्ज्वरेत्) अपने शरीर को पीड़ित करे, दुःखी करे अर्थात् यदि पुरुष अपनी आत्मा को जान ले तो फिर उसे अन्य कुछ जानने के लिए अथवा प्राप्त करने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस श्लोक में 'चेत्' शब्द का प्रयोग आत्मज्ञान की दुर्लभता प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

॥ मनु. । १२ । ८५ ॥

समस्त सत्कर्मों में आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा गया है। वह सारी विद्याओं में भी उत्तम है क्योंकि उससे अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप तथा नि इन दो उपसर्गों सहित षद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है।

उप + नि + षद्लृ + क्विप् = उपनिषद्। उप का अर्थ है समीप तथा नि उपसर्ग का अर्थ है अत्यन्त।

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'। षद् = सद् (क्योंकि ष का स हो जाता है) धातु के अर्थ विशरण अर्थात् शिथिल करना, गति तथा अवसादन अर्थात् नष्ट करना, होते हैं।

षद्लृ = सद् धातु के उक्त तीनों अर्थ उपनिषद् में घटित होते हैं। इसका उल्लेख स्वामी शङ्कराचार्य जी ने मुण्डकोपनिषद् के अपने भाष्य की भूमिका में निम्न प्रकार किया है :—

य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति। अविद्यादिसंसारकारणञ्चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषद्। उप+नि पूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।

जो कोई श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक अत्यन्त प्रेम के साथ इस ब्रह्म-विद्या के समीप आते हैं, उनके गर्भ, जन्म, जरा रोगादि अनर्थ समूहों को शिथिल करती है, उन्हें परब्रह्म के पास ले जाती है तथा उनके अविद्यादि पुनर्जन्म के कारणों को अत्यन्त नष्ट कर देती है, इस हेतु यह ब्रह्मविद्या उपनिषद् है क्योंकि उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ होता है।

उक्त अर्थ को निम्न प्रकार सरलता से समझा जा सकता है।

उप = समीप। नि = अत्यन्त

षद् = सद् के निम्नाङ्कित तीन अर्थ हैं—

१ विशरण अर्थात् शिथिल करना

२ गति अथवा गमन

३ अवसादन अर्थात विनष्ट करना।

इस प्रकार यह उपनिषद् रूपी ब्रह्मविद्या (उप) अर्थात् अपने समीप आने वालों के क्लेशों को—

१ (नि + शातयति) अत्यन्त शिथिल कर देती है।

२ (ब्रह्म गमयति) उन्हें ब्रह्म के समीप ले जाती है। तथा,

३ (नि अवसादयति) उनके अविद्या आदि पुनर्जन्म के कारणों को अत्यन्त विनष्ट कर देती है।

उपर्युक्त भाव को पं० शिवशङ्कर शर्मा ने छान्दोग्यपनिषद् के अपने भाष्य की भूमिका में निम्नांकित श्लोकों में अंकित किया है—

उपनिभ्यां सदेर्धातोः क्विपि चोपनिषन्मता ।। ५ ।।

अन्तर्भावितण्यन्तस्य सदेर्विशरणादिषु ।
केचिन्नर्थेषु मन्यन्ते, इदं रूपं तु सम्भवात् ॥ ६ ॥
अनया ब्रह्मसामीप्यमुपवेष्टुं हि साधकाः ।
अर्हा भवन्ति क्षिप्रं यत् तेनैवोपनिषन्मता ॥ ७ ॥

कुछ लोग उप तथा नि उपसर्गपूर्वक विशरण, गति तथा अवसादन अर्थ में, सद् धातु में क्विप् प्रत्यय करने से उपनिषद् की व्युत्पत्ति मानते हैं।

यद्वासामीप्यमायातां सर्वभावेन वै नृणाम् ।
शिथिलयति दुःखानां ः ः प्रथमं यतः ॥ ८ ॥

अथवा इसके द्वारा साधक लोग शीघ्र ही ब्रह्म के समीप स्थित होने के योग्य हो जाते है, इसलिये इसे उपनिषद् कहते है।

अविद्याहेतुकान् क्लेशा निशातयति तत्क्षणात् ।
ततो गमयति ब्रह्म तेन सोपनिषन्मता ॥ ९ ॥

श्रद्धाभक्तिपूर्वक शरणागत होकर पास आने वाले पुरुषों के दुःखों को यह पहले शिथिल कर देती है, फिर अविद्याजनित क्लेशों को शीघ्र नष्ट कर देती ं और तदुपरान्त ब्रह्म के समीप ले जाती है अतः इसे उपनिषद् माना जाता है।

शब्दस्तोम महानिधि में उपनिषद् की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है।

उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति ।

इससे ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, अतएव इसे उपनिषद् कहते हैं। इसी प्रकार—

उपनिषीदति, प्राप्नो ब्रह्म यया ।

जिसके द्वारा पुरुष, ब्रह्म को प्राप्त करता है, उसे उपनिषद् कहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि षद्लृ = षद् अथवा सद् धातु के अर्थ उप तथा नि उपसर्ग लगने पर बदल जाते हैं, जैसा कि प्रायः अन्य धातुओं के साथ भी होता है :

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ।।

उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बलपूर्वक अन्यत्र ले जाया जाता है अर्थात् परिवर्तित कर दिया जाता है जैसे हार शब्द में प्र उपसर्ग से प्रहार, आ से आहार, सं से संहार, वि से विहार तथा परि से परिहार शब्द बन जाते हैं।

उप उपसर्ग का अर्थ समीप भी होता है। उप के साथ षद् अथवा सद् धातु का प्रयोग उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आया है।

उदाहरणार्थ—

अथ हैनं प्रस्तोता उपससाद । छान्दोग्य।१।११।४

इसके उपरान्त प्रस्तोता नामक ऋत्विक् उनके पास आये।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथाः ।

।। छान्दोग्य।६।१३।१ ।।

जल में इस लवण को रखकर तब प्रातःकाल मेरे निकट उपस्थित होना।

उपससाद सनत्कुमारं नारदः ।

नारद सनत्कुमार के पास पहुँचे।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवद् उपसन्नः पप्रच्छ ।

।। मुण्डक । १।१।३ ।।

प्रसिद्ध है कि महान् शाला (विद्यालय अथवा आश्रम) वाले शौनक ने महर्षि अङ्गिरा के पास विधिवत् जाकर पूछा।

तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

मुण्डक। १। २। १३॥

शान्तचित्त तथा मन एवं इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाले समीप में आये हुये उसके लिये।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में उपसन्न शब्द का अर्थ श्रद्धा एवं सम्मानपूर्वक समीप जाना है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्—

... ... यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुः।

इस ऋचा में निषेदुः का अर्थ 'स्थित' है।

निषेदुषीमासनबन्धधीरः। —रघुवंश

यहाँ निषेदुषीम् का अर्थ बैठी हुई है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि सद् धातु के पूर्व उप तथा नि उपसर्ग आने से बने हुये 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ समीप जाना अथवा बैठना हुआ। गुरू के समीप बैठकर विद्या ग्रहण की जाती है। अतः उपनिषद् का व्यावहारिक अर्थ 'गुरू के समीप बैठकर प्राप्त की हुई ब्रह्म विद्या' हुआ।

पं० शिवशंकर शर्मा ने लिखा है–

उपनिषत्तुं नितरां समीपे उपवेष्टुं समर्था भवन्ति साधका अनया इत्युपनिषद्।

जिस ब्रह्म विद्या के द्वारा साधक ब्रह्म के अति समीप बैठने के योग्य होता है वह उपनिषद् है।

स्वयं उपनिषदों में ही उपनिषद् शब्द का प्रयोग शिक्षा, उपदेश, विद्या अथवा ज्ञान के रूप में किया गया है, जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है।

अथातः संहितायां उपनिषदं व्याख्यास्यामः ।

॥ तैत्ति. । १ । ३ । १ ॥

अब इस संहिता के उपनिषद् अथवा तत्वज्ञान की व्याख्या करते है ।

एष आदेशः एष उपदेशः एषा वेदोपनिषद् ।

॥ तैत्ति. । १।११।७॥

यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेद का उपनिषद् अर्थात् ज्ञान है ।

यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमन्नम-दन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्न ज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनिषद् ।

॥ तैत्ति० / भृगुवल्ली /१०/६ ॥

जो मुझे देता है । (सः इत एव मा आवाः) उसी ने मेरा संरक्षण किया है अर्थात् वही मेरा संरक्षण करता है (अहम् अन्नम्) मैं अन्न हूँ (अन्नं अदन्तं अद्मि) दूसरे को बिना दिये हुये, केवल स्वयं खाने वाले को मैं खा जाता हूँ । (अहं विश्वं भुवनं अभ्यभवाम्) मैं समस्त भुवन रूप हुआ हूँ । (सुवः न ज्योतिः) वह सूर्य के समान ज्योति-वाला होता है, (यः एवं वेद) जो ऐसा जाता है । (इति उपनिषद्) यही उपनिषद् है, ब्रह्म विद्या है ।

"तम् औपनिषदं पुरुषं त्वा पृच्छामि"

॥ बृहदा. ।३।९।२६ ॥

उस ब्रह्म विद्या से जानने योग्य पुरुष को तुमसे पूछता हूँ ।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥

॥ केन । ४।७ ॥

हे आचार्य ! उपनिषद् कहें, ऐसा शिष्य द्वारा कहे जाने पर आचार्य कहते हैं कि तुझसे मैंने उपनिषद् कह दी। निश्चय ही अब ब्राह्मी उपनिषद् कहेंगे।

यदेव विद्यया करोति श्रद्धया, उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।
॥ छान्दोग्य ।१।१।१० ॥

जिस कर्म को विद्या से, श्रद्धा से और उपनिषद् से अर्थात ज्ञान-पूर्वक अथवा गुरु से प्राप्त मार्गनिर्देश के अनुसार किया जाता हैं, वही वीर्यवान् होता है अर्थात् वह कार्य विशेष रूप से फलदायक एवं शक्तिदायक होता है।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥
॥ बृहदा. । २।१।२० ॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर से ही जाला निकाल कर उसमें विचरती है, जिस प्रकार अग्नि से छोटी - छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं. उसी प्रकार इस आत्मा (परमात्मा) से सब प्राण, सब लोक, सब देव तथा सब भूत निकलते हैं, उत्पन्न होते है। इस आत्मा का उपनिषद् अर्थात ज्ञान अथवा स्वरुप सत्य का सत्य है। निश्चय ही प्राण सत्य हैं, उन प्राणों का प्राण यह आत्मा सत्य है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं,
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा,
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

॥ मुण्डक ।२।२।३ ॥

(सोम्य) हे प्रिय ! (औपनिषदं महास्त्रं) उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्या के महान अस्त्र रूपी (धनुः) धनुष को (गृहीत्वा) लेकर (ही) निश्चय ही (उपासानिशितं) उपासना तथा ध्यान द्वारा तीक्ष्ण किये गये (शरं सन्धयीत) आत्मारूपी वाण को चढ़ाओ तथा (भावगतेन चेतसा) भक्तिभावनापूर्ण चित्त से (तत् आयम्य) उस धनुष को खींच कर (तत् अक्षरं एव लक्ष्यम् विद्धि) उस अविनाशी परब्रह्म रूपी लक्ष्य को ही बींधो।

श्वेताश्वतर - उपनिषद् के निम्नांकित श्लोक (५।६) से उपनिषद् का वेद से क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट होता है :—

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥

(तद्) वह (वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम्) ब्रह्म से सम्बन्धित वेदों की गूढ़ विद्या उपनिषदों में गूढ़रूप से वर्णित है। (ब्रह्मयोनिम्) वेदों की उत्पत्ति के कारण अर्थात् वेदों को उत्पन्न करने वाले, (तद्) उस ब्रह्म को (ब्रह्मा वेदते) चारों वेदों का ज्ञाता ही जानता है। (ये पूर्वदेवाः) जो पूर्वकाल के विद्वान् (च) तथा (ऋषयः) ऋषि लोग (तद् विदुः) उस ब्रह्म को जानते थे, (ते तन्मया अमृता बभूवुः) वे उस ब्रह्म में तन्मय होकर अमृत हो गये।

इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा गया है :—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥

॥ केन । ४ । ८ ॥

(तस्यै) उस ब्राह्मी उपनिषद् के तप, दम अर्थात् मन एवं इन्द्रियों का निग्रह, श्रेष्ठ कर्म तथा वेद एवं सम्पूर्ण वेदाङ्ग आधार हैं, आश्रय हैं तथा सत्य उसका आयतन, निवास स्थान है अर्थात् यह

ब्राह्मी उपनिषद् वेद-वेदाङ्गों पर आधारित है तथा सत्य में स्थित है, और इसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा उस पर आचरण करने के लिए तप, मन एवं इन्द्रियों का निग्रह तथा श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन आवश्यक है।

उक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों का आधार वेद हैं तथा वेदों में वर्णित ब्रह्म ज्ञान को ही सरलरूप से उपनिषदों में वर्णित किया गया है। ऐसा नहीं है कि उपनिषदों में वैदिक काल के पश्चात स्वतंत्र रूप से विकसित कोई विचारधारा है, जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करने वाले कुछ तथाकथित विद्वान् कभी कभी लिख देते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् का वास्तविक अर्थ वेद में गूढ़ रूप से वर्णित आत्मज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान है।

भारतीय संस्कृति एवं उपनिषद्

सभी प्राचीन उपनिषदें वेदों पर आधारित हैं और वेदों की ब्रह्मविद्या को अपेक्षाकृत सरल एवं स्पष्ट रूप से समझाने के लिए महर्षियों द्वारा रचे गये हैं। केवल ईशावास्योपनिषद् ही किसी पुरुष द्वारा नहीं लिखा गया है क्योंकि वह वेद का भाग है।

इस प्रकार उपनिषद् भारतीय संस्कृति के आधार भूत ग्रन्थों में है। हमारी संस्कृति की यह गौरवशाली परम्परा रही है कि समस्त संसार के लोग ज्ञान प्राप्ति के लिये यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते रहे हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

॥ मनु. । २ । २० ॥

इस देश में उत्पन्न हुये विद्वान ब्राह्मणों के पास आकर समस्त विश्व के मानव अपने अपने चरित्र अर्थात् आचरण एवं ज्ञान की शिक्षा ग्रहण करें।

किन्तु आज हम स्वयं ही वेद तथा उपनिषद् जैसे अपने श्रेष्ठ ग्रन्थों की उपेक्षा करके बड़ी तेजी से विदेशी संस्कृतियों के परमुखापेक्षी होकर पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। क्या आज हमारे नवयुवक तथा किशोर देश की उस गौरव गाथा से परिचित हैं जिसका वर्णन हमारे मनीषियों ने निम्न प्रकार किया हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।
।। विष्णुपुराण । ३ । २४ ।।

निश्चय ही देवगण जिसकी प्रशंसा का निरन्तर गान करते हैं और जहाँ देवता भी बार-बार पुरुष के रूप में अवतरित होते हैं, ऐसी स्वर्ग एवं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाली भारत भूमि में जन्म लेने वाले धन्य हैं।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।।
।। विष्णु पुराण । ३ । २२ ।।

हे महामुने ! इस जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह कर्मभूमि है जबकि अन्यान्य देश भोगभूमियाँ हैं।

जानीम नैतत् क्व वयं विलीने
स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।

प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ॥

॥ विष्णु पुराण ३ । २६ ॥

पता नहीं, अपने स्वर्गप्रद कर्मों का क्षय होने पर हम कहाँ जन्म ग्रहण करेंगे ? निश्चय ही वे मनुष्य धन्य हैं जो भारतवर्ष में स्वस्थ शरीर एवं इन्द्रियों सहित पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं ।

ऐसा यशस्वी गौरवशाली स्वर्णिम देश है हमारा, किन्तु हमने आज अपने ही कुकृत्यों एवं अज्ञान से अपने इस महिमा मण्डित देश की और अपनी संस्कृति की क्या दशा कर दी है, यह विचारणीय है । आज अपने देशवासियों के समक्ष उपनिषदों एवं वेदान्त के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों के मत हमें केवल इसलिए उद्धृत करने पड़ रहे हैं कि लोग उनके वास्तविक महत्व को समझ कर उनकी ओर आकर्षित हो सकें और अपने को गौरवान्वित अनुभव कर सकें ।

विदेशी विद्वानों की दृष्टि में उपनिषद्

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने लिखा है—

"In the whole world there is no study.......so. beneficial and so elevating as that of upanishads......

It has been the solace of my life and it will be the solace of my death."

सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो । यह मेरे जीवन में शान्ति देने वाला रहा है और यह मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति देगा ।

उन्होंने आगे लिखा है—

"(They) are a product of the highest wisdom....... It is destined sooner or later to become the faith of the people."

"वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। एक न एक दिन ये अवश्य ही सम्पूर्ण मानवता का धर्म बनेंगे।"

इसी प्रकार प्रोफेसर मैक्समुलर ने लिखा है—

"The upanishds are the......sources of....the vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme."

"उपनिषद् वेदान्त दर्शन के मूल स्रोत हैं, जिनमें मेरे विचार से, मनुष्य का ज्ञान अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है।"

डा० गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) कहते हैं—

"The vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought."

इसका भाव यह है कि वेदान्त प्राच्यविचार धारा का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक पॉल डायसन ने अपनी 'दार्शनिक सिद्धान्त' की पुस्तक की भूमिका में लिखा है—

"Philosophy of upanishads is the culminating point of the Indian doctrine of the universe. This point has been already reached in the vedic, pre-Buddhist times, and in philosophic significance has been surpassed by none of the latter developments of thought upto the present day."

उपनिषदों का दर्शन ब्रह्माण्ड के विषय में मानवीय विचारधारा

का वह सर्वोच्च बिन्दु है जो वैदिक युग में प्राप्त किया जा चुका था और तब से आज तक इससे श्रेष्ठ कोई ज्ञान विकसित नहीं हो सका है।

इस्लाम धर्मावलम्बियों में भी मुगल शाहज़ादा दाराशिकोह के अतिरिक्त मंसूर, सर्मद, फैजी, बुल्लाशाह आदि अनेक ऐसे विद्वान हुये हैं, जिन्होंने उपनिषदों को अपने जीवन का मार्गदर्शक बनाया। दाराशिकोह ने तो ईशोपनिषद् का फारसी में अनुवाद भी किया था और उसी से उसे शान्ति प्राप्त हुई थी।

परमात्मा तथा आत्मा

जगत् का प्रवर्तक परमात्मा है और शरीर का संचालक आत्मा है। जैसे परमात्मा का अंश शरीर में जीवरूप से आया हुआ है, वैसे ही अग्नि, वायु सूर्य आदि तेंतीस देवता अंश रूप में इस जीवात्मा के साथ शरीर में आकर इन्द्रियों और अवयवों में बसे हुये हैं। इन सबको जीवन देने वाला तथा विभिन्न इन्द्रियों को अपना अपना कार्य करने के योग्य स्थिति में रखने वाला, आत्मा है।

वैदिक वाङ्मय में जो परमात्मा वाचक शब्द हैं वे मर्यादित भाव के साथ जीवात्मा के भी वाचक हैं और जो जीवात्मा के वाचक शब्द हैं वे असीमित एवं विस्तृत रूप में परमात्मा के भी वाचक हैं। इस प्रकार के प्रायः सभी शब्द दोनों के लिए सामान रूप से प्रयुक्त होते हैं क्योंकि दोनों के गुण धर्म बहुत अंशों में समान ही हैं तथा दोनों का पिता पुत्र का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है, किन्तु परमात्मा सदा पूर्ण ज्ञानी, शुद्ध, बुद्ध एवं स्वयंभू है जबकि आत्मा का ज्ञान सीमित है, वह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान से भी युक्त होता है और कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र है। अस्तु इस अवस्था के बोधक जो शब्द जीवात्मा के लिये प्रयुक्त होते हैं, वे परमात्मा के लिए कभी प्रयुक्त नहीं होते।

वेदों में परमात्मा के जिन गुणों का वर्णन है, उनका चिन्तन करता हुआ, तथा उन गुणों का अपने अन्दर विकास करता हुआ ही जीवात्मा अपनी उत्तरोत्तर उन्नति करते हुये परम गति को प्राप्त हो सकता है। इसीलिए अनेक मन्त्रों में परमात्मा के गुणों का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है।

मन्त्र दृष्टा ऋषि

जिस ऋषि ने वेद के जिस मन्त्र का अर्थ प्रकाशित किया है, उसे उस मन्त्र का दृष्टा कहते हैं।

महर्षि दयानन्द के शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य में इस अध्याय के मन्त्रों के ऋषि का नाम दीर्घतमा लिखा गया है और उसी के आधार पर उपनिषद् के इस भाष्य में भी दीर्घतमा ऋषि का ही उल्लेख किया जा रहा है किन्तु पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने यजुर्वेद सर्वानुक्रमणी के आधार पर लिखा है कि इन मन्त्रों का ऋषि दध्यङ् अथर्वा है।

ऋचं वाचं पञ्चाध्यायी दध्यङ्ङाथर्वणो ददर्श।

। यजु. सर्वानुक्रमणी । ४ । ५ ।।

यजुर्वेद के अन्तिम पाँच अध्यायों के ऋषि दध्यङ् अथर्वा हैं।

गोपथ ब्राह्मण में अथर्वा शब्द की व्युत्पत्ति निम्नप्रकार दी गई है—

तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्।

।। गोपथ । १ । ४ ।।

(तद् यद् अब्रवीत्) वह जो उसने कहा कि (अथ अर्वाङ्) अब सामने (एनम्) इस पुरुष को (एतासु एवं अप्सु) इन्हीं जलों में (अन्विच्छ) खोज। (तद् अथर्वा अभवत्) अतः वह (अथ + अर्वाङ्) =अथर्वा कहलाने लगा।

अप्सु शब्द का प्रयोग सम्भवतः इसलिये किया गया है कि यह "आपृ व्याप्तौ" धातु से बना है। जिस प्रकार भगवान सर्वव्यापक है, उसी प्रकार किसी न किसी रूप में जल हर स्थान पर उपलब्ध रहता है। वाष्प के रूप में जल के कण तो वायु में हर समय उपलब्ध रहते हैं। इसीलिये भगवान् को, सर्वत्र व्याप्त इस तत्व, जो 'यहाँ पर भी है,' में खोजने की बात कही गई है। यह उल्लेखनीय है कि आपः शब्द ब्रह्म का भी वाचक है तथा प्रकृति को अपोमय कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर को बाहर कहाँ ढूँढ़ते हो, यहीं अपने अन्दर ढूंढो, ऐसा कहने वाले ऋषि अथर्वा नाम से प्रसिद्ध हुये। श्री सातवलेकर जी के अनुसार 'अथर्वा' शब्द का अर्थ सिद्ध कर रहा है कि इसका आत्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या के साथ सम्बन्ध है।

निरुक्त में अथर्वा शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी गई है—

अथर्वाणः अथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः।

॥ निरुक्त । ११ । २ । ६ ॥

थर्व का अर्थ है गति अतः अथर्वा का अर्थ गति रहित अथवा निश्चल हुआ। योग साधन करने के पश्चात जो मन की स्थिरता, एकाग्रता, अचंचलता सिद्ध होती है, उसका दर्शक यह शब्द है। स्थिरबुद्धि, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ, योगी यह इसका भाव है। इस प्रकार के योगी का ब्रह्म विचार के साथ सम्बन्ध होना स्पष्ट ही है। इसलिए इस अध्याय का 'अथर्वा' ऋषि नाम बता रहा है कि इस अध्याय में ब्रह्म विचार किंवा आत्मविचार हुआ है।

देवता

जिस मन्त्र में जिसका वर्णन होता है, वही उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। देवता का ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाने पर वेद मन्त्रों

का अर्थ करना सरल हो जाता है। वैदिक पुस्तकालय अजमेर से प्रकाशित यजुर्वेद संहिता में इस अध्याय के सभी मन्त्रों का देवता आत्मा लिखा गया है। केवल अनेजदेकं मन्त्र का देवता ब्रह्म लिखा गया है।

इस अध्याय में आये हुये देवता सूचक शब्द निम्न प्रकार हैं—

क्रमाङ्क	मन्त्र	देवता सूचक शब्द
१-	ईशावास्यं	ईश
२-	कुर्वन्नेवेह	—
३-	असुर्या नाम	—
४-	अनेजदेकं	एकं, एनत्
५-	तदेजति	तत्
६-	यस्तु सर्वाणि	आत्मा
७-	यस्मिन्त्सर्वाणि	आत्मा
८-	स पर्यगात्	सः, कविः
९-१४	अन्धं तमः	—
१५-	हिरण्मयेन	पूषन्, सत्य,
१६-	पूषन्नेकर्षे	एक, पूषन्, यम,
१७-	वायुरनिलं	ओ३म्
१८-	अग्ने नय	अग्नि

इस प्रकार देवता वाचक मुख्य शब्द ईश, आत्मा, कवि, यम, सत्य, पुरुष, ब्रह्म ओम् तथा अग्नि हैं। यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि ये शब्द एक ही देवता, एक ही ईश्वर के द्योतक हैं, भिन्न-भिन्न देवताओं के नहीं, जैसा कि निम्नांकित मन्त्र से स्पष्ट है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
अथर्व. ९ । १० । २८ — ऋग्. १ । १६४ । ४६ ।।

एक ही ईश्वर का विद्वान लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। उसी को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान, यम तथा मातरिश्वा कहते हैं।

यही बात यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र से स्पष्ट होती है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।
यजु० ३२ । १ ।

वही अग्नि, वही आदित्य वही वायु और निश्चय ही वही चन्द्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही आप तथा वही प्रजापति है। अर्थात् अग्नि आदित्य आदि नामों से ईश्वर का ही वर्णन होता है। वही परमात्मा अग्नि, आदित्य आदि रूपों में कार्य कर रहा है, अग्नि आदि के वर्णन से उसी का वर्णन होता है।

अथर्ववेद में कहा गया है—

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ।।
यजु० १७ । २७ — (अथर्व० २।१।३)

वह आत्मा हम सबका पिता, जनक और बन्धु है। वह सब भुवनों और स्थानों को यथावत जानता है। (यः देवानां नामधः

एक एव) जो सब देवों का नाम अपने लिये धारण करता है और जो केवल एक ही है, (तं सम्प्रश्नं भुवना: यन्ति सर्वा:) उसी प्रश्न पूछने योग्य अथवा जानने योग्य प्रभु को समस्त भुवन, समस्त लोक प्राप्त होते हैं, उसी के आधार पर स्थित हैं।

ज्ञान एवं बल

बल के महत्व को बताते हुये छान्दोग्य उपनिषद् ७।८।१ में बलवान बनने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षा दी गयी है--

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते।.........बलेन वै पृथिवी तिष्ठति। बलेनान्तरिक्षम्। बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलकम्। बलेन लोकस्तिष्ठति। बलमुपास्वेति।

बल विज्ञान से भी बढ़कर है। लोक में एक ही बलवान सौ ज्ञानियों को कंपा देता है।.........बल से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव, मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, तृण एवं वनस्पति तथा समस्त लोक स्थित हैं। अत: बल की उपासना करो, पहले बलवान बनो।

ज्ञान तथा कर्म

ज्ञान तथा कर्म अन्योन्याश्रित हैं और दोनों की साथ साथ उपयोगिता है। मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

गरुड पुराण

मनुष्य को उसके द्वारा किये गये शुभ अशुभ कर्मों का फल

अवश्य भोगना पड़ता है। किये हुये कर्म सैकड़ों करोड़ों जन्मों में भी बिना भोग के क्षीण नहीं होते। सम्यक् ज्ञान के बिना सत् कर्म करना असम्भव है क्योंकि जिसे सत् असत् का विवेक ही नहीं है, वह तो शुभ कर्म करने में सर्वथा असमर्थ ही रहेगा। इसीलिए प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सद्बुद्धि की प्रार्थना की गयी है ताकि मनुष्य अपने समस्त कार्य ज्ञानपूर्वक कर सके, गलत मार्ग पर न चले।

वास्तव में वही ज्ञान सफल है, जो सत्कर्मों का कारण बने और वही कर्म सफल होता है जो ज्ञानपूर्वक किया जाय। वही उपासना सफल एवं सार्थक होती है जो सत्य ज्ञान एवं सत्कर्मों पर आधारित होती है। अज्ञानी एवं दुराचारी पुरुष सच्ची उपासना कर ही नहीं सकता।

ज्ञान तथा कर्म दोनों का महत्व प्रत्येक मनुष्य के जीवन में है और दोनों को मिलाकर ही मनुष्य पहले इस जीवन में सफलता और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर सकता है, केवल एक से नहीं। इसीलिए भगवान ने प्रत्येक मनुष्य के शरीर में हृदय के साथ कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों दी हैं। श्रद्धा, विश्वास तथा भक्ति का स्थान हृदय है अतः उपासना का सम्बन्ध हृदय से होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य का जीवन न केवल कर्म से और न केवल ज्ञान से सफल हो सकता है। इसके लिए ज्ञान कर्म तथा उपासना तीनों के समुच्चय की परम आवश्यकता है।

वर्तमान समय में उपासना केवल अन्ध भक्ति पर ही आधारित है। वह ज्ञानपूर्वक नहीं होती। अतः उसका फल भी नगण्य होता है। अन्ध भक्ति से उपासना करने वालों को कुछ मनस्तोष भले ही हो किन्तु इसके अतिरिक्त उसका कुछ भी फल नहीं हो सकता। वास्तव में अन्ध भक्ति से हमारे श्रेष्ठ धर्म की स्थिति हास्यास्पद हो जाती है और नवयुवकों में नास्तिकता का जन्म होता है।

यद्यपि इस उपनिषद् में ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय की, ज्ञान-पूर्वक सत्कर्म करने की स्पष्ट शिक्षा दी गई है, फिर भी कुछ भाष्य-कार अनुचित रूप से इसका प्रतिषेध करते हैं। स्वामी शङ्कराचार्य जी के अनुसार इसका पहला मन्त्र ज्ञानी के लिये है तथा दूसरा मन्त्र ऐसे व्यक्ति के लिये है जो ज्ञान का अधिकारी नहीं है क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान तथा कर्म में विरोध है और दोनों का समुच्चय किसी भी दशा में नहीं हो सकता।

किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रथम मन्त्र में यह बताते हुये कि यह समस्त जगत ईश्वर से व्याप्त एवं आच्छादित है, यह निर्देश दिया गया है कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' उसका त्याग भाव से भोग करो। यह शिक्षा अनासक्ति योग का मूल है किन्तु इसमें कर्म का निषेध नहीं है।

इसी उपदेश को और आगे बढ़ाते हुये दूसरे मन्त्र में कर्मयोग की शिक्षा दी गई है तथा कर्म करने का स्पष्ट निर्देश देते हुये कहा गया है कि कर्म करते हुये ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना चाहिये, इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।

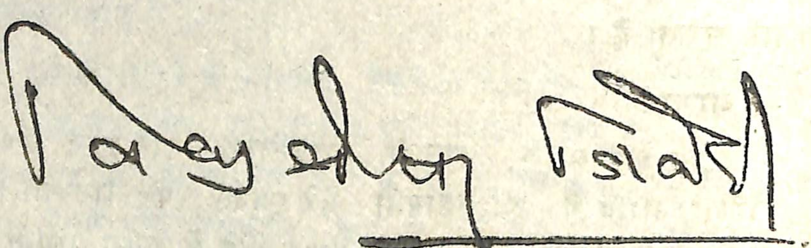
उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट है कि इन दोनों मन्त्रों में परस्पर कोई विरोध नहीं है अपितु इन दोनों में मिलाकर मानवधर्म की ऐसी सम्पूर्ण शिक्षा दी गई है जिससे समस्त मानव जाति का कल्याण हो सकता है।

आभार

इस पुस्तक के लेखन में, पाण्डुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ रीडिंग आदि में जो सहायता मेरे पुत्रवत् पं० रामवली द्विवेदी एम० ए० दर्शनाचार्य ने की है, उसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ तथा ऋणी हूँ। वास्तव में उनके उत्साह एवं विद्वत्ता पूर्ण सहयोग के बिना इसका पूर्ण होना अत्यन्त कठिन था।

पुस्तक के मुद्रण एवं प्रकाशन में मेरे कनिष्ठ पुत्र चि० सौरभ त्रिवेदी का अमूल्य योगदान रहा है। आई० ए० एस० की परीक्षा की तैयारी करने के अपने बहुमूल्य समय में से भी उसने बहुत सा समय निकाल कर, उमा प्रकाशन लिमिटेड के बन्द पड़े प्रेस को पुन: चलवा कर इस पुस्तक का मुद्रण करवाने का सराहनीय कार्य किया है, जिसके लिये वह प्रशंसा का पात्र है। भगवान् से प्रार्थना है कि उसे चिरंजीवी सुखी, सफल एवं यशस्वी बनायें तथा उसके सभी मनोरथों को पूर्ण करें। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमा त्रिवेदी ने न केवल मुझे इस पुस्तक के लेखन के लिये सतत् प्रेरणा दी बल्कि श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान, जिसकी वह कर्मठ एवं सुयोग्य अध्यक्ष हैं, के तत्वावधान में इसका प्रकाशन करवा कर मेरे प्रयासों को सफल बनाया है। उनके अमूल्य सहयोग के बिना इस पुस्तक का मुद्रण एवं प्रकाशन किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था।

अन्त में सुविज्ञ पाठकों एवं विद्वानों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वैदिक ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से लिखी गई इस पुस्तक में असावधानी अथवा अज्ञानता वश जो त्रुटियां रह गई हों, उनके लिये क्षमा करें तथा इसे और अधिक उपयोगी बनाने के लिये अपना बहुमूल्य परामर्श देने की कृपा करें जिससे वैदिक ज्ञान की प्रखर ज्योति से जन-जन के जीवन को आलोकित किया जा सके।



दिनाङ्क १६ अगस्त १६८६

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यह श्लोक बृहदारण्यक उपनिषद् के पाँचवे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में भी आया है ।

(अदः पूर्णम्) वह ब्रह्म पूर्ण है, (इदं पूर्णम्) यह संसार पूर्ण है, (पूर्णात् पूर्णं उदच्यते) उस पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, (पूर्णस्य पूर्णम् आदाय) पूर्ण का पूर्ण लेकर अथवा पूर्ण में से पूर्ण लेकर (पूर्णः एव अवशिष्यते) पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है ।

तात्पर्य यह है कि उस पूर्ण ब्रह्म से यह समस्त संसार, जो कि पूर्ण है, निकलने पर भी ब्रह्म पूर्ण ही रहता है, उसमें किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं होती ।

इसी प्रकार प्रलय काल में इस पूर्ण संसार को अपने में लीन कर लेने पर भी ब्रह्म पूर्ण ही रहता है, उसमें कोई अभिवृद्धि नहीं होती ।

इस मन्त्र में उक्त शाश्वत सत्य के साथ-साथ गणित का यह महत्व पूर्ण सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि पूर्ण में से पूर्ण घटाने पर पूर्ण ही शेष रह जाता है । यही स्थिति पूर्ण में पूर्ण का योग अथवा गुणा करने से भी होती है ।

इस मन्त्र में प्रतिपादित यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त कि पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है अङ्कविद्या से भी सही प्रमाणित होता है । अङ्कों में ९ के अङ्क को पूर्ण माना जाता है क्योंकि किसी भी अङ्क अथवा संख्या से इसका गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, उसके अङ्कों का योग सदैव ९ ही होता है ।

प्रमुख अङ्कों की संख्या नौ है, अतः इन सम्पूर्ण अङ्कों को आरोही

तथा अवरोही क्रम में लिखे जाने पर इनसे बनने वाली संख्या भी पूर्ण संख्या हुई।

पूर्ण संख्या ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १ = ४५ = ९
–(पूर्ण संख्या १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ = ४५ = ९)
शेष पूर्ण संख्या ८ ६ ४ १ ९ ७ ५ ३ २ = ४५ = ९

इस प्रकार गणित से भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
दैहिक भौतिक दैविक।

अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, इन त्रिविध तापों का उपशमन हो। मनुष्य के जीवन में शान्ति हो, समाज एवं राष्ट्र में शान्ति हो, समस्त चराचर जगत में शान्ति हो।

यही भाव अथर्ववेद के निम्नांकित मन्त्र में आया है।

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।

उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते॥

॥ अथर्व। १०। ८। २९॥

(पूर्णात् पूर्णं उदचति) पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, (पूर्णं पूर्णेन सिच्यते) पूर्ण पूर्ण के द्वारा सींचा जाता है। (उतो अद्य तत् विद्याम) और आज हम उसे, उस पूर्ण परमात्मा को जानें (यतः तत् परिषिच्यते) जिससे यह पूर्ण जगत सींचा जाता है।

जगत् तथा जगदीश्वर का यह कितना सुन्दर वर्णन है। यह संसार स्वयं में पूर्ण है और उस पूर्ण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। जो लोग जगत् को मिथ्या कहते हैं उन्हें यह मन्त्र ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार वह पूर्ण परमेश्वर इस पूर्ण संसार का पालन-पोषण करता है, इसे जीवन रस से सींचता है। यदि वह इसे जीवन रस से न सींचे तो यह संसार तुरन्त ही बिना सींचे हुए पौधे की तरह सूख कर नष्ट हो जाय।

जीवन रस का वह कैसा अद्भुत एवं अनन्त महासागर है, कि उसका रस न कभी सूखता है, न पुराना होता है, और न कम होता है, बल्कि उसके द्वारा निरन्तर सींचा हुआ यह जीवन मृत्यु पर शाश्वत विजय के रूप में सर्वत्र प्रतिभासित होता है। ऐसी है भगवान् की अपार शक्ति एवं उसकी इस संसार पर असीम कृपा तथा करुणा।

जिस प्रकार माली प्रत्येक पौधे को सींचता है, उसी प्रकार वह प्रभु छोटे से छोटे प्राणी को भी अपने अनन्त जीवन रस से सींचता है और यह क्रिया अनादि काल से अनन्त काल तक चलती रहेगी। कैसा अद्भुत है भगवान् का जनक एवं पालक का यह रूप!

मंत्र में यह उपदेश दिया गया है कि हम सबको उस सींचने वाले दयामय, करुणामय प्रभु को जानने का सदैव प्रयास करना चाहिए। यही हमारे जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य अथवा ध्येय होना चाहिये।

इस जीवन स्रोत का अत्यन्त सुन्दर वर्णन निम्नांकित मन्त्र में किया गया है :—

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥

॥ अथर्व । १ । ३२ । ३ ॥

(रेजमाने रोदसी) गतिशील द्यावा-पृथिवी ने (संयुक्त रूप से) (भूमिः च) तथा पृथिवी ने (यत्) जो जीवन स्रोत प्रवाहित किया है, (तत् समुद्रस्य स्रोत्याः इव) वह अगाध महासागर के स्रोतों के समान (अद्य सर्वदा आर्द्रम्) आज भी उसी प्रकार आर्द्र है, जीवन रस से परिपूर्ण है जैसा वह सदा से, अनादिकाल से रहा है।

जिस प्रकार महासागर के स्रोत अनन्त होते हैं, कभी न सूखने वाले होते हैं, उसी प्रकार जीवन-रस के जो स्रोत द्युलोक तथा पृथिवी लोक से संयुक्त रूप से अथवा केवल पृथिवी से ही निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं, वह आज भी जीवन-रस से उसी प्रकार परिपूर्ण हैं, जैसे वह सदा से रहे हैं। उनमें कोई कमी नहीं हुई है तथा भविष्य में भी अनन्तकाल तक यह जीवन-स्रोत इसी प्रकार भरे हुये, अविरल रूप से प्रवाहित होते रहेंगे। ऐसी है भगवान् की महिमा।

श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है :—

"जो इस द्यावा-पृथिवी के अन्दर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा, सर्वदा, जिस समय बना है उस समय से लेकर इस समय तक बराबर जीवन-रस से परिपूर्ण होने के कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन-रस ऐसे भरा है जैसे सरोवर से चलने वाले विविध स्रोतों में सरोवर का जल चलता है।"

"जिस प्रकार एक ही सरोवर से अनेक स्रोत चलते हैं, तो उनमें एक ही जीवन-रस सबमें एक सा प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसार के अन्दर बने हुए अनन्त पदार्थों में एक ही अगाध जीवन के महासागर से जीवन-रस फैल रहा है, मानों सम्पूर्ण पदार्थ उस जीवनामृत से ओत-प्रोत भरपूर हो रहे हैं।"

यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म से ही प्रकट हुआ है और वह ब्रह्म ही मूल रस है, आनन्द का स्रोत है, यह तथ्य तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्रकार बताया गया है :--

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।
तदात्मानꣳस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।

॥ तै० उ० । ब्रह्मानन्दवल्ली । ७ । १ ॥

(अग्रे इदं वै असत् आसीत्) प्रारम्भ में निश्चय ही यह असत् अथवा अव्यक्त था। (ततः वै सत् अजायत) निश्चय ही उसके पश्चात् सत् अथवा व्यक्त या मूर्तरूप विश्व प्रकट हुआ, अस्तित्व में आया। (तत् स्वयं आत्मानं अकुरत) उसने, उस ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही इस विश्व के रूप में बनाया। (तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते)। अतएव इसको सुकृत अथवा उत्तम बनाया हुआ कहा जाता है।

भगवान् ने स्वयं अपने को ही इस विश्व के रूप में बना दिया, जिसके कारण यह विश्व उत्तम रूप से बनाया हुआ, सुकृत कहा जाता है। जिसे इस शान्ति पाठ में पूर्ण कहा गया है उसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में सुकृत कहा गया है। वास्तव में यह विश्व पूर्ण भी है और सुकृत भी। यह उल्लेखनीय है कि वेदों तथा उपनिषदों में संसार को मिथ्या, बुरा, आत्मा को फँसाने वाला अथवा दुःखों का कारण आदि निंदात्मक शब्दों से वर्णित नहीं किया गया है, प्रत्युत पूर्ण तथा सुकृत जैसे श्रेष्ठ शब्दों से वर्णित किया गया है। वैदिक धर्म की यह विशेषता है। हमें इसी के अनुरूप संसार को श्रेष्ठ कर्म-क्षेत्र

समझते हुये अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करना चाहिये, संसार से भागने का नहीं।

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

॥ तैत्ति० उप०। ब्रह्मानन्दवल्ली। ७। २॥

(यत् वै तत् सुकृतम्) निश्चय ही जो वह सुकृत संसार को उत्पन्न करने वाला है, (सः वै रसः) वही रस है, जीवनीशक्ति अथवा जीवनामृत का मूल स्रोत है, परमानन्दस्वरूप है। (अयं हि रसं लब्ध्वा आनन्दीं भवति) इसी रस को प्राप्त करके पुरुष आनन्दित होता है। (यत् एषः आनन्दः आकाशः न स्यात्) यदि परमात्मा का आकाश के तुल्य सर्वव्यापक यह आनन्द, यह जीवन रस न होता (कः हि एव अन्यात्) तो भला कौन जीवन धारण कर सकता, (कः प्राण्यात्) कौन श्वास ले सकता। (एषः एव आनन्दयाति) निश्चय से यह ब्रह्म ही आनन्द देता है, यही आनन्द का मूल स्रोत है।

परमात्मा का यह रस, यह आनन्द सर्वदा सर्वत्र व्याप्त है, उपलब्ध है। आवश्यकता है केवल हमारे अन्दर उस योग्यता की उस शक्ति की, जिससे हम उसे ग्रहण कर सकें, प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार संगीत से भरी हुई रेडियो तरंगें हमारे चारों ओर प्रवाहित होने पर भी हम उन्हें ग्रहण करके तभी संगीत सुन सकते हैं जब हमारे पास उपयुक्त रेडियो रिसीवर हो। उसी प्रकार भगवान् के इस आनन्ददायी सर्वत्र व्यापक रस को हम तभी ग्रहण कर सकते हैं जब हमारे अन्तःकरण में उसके लिए आवश्यक योग्यता अथवा क्षमता हो और हम उसे सही वेव लेङ्ग्थ (wave length) पर ट्यून (Tune) कर सकें।

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु-

द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।

समानं योनिमनु संचरन्तं-

द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥

॥ यजु० । १३ । ५ ॥

(योनिम् अनु) अपने कारण के अनुरूप अर्थात् परमात्मा की अनन्त महिमा के अनुरूप (यः च पूर्वः पृथिवीं द्यां इमं च अनु) द्युलोक में, पृथिवी में तथा अन्तरिक्ष में जो सब प्रकार से पूर्ण (द्रप्सः चस्कन्द) हर्ष, उत्साह तथा जीवन-रस उपलब्ध होता है उस (समानं योनिम्) प्रत्येक स्थान पर समान रूप से (अनुसंचरन्तं) सञ्चरण करते हुये, फैले हुये (द्रप्सं) पूर्ण आनन्द को मैं (सप्त होत्राः) पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा मन एवं बुद्धि की सहायता से (अनुजुहोमि) अनुकूलता से ग्रहण करता हूँ।

परमात्मा का सर्वव्यापी एवं अनन्त आनन्द, जीवन-रस, प्रत्येक प्राणी एवं पदार्थ के लिए हर स्थान पर सदा उपलब्ध रहता है आवश्यकता है केवल अपनी इन्द्रियों मन तथा बुद्धि को इस प्रकार सक्षम बनाने की कि हम उस आनन्द को अपने अन्दर ग्रहण कर सकें जैसे कि रेडियो तथा टी. वी. द्वारा संगीत आदि से युक्त विद्युत तरंगों को ग्रहण किया जाता है।

द्युलोक में, अन्तरिक्ष में और इस विस्तृत पृथिवी पर स्थित पहाड़ों में, समुद्रों में, जङ्गलों में, मरुस्थलों में, वर्फीले स्थानों में, हर जगह

भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी रहते हैं और इन सभी प्राणियों के लिए भगवान् का आनन्द, उत्साह तथा जीवन-रस समान रूप से संचरण करता रहता है और अपनी-अपनी क्षमता एवं आवश्यकता के अनुसार समस्त प्राणी उसे ग्रहण करते हैं। गहरे समुद्र में रहने वाले जीव उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करते हैं जिस प्रकार आकाश में उड़ने वाले पक्षी तथा पृथिवी पर चलने वाले देहधारी। द्युलोक में भगवान् का मूर्तिमान आनन्द सूर्य, चन्द्र (चन्द्र शब्द का तो अर्थ ही आनन्द देने वाला है) तथा नक्षत्रों के रूप में सबके लिए समान रूप से उपलब्ध है। आकाश में उसका आनन्द वायु, मेघ तथा जीवन देने वाले जलों के रूप में हमेशा भरा रहता है। पृथिवी पर उसके जीवन देने तथा आनन्द देने वाले अगणित पदार्थ स्थान-स्थान पर फैले हुये हैं। आवश्यकता है हमें केवल अपने को उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए सक्षम बनाने की, सही वेव-लेंग्थ पर ट्यून करने की। ऐसी है भगवान की अनन्त महिमा और ऐसा है प्राणियों के लिए उसका आनन्द एवं जीवन-रस रूपी दान।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में यह संसार सुकृत एवं पूर्ण है, इसमें कोई न्यूनता नहीं है, आवश्यकता है केवल अपनी क्षमता तथा योग्यता में वृद्धि एवं विकास करने की ताकि हम इसकी पूर्णता का अनुभव कर सकें और इसके माध्यम से परमानन्द को प्राप्त कर सकें।

इसके लिए शान्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बिना शान्ति के हम किसी प्रकार के आनन्द अथवा सुख का उपभोग नहीं कर सकते। शान्ति के बिना तो पूर्ण आयु का प्राप्त करना ही असम्भव है आनन्द की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं है।

आधुनिक भाषा में तनावों (Tensions) के अभाव को ही शान्ति कहेंगे। तनाव मुक्त जीवन का महत्व वैज्ञानिक अब समझ सके हैं, जबकि हमारे महर्षियों ने सृष्टि के आदिकाल में ही इसके महत्व को भली प्रकार दृष्टिगत करके शान्ति के महत्व को प्रतिपादित करते हुए ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः का महावाक्य मानव समाज को दिया था।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

यजु० ।४०।१

(जगत्यां) जगती में, सम्पूर्ण सृष्टि में (यत्किञ्च) जो कुछ भी, (जगत्) चराचर पदार्थ है, (इदं सर्वम्) यह सब (ईशावास्यम्) ईश्वर से आछादन करने योग्य, व्याप्त होने योग्य है, अर्थात् ईश्वर से आच्छादित एवं व्याप्त है। (तेन त्यक्तेन) (उसका त्यागभाव से, समर्पित भाव से, अनासक्ति भाव से (भुञ्जीथाः) उपभोग करो (कस्य-स्विद् धनम्) किसी के धन को, स्वत्व को, अथवा वस्तु को (मा गृधः) मत छीनो, उसकी अभिलाषा, आकांक्षा अथवा लिप्सा मत करो ।

अथवा– (मा गृधः) लालच मत करो, (धनं कस्य स्वित् ?) धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं, यह सब तो ईश्वर का है ।

जगत् शब्द का शाब्दिक अर्थ चलायमान है । "गच्छति इति जगत्" जो गतिशील है, उसे जगत् कहते हैं। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड ही गतिशील होने के कारण जगत् है। अतः यहाँ जगत शब्द का अर्थ संसार में स्थित समस्त चराचर पदार्थ लेना उचित है ।

मन्त्र में इच्छा के लिए 'गृध्' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार गृध्रः अथवा गिद्ध लालच से छीना झपटी करता है उस प्रकार किसी से उसके धन अथवा किसी अन्य वस्तु का लोभ लालच तथा अनधिकार चेष्टा करके छीना झपटी मत करो । धन किसका है ? वास्तव में किसी का नहीं क्योंकि समस्त सांसारिक पदार्थ ईश्वर के हैं और हमें उनका त्यागभाव से आसक्ति रहित होकर केवल भोग करने का अधिकार है।

श्री विनोबा जी ने लिखा है कि 'गृधः' गृध् धातु का रूप है, अंग्रेजी का ग्रीड शब्द इसी से बना है। गृध् धातु से ही ग्रध्रः गिद्ध अथवा गीध शब्द बनता है। वेदों में दूसरे का धन हड़पने वाली प्रवृत्ति को 'गृध्रवृत्ति' यह यथार्थ नाम दिया गया है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

इस मन्त्र भाग में ब्रह्मज्ञान की आधारभूत शिक्षा बताई गई है कि ईश्वर एक है जैसाकि एक वचन के प्रयोग से स्पष्ट है, और वह सम्पूर्ण सृष्टि के कणकण में व्याप्त है। उसी ने इस सृष्टि को धारण कर रखा है और वह परमपिता परमात्मा ही हमारा एक मात्र पूजनीय इष्ट देव है, अन्य कोई नहीं ।

ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं उसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को आवृत किये जाने, आच्छादित किये जाने के भाव का अत्यन्त सुन्दर अलंकारिक वर्णन पुरुष सूक्त के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में किया गया है।

ऋषिः नारायणः, देवता पुरुषः, अनुष्टुप् छन्दः।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रापात्।

स भूमिᳯं सर्वतः स्पृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

यजु० ३१।१

ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद में यह मन्त्र कुछ पाठ भेद के साथ निम्न प्रकार आया है।

सहस्राशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥

ऋग्।१०।९०।१

अथर्ववेद में सहस्र बाहुः शब्द आया है।

अथर्व १९।६।१

३ १ २　३　१२　३ २　३ १ २
सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्
१र　२र　३ १ २ ३ १ २　३　२
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥

सामवेद पूर्वा० ६।४।३

वह परम पुरुष हजारों सिर, हजारों आंखों तथा हजारों पैर वाला है और वह इस भूमि को, ब्रह्माण्ड को (विश्वतः सर्वतः) सब ओर से (स्पृत्वा, वृत्वा) घेरकर आच्छादित करके दश अङ्गुल के आकार वाले हृदय में, अथवा दशाङ्गुलम् (ब्रह्माण्ड) के अन्दर तथा उसके बाहर भी स्थित है।

पुरुषः—पुरि ब्रह्माण्डे शरीरे वा शेते इति पुरुषः।

ब्रह्माण्ड अथवा शरीर रूपी पुर अथवा नगर में जो शयन करता है, वह आत्मा तथा परमात्मा पुरुष कहा जाता है। जो इस जगत में पूर्ण हो रहा है अथवा जिसने अपनी सर्व व्यापकता से इस जगत को पूर्ण कर रखा है, उसे पुरुष कहते हैं।

ईश्वर में ही सब जगत के प्राणियों के असंख्य सिर, आँख और पैर स्थित हैं। इसलिये भी उसे सहस्राशीर्षा, सहस्त्राक्ष एवं सहस्रपात कहते हैं। दशाङ्गुल शब्द का अर्थ ब्रह्माण्ड शरीर एवं हृदय होता है, अङ्गुलि शब्द अङ्ग अथवा शरीर के अवयवों का वाची है। पाँच स्थूल भूत तथा पाँच सूक्ष्म ये मिलकर जगत के दश अवयव अथवा अङ्ग होते हैं। अतः ब्राह्मण्ड को दशाङ्गुल कहा जाता है। इसी प्रकार पाँच प्राण, मन बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं जीवात्मा ये मिलकर शरीर के दश अवयव हुये जिसके कारण शरीर भी दशाङ्गुल कहलाता है।

मनुष्य के शरीर में स्थित हृदयाकाश अथवा हृदयदेश दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है, जिसके कारण हृदय को दशाङ्गुल कहते हैं।

वास्तव में यह सारा संसार ब्रह्म का ही रूप है, ब्रह्म ही है। परमात्मा इसके कण कण में व्याप्त एवं ओत प्रोत है और वही प्रकृति एवं जीवात्मा सब पर शासन करने वाला हैं, सबका ईश्वर है जैसाकि पुरुषसूक्त के निम्नाङ्कित मन्त्र में कहा गया है।

पुरुषऽएवेदं ꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।

ऋग् १०/९०/२ यजु० ३१।२

पुरुष एव इदं सर्वं यह वाक्य अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इसका अर्थ है कि भूत, भविष्य और वर्तमान में जो कुछ भी था, जो कुछ भी होगा और जो कुछ भी हैं, वह सब पुरुष ही है। वह पुरुष उस (अमृतत्व) जीवात्मा का भी स्वामी है, जो अन्न के साथ इस शरीर में (अतिरोहति) बढ़ता है, उन्नति करता है।

अथर्ववेद में यह मन्त्र इस प्रकार आया है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह।

अथर्व० १९/६/४

(उत अमृतत्वस्व ईश्वरः) वह उस अमृतत्व का भी ईश्वर है, जो (अन्येन सह अभवत्) अन्य के साथ रहता है। तात्पर्य यह है कि वह परमात्मा उस जीवात्मा का भी स्वामी है जो अन्य अर्थात् अपने से भिन्न मरणधर्मा शरीर के साथ रहता है और जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है (अन्नेन अतिरोहति) अन्न के साथ शरीर में

बढ़ता है, रहता है। अन्न पर ही शरीर आधारित है और उसी से शरीर बढ़ता है, उन्नति करता है। अतः अन्न के साथ आत्मा के बढ़ने की उन्नति करने की बात कही गयी है।

सामवेद में कुछ पाठ भेद के साथ निम्नाङ्कित मन्त्र द्वारा ब्रह्म का और भी अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २
पुरुष एवेदं ꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

॥ साम पूर्वा. / ६ / ४ / ५ – क्र.स.६१९॥

(यद् भूतं यत् च भाव्यम्) भूत, वर्तमान और भविष्य जो कुछ भी है (पुरुषः एव इदं सर्वम्) वह सब पुरुष ही हैं। (सर्वाः भूतानि अस्य पादः) समस्त प्राणी समस्त भूत मात्र इस पुरुष का केवल एक पाद है, एक अंश हैं, अर्थात् समस्त चराचर सृष्टि इसके केवल एक पाद से, एक अंश से उत्पन्न हुई है और (अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतम्) इसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप से स्थित हैं।

मुण्डकोपनिषद् में "पुरुष एव इदं सर्वम" को निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है:–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

॥ मुण्डक/२/२/११॥

(इदं अमृतं ब्रह्म एव) यह (सब) अमृत ब्रह्म ही है। (पुरस्ताद् ब्रह्म) सामने ब्रह्म (पश्वाद् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म, (दक्षिणः) दायीं ओर (च उत्तरेण) और बाँयी ओर (अधः च ऊर्ध्वं च) नीचे और ऊपर भी ब्रह्म ही (प्रसृतम्) फैला हुआ है। (इदं विश्वं) यह समस्त विश्व (इदं वरिष्ठं ब्रह्म एव) यह श्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में समस्त विश्व को ब्रह्म की महिमा बताते हुए कहा गया है।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

ऋग् / १०/९०/३ यजु० / ३१/३

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

अथर्व / १६ / ६/३

(एतावान् अस्य महिमा) यह समस्त ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है, इस विश्व से केवल उसकी महिमा का बोध होता है, वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक महान् और श्रेष्ठ है। समस्त चराचर जगत केवल, उसका एक पाद है, एक अंश हैं और उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप में स्थित हैं। उस महान् पुरुष के एक अंश से उत्पन्न होने वाली यह सृष्टि सदा परिवर्तित होती रहती है, बनती और बिगड़ती रहती हैं किन्तु उसके तीन पाद अर्थात् वह पूर्ण पुरुष अपने अमृत स्वरूप में सदा अविकारी, अपरिवर्तनशील एवं ध्रुव होकर रहता है। वास्तव में सृष्टि रूपी अंश को निकालने के बाद भी वह परमात्मा सदा पूर्ण ही रहता है। (पूर्णमेवावशिष्यते)।

ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा उसके द्वारा विश्व को परिवेष्टित किये जाने का भाव कृष्ण यजुर्वेदीय श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा गीता में अत्यन्त मनोहारी ढंग से वर्णित किया गया है—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

॥ श्वेता. । ४/१४ ॥

(कलिलस्य मध्ये) संसार के मध्य में स्थित अर्थात् इसमें ओत प्रोत सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, अनेक रूप वाले इस विश्व को उत्पन्न करने वाले तथा इस विश्व को सब ओर से परिवेष्टित करने वाले उस एक मात्र कल्याणकारी प्रभु को जानकर जीव परम शान्ति को प्राप्त होता है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

श्वेता./३/१६ गीता ॥ १३/१३ ॥

वह परम पुरुष संसार में सब ओर हाथ पैर वाला, सब ओर शिर, आँख और मुखवाला तथा सब ओर कान वाला है। वह सब को सब ओर से घेर कर, आच्छादित करके स्थित है। परमात्मा की सर्वरूपता सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता एवं सबको धारण करने की शक्ति का यह कैसा वेदानुकूल मनोहारी आलंकारिक वर्णन है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस भाव का वर्णन निम्नप्रकार किया गया है :—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षीभूत्वा पुरः पुरुषऽआविशद् इति ।
स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन
किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥

॥ बृहदा / २ / ५ / १८

(द्विपदः पुरः चक्रे) परमात्मा ने दो पैर वाले शरीर बनाये, (चतुष्पदः पुरः चक्रे) चार पैर वाले शरीर बनाये, (सः पुरुषः पक्षी भूत्वा) वह पुरुष व्यापक होकर (पुरः पुरुषः आविशत्) शरीरों में पुरुष रूप होकर प्रविष्ट हो गया। (सः वै अयम् पुरुषः) निश्चय ही वह यह पुरुष (सर्वासुपूर्षु) सब शरीरों में (पुरिशयः) पुरिशय है, व्याप्त है, स्थित है। "पुरि शेते इति पुरिशयः सन् यः पुरुष उच्यते" शरीर रूपी पुरी, नगरी में शयन करता है इसलिए पुरिशयः पुरि में शयन करने वाला पुरुष कहा जाता है।

(एनेन न किञ्चन अनावृतम्) इससे कुछ भी अनावृत नहीं है, (न एनेन किञ्चन असंवृतम्) और न इससे कुछ भी अव्याप्त है। अर्थात समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला यह परमात्मा समस्त चराचर सृष्टि को चारों ओर से आच्छादित किये हुए है और अन्तर्यामी रूप से सब में व्याप्त है।

पुरुषः

पुरुष शब्द का निर्वचन निरुक्त में निम्न प्रकार किया गया है:—

पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।

निरुक्त/२/१।३

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

श्वेता / ३ /९

(क) पुरि सीदति इति पुरिषादः ।

जीवात्मा शरीर रूपी पुरी में रहता है इसलिए पुरिषाद—पुरिष अथवा पुरुष कहा जाता है।

(ख) पुरि शेते इति पुरुषः ।
शरीर रूपी पुरी में शयन करता है । अतः आत्मा तथा परमात्मा को पुरिशय अथवा पुरुष कहा जाता है ।

(ग) पूरयति अन्तः—अन्तर्यामी रूप से पूर्ण जगत अथवा शरीरमें व्याप्त होने के कारण पुरुष कहा जाता है । पूरणार्थक पृ धातु से पुरुष शब्द बनता है जिस का अर्थ होता है पूर्ण रूप से व्यापक । इस निर्वचन की पुष्टि में यास्काचार्य जी ने श्वेताश्वतर उपनिषद का उपरिलिखित प्रमाण दिया है, जिसका अर्थ निम्न प्रकार है ।

(यस्मात्परं) जिससे अधिक श्रेष्ठ (अपरम् किञ्चित् न अस्ति) अन्य कुछ भी नहीं है, (यस्मात् न अणीयः न ज्यायः किञ्चित् अस्ति) जिससे अधिक सूक्ष्म अथवा महान कुछ भी नहीं है, (एकः दिवि वृक्ष इव स्तब्धः तिष्ठति) जो केवल एक हैं, और जो अपने प्रकाश स्वरूप में वृक्ष की भाँति अचल होकर स्थित है, (तेन पुरुषेण इदं सर्वं पूर्णम्) उस परम पुरुष से यह समस्त ससार पूर्ण है, व्याप्त है ।

२. वृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है—

स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ।

वृहदा. / १ / ४/१

(यत् सः अस्मात् सर्वस्मात् पूर्वः) क्योंकि उसने इस सबसे पहले (किये गये) (सर्वान् पाप्मनः औषत्) समस्त पापों को जला दिया है, (तस्मात्) इसलिए (पूर्व पापों को जलाने वाला) (पुरः + उष्) पुरुष कहा जाता है । (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है (ह वै) निश्चय ही (सः तम् ओषति) वह उसको जला देता है (यः अस्मात पूर्वः बुभूषति) जो इससे अधिक श्रेष्ठ होना चाहता है । इस प्रकार अपने पूर्व पापों को जलाने वाले को पुरुष कहते हैं । अन्तिम वाक्य प्रशंसा है जिसका तात्पर्य यह है कि जिसने अपने पूर्व पापों को दग्ध कर दिया हैं उस पुरुष से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता ।

३. गमनार्थक पुर धातु से कुषन् प्रत्यय करने पर पुरुष शब्द सिद्ध होता है । पुरति, गच्छति इति पुरुषः अर्थात् जो बढ़ता है, उन्नति करता है वह पुरुष कहलाता है । पुरुष का पुरुषत्व उन्नति करने में, आगे बढ़ने में है । अतः उन्नति करने वाला होने के कारण पुरुष कहा जाता है ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—इस मन्त्र भाग में वेद ने मनुष्य को इस संसार की समस्त वस्तुओं का उचित उपभोग करने का निर्देश दिया है और साथ ही यह शिक्षा दी है कि किसी वस्तु में लिप्त अथवा आसक्त नहीं होना चाहिए और किसी के स्वत्व की, धन की अथवा किसी अन्य वस्तु की अभिलाषा अथवा लालच नहीं करना चाहिए, "मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" क्योंकि यह सब संसार ईश्वर से व्याप्त है और इसकी सभी वस्तुए ईश्वर की ही हैं, वे केवल मनुष्य के त्याग भाव से भोगने के लिए है।

त्यागभाव से भोग करने का अर्थ है कि मनुष्य समस्त पदार्थों को ईश्वर का समझकर उनका उपभोग करे, अपना समझ कर नहीं। इस प्रकार उसे कोई क्लेश नहीं होगा क्योंकि वह उन वस्तुओं में लिप्त नहीं होगा। उदाहरणार्थ हम बस पर यात्रा करते हैं और यात्रा के बाद आनन्दपूर्वक बस छोड़ कर चले आते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि यह बस हमारी नहीं है, यह केवल हमारी यात्रा करने के लिए थी। इसके विपरीत यदि हम यह समझने लगें कि यह बस हमारी है और इसे हमारे साथ हमारे घर चलना चाहिए तो हम उसे कदापि नहीं छोड़ेंगे जिससे अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जायेंगी और अन्त में उसे छोड़ने पर हमें दुःख होगा।

इसी प्रकार हम यदि यह समझकर संसार की सभी वस्तुओं का उपभोग करें कि ये सब ईश्वर की हैं, हमारी नहीं है तो हमें उन्हें छोड़ने पर किञ्चिन्मात्र भी दुःख नहीं होगा, क्योंकि हम उन पर आसक्त नहीं होंगे और हमारे अन्दर उनके प्रति वह ममत्व उत्पन्न नहीं होगा, जो दुःखों का कारण है। जब व्यक्ति इस प्रकार का त्याग भाव संसार के प्रति अपना लेगा तो उसे न तो जीवन में और न मृत्यु के समय किसी प्रकार का मोह अथवा क्लेश होगा।

"**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" का अर्थ पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने "दान से भोगकर" अर्थात् दान करके अवशिष्ट रहे हुए का भोगकर, दूसरों का हित करने के पश्चात् अपने लिए भोगकर, अपने भोग के लिए दूसरों के गलों पर छुरा न चला, किया है।

ऋग्वेद में उपदेश है—

उतो रयिःपृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते।

॥ऋग् / १०/११७/१ ॥

दान देने वाले का धन कम नहीं होता और दान न देने वाला सुख प्राप्त नहीं करता।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट होता है कि वेद ने मनुष्य को संसार से विमुख होकर, संसार का त्याग करके पलायनवादी होने का उपदेश नहीं दिया है, प्रत्युत संसार की सभी वस्तुओं का उचित रूप से तथा त्यागभाव से उपभोग करने की शिक्षा दी है, क्योंकि वास्तव में मानव-मात्र का कल्याण तभी हो सकता है जब वह भगवान के द्वारा रचित इस महान संसार में उपलब्ध वस्तुओं का उचित उपयोग करे, न कि उनसे विमुख होकर दूर भागने का यत्न करे। सच्चा धर्म वही है जिसका पालन करके मनुष्य अपने जीवन को सफल, सुखी एवं समृद्धशाली बना सके--

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

जिससे जीवन में सर्वतोमुखी अभ्युदय, सफलता, वैभव तथा मोक्ष प्राप्त हो वही धर्म है।

वैदिक धर्म पलायनवादी नहीं है प्रत्युत जीवन की वास्तविकताओं तथा आधारभूत आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाला सच्चा मार्ग है।

संसार रूपी वृक्ष में लगने वाले मधुर फल जीवात्मा के भोग करने के लिए हैं और ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार वह उनका भोग करता है। यह तथ्य वेद में अत्यन्त काव्यात्मक भाषा में कहा गया है--

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,

समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-

नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

अथर्व। ९। ९। २०॥ ऋग्वेद १।१६४।२०॥

एक साथ रहने वाले तथा उत्तम पंखों वाले दो मित्र पक्षी (आत्मा एवं परमात्मा) एक ही संसार रूपी वृक्ष पर रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीवात्मा) वृक्ष के फलों को स्वाद लेकर खाता है, संसार के ऐश्वर्य का उपभोग करता है, किन्तु दूसरा (परमात्मा) (अन – अश्नन्) उनका उपभोग न करता हुआ स्वतेज से प्रकाशित होता है।

मा गृधः कस्यस्विद् धनम्—मंत्र के इस अन्तिम आदेश का भी जीवन में अत्यधिक महत्व है। संसार में सब प्रकार के लड़ाई-झगड़ों का मुख्य कारण है एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के अधिकारों को, दूसरे व्यक्ति की वस्तुओं को छीनना या उससे येन केन प्रकारेण लेने की इच्छा करना। अस्तु यदि हम वेद के इस आदेशानुसार दूसरे की किसी वस्तु की अभिलाषा न करें तो परस्पर स्वार्थ का टकराव नहीं होगा और निरर्थक संघर्ष समाप्त होकर प्राणिमात्र शान्ति एवं प्रेम से रह सकेंगे। यह बात केवल व्यक्ति पर ही नहीं, प्रत्युत समाज एवं राष्ट्रों पर भी लागू होती है।

इस प्रकार इस एक ही मन्त्र में जीवन को ऐसी पूरी शिक्षा दे दी गई है जिससे प्रत्येक मनुष्य सुखी रह कर ऐश्वर्य भोग सकता है और संसार में पूर्ण शान्ति रह सकती है। इस मन्त्र को दृष्टि में रखते हुए हमें सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार हमारे अधिकार हमारी सम्पत्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा छीने जाने पर हमें दुःखहोता है उसी प्रकार उस व्यक्ति को भी दुःख होगा जिसके अधिकारों को, जिसकी वस्तुओं को हम छीन रहे हैं और हमें दूसरे के प्रति ऐसा आचरण कभी नहीं करना चाहिए, जैसा हमें अपने प्रति अच्छा न लगता हो।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्॥

महाभारत

धर्म का सार सुनो और सुन कर उसे धारण भी करो तथा तदनुसार आचरण करो। जो व्यवहार अपने को बुरा लगे वह दूसरों के साथ मत करो।

जो लोग अन्यायपूर्वक धन संचय करने में तथा दूसरों को पीड़ा पहुंचाने में, उनका शोषण करने में लगे रहते हैं, उन मूर्ख दम्भियों का सजीव चित्रण गीता में निम्न प्रकार किया गया है :

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

गीता १६/१०

(दम्भमान मदान्विताः) दम्भ, अहंकार और मद से युक्त हुए लोग (दुष्पूरं कामं आश्रित्य) कभी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर (मोहाद् असद् ग्राहान् गृहीत्वा) मोहवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके (अशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते) भ्रष्ट आचरणों से युक्त होकर संसार में व्यवहार करते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

॥ गीता। १६। ११॥

(प्रलयान्ताम् अपरिमेयाम् चिन्ताम् उपाश्रिता.) मरण पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से ग्रस्त (च कामोपभोगपरमा) और कामपरक विषयभोगों में लिप्त ये लोग (एतावद् इति निश्चिताः) केवल यही आनन्द है, ऐसे मानने वाले होते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥

॥गीता।१६/१२॥

(आशापाशशतैः बद्धाः) सैकड़ों आशाओं के पाश में फंसे हुए (कामक्रोधपरायणाः) काम क्रोध से ग्रस्त ये लोग (काम भोगार्थम्)

कामपरक विषयभोगों की पूर्ति के लिए (अन्यायेन अर्थसञ्चयान् ईहन्ते) अन्यायपूर्वक धन आदि का सञ्चय करने की चेष्टा करते रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

॥गीता । १६।१३॥

(मया अद्य इदं लब्धम्) आज मैंने यह प्राप्त कर लिया, (इमम् मनोरथम् प्राप्स्ये) कल इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। (मे इदं धनं अस्ति) मेरे पास इतना धन है (पुनः अपि इदं भविष्यति) फिर इतना और हो जायेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥

गीता १६/१४॥

(असौ शत्रुः मया हतः) यह शत्रु मेरे द्वारा मार दिया गया है (अपरान् अपि अहम् हनिष्ये) दूसरों को भी मैं मार दूँगा। (अहं ईश्वरः च भोगी) मैं ही ईश्वर हूं मेरे ही भोग के लिये सब कुछ है, (अहं सिद्धः बलवान् सुखी) मैं ही सभी सिद्धियों से युक्त, बलवान् तथा सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

॥गीता/१६/१५॥

(आढ्यः अभिजनवान् अस्मि) मैं धनवान् तथा उच्चकुल वाला हूं, (मया सदृशः अन्यः कः अस्ति) मेरे समान दूसरा कौन है, मैं (यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये) यज्ञ करूँगा, दान दूँगा तथा सुख का उपभोग करूँगा (इति अज्ञानविमोहिताः) इस प्रकार के अज्ञान से मोहित रहते है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

॥गीता/१६/१६॥

(अनेक चित्तविभ्रान्ताः) अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, (मोहजाल समावृताः) मोहरूप जाल में फँसे हुए (कामभोगेषु प्रसक्ताः) तथा विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए, ऐसे लोग (अशुचौ नरके पतन्ति) अत्यन्त अपवित्र नरक में गिरते है ।

हमें इस बात पर सतत विचार करना चाहिए कि हमारा जीवन वेद के इस मन्त्र में दी गई शिक्षा के अनुकूल है अथवा गीता में किये गये आसुरी सम्पत्ति वाले लोगों के उक्त चित्रण के अनुरूप । यदि हम क्रोध, मोह, लोभ, दम्भ, मद तथा अज्ञान में फंसकर केवल अन्याय-पूर्वक धन सञ्चय करने में, कामलोलुप इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने में तथा असहाय व्यक्तियों के शोषण में लगे हैं, तो हमें अपने जीवन में मूल भूत परिवर्तन करके अपने जीवन को वैदिक शिक्षा के अनुरूप बनाने का प्रयास करना चाहिए ताकि न केवल हमारा जीवन सुख-समृद्धि एवं शान्ति से पूर्ण हो प्रत्युत समाज के अन्य सभी सदस्य भी सुखी हो सकें । जब हम इस प्रकार का संकल्प लेकर तदनुसार आचरण करेंगे तभी हम अपनी संस्कृति के उस महान आदर्श को प्राप्त कर सकेंगे जिसमें प्रत्येक प्राणी का दुःख दूर करने की कामना की गई है ।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ॥
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

न तो मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग और न मोक्ष, मैं तो केवल दुःखों से पीड़ित प्राणियों के सन्ताप के नाश की कामना करता हूँ ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी कल्याण का दर्शन करें अर्थात सभी का कल्याण हो, कोई भी दुःखी न हो ।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
भुरिगनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

यजु. ४० ।२

(इह कर्माणि कुर्वन् एव) इस लोक में (वेदोक्त प्रशस्त) कर्मों को करता हुआ ही (शतम् समाः जिजीविषेत्) सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

(एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते) इस प्रकार तुझ पुरुष में कर्म लिप्त नहीं होते, (इतः अन्यथा न अस्ति) इससे भिन्न अथवा इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे । इस प्रकार अर्थात प्रथम मन्त्र में कहे हुये अनासक्ति भाव से धर्मयुक्त कर्म करते हुए तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होते । इस से भिन्न अन्य कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है ।

इस मन्त्र में प्रत्येक मनुष्य के लिए कर्म योग की शिक्षा दी गई है । श्री मद्भगवद्गीता में वर्णित कर्म योग तथा अनासक्ति योग का मूल इसी मन्त्र में है । वेद का इतना स्पष्ट एवं निश्चयात्मक आदेश है कि मनुष्य को सदा कर्म करना चाहिए, पुरुषार्थ करना चाहिये और कर्म करना कभी छोड़ना नहीं चाहिए । कल्याण का इस के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है । प्रथम मन्त्र में आये 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' के साथ इस मन्त्र को लेने से स्पष्ट हो जाता है कि कर्म इस प्रकार किया जाय कि मनुष्य उसमें लिप्त न हो जाय ।

कर्म दो प्रकार के कहे जाते हैं सकाम एवं निष्काम । सकाम कर्म वह होते है जो फल की इच्छा से किए जाते हैं । सामान्यतया

जीवन में सभी कर्म सकाम ही होते हैं। निष्काम कर्म वह होते हैं जो फल की इच्छा किये बिना केवल ईश्वर प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

निष्काम कर्म का निर्देश गीता के निम्नाङ्कित प्रसिद्ध श्लोक में किया गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

गीता २/४७

तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्मों के फल की कामना करने वाले मत बनो; अकर्मणि अर्थात् कर्म न करने में तेरी प्रीति कभी न हो अर्थात सदैव कर्म करते रहो, कभी निष्क्रिय न हो किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सामान्य जीवन में पूर्णतया निष्काम कर्म करना संभव नहीं है। केवल सिद्धि अथवा मोक्ष के स्तर पर पहुँचे हुये श्रेष्ठ योगी के लिये ही यह संभव एवं आवश्यक है कि समस्त कामनाओं का नाश हो जाय, सामान्य व्यक्ति के लिये नहीं।

इसीलिये मन्त्र में निष्काम कर्म की बात नहीं कही गयी है। अतः मन्त्र के अर्थ में अपनी ओर से निष्काम कर्म की बात जोड़ा जाना उचित नहीं है यद्यपि अधिकांश भाष्यकारों द्वारा ऐसा ही किया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

मनु. / २ / २॥

(कामात्मता न प्रशस्ता) अधिक कामनाओं वाला होना प्रशंसनीय नहीं है किन्तु संसार में निष्काम होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि वेदों के ज्ञान की प्राप्ति और वेद प्रतिपादित कर्म भी तो काम्य ही हैं।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्प सम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्मांश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ।।

मनु./२/३

कामना ही सारे संकल्पों का मूल है। यज्ञ भी संकल्प पर आधारित होते हैं। इसी प्रकार व्रत यम-नियम तथा सभी धार्मिक कृत्य संकल्प से ही उत्पन्न होने वाले हैं, अर्थात संकल्प पर ही आधारित होते हैं।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।

।। मनु./२/४ ।।

कामना के बिना इस लोक में कोई भी क्रिया दिखाई नहीं पड़ती। जो कुछ भी किया जाता है वह सब कामना के ही कारण होता है, कामना से ही प्रेरित होता है।

निष्काम कर्म तो केवल परमात्मा अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही सिद्ध योगियों द्वारा किये जाते हैं क्योंकि कामनाओं की पूर्णतया समाप्ति हो जाने पर ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त हो सकता है अन्यथा मनुष्य को अपनी कामनाओं, वासनाओं तथा संकल्पों आदि के अनुरूप दूसरा जन्म ग्रहण करना ही पड़ता है। इसीलिये निष्काम कर्मों का फल अक्षय तथा परमगति को प्राप्त कराने वाला कहा जाता है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।

मुण्डक ३/२/२

(यः कामान् मन्यमानः कामयते) जो मन में कामनाओं को रखता हुआ उनकी पूर्ति की इच्छा करता है (सः कामभिः तत्र तत्र जायते) वह उन वासनाओं अथवा कामनाओं के अनुरूप वहाँ वहाँ

अर्थात भिन्न भिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में जन्म लेता है परन्तु (पर्याप्त कामस्य कृतात्मनः सर्वे कामाः इह एव प्रविलीयन्ति) जो परमात्मा के ज्ञान के कारण पूर्णकाम अथवा आप्तकाम हो गया है अर्थात आत्मा की प्राप्ति की इच्छा वाला होने के कारण जिसकी सभी कामनायें पूर्ण अथवा समाप्त हो गई हैं, ऐसे आत्मज्ञ कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनायें यहीं लीन हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं।

कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में यह भाव निम्न प्रकार कहा गया है--

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

बृहदा. ४।४।७

कठो. २।३।१४

जब इस पुरुष के हृदय में स्थित समस्त कामनायें छूट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, तब मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु यह मन्त्र केवल सन्यासियों अथवा योगियों के लिये ही नहीं है बल्कि जन साधारण के लिये भी है। इसीलिये इसमें निष्काम कर्म का उल्लेख नहीं किया गया है, बल्कि केवल कर्म का उल्लेख किया गया है। साधारण मनुष्यों के लिये इसका अर्थ अनासक्त भाव से कर्म करना है, जबकि योगियों के लिये इसका अर्थ निष्काम कर्म करना है।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने ही गीता में लोक कल्याण की इच्छा से कार्य करने का स्पष्ट निर्देश दिया है–

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

गीता ३।२५

जिस प्रकार अविद्वान लोग आसक्त होकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये कर्म करते हैं तथा सतत् प्रयासशील रहते हैं, उसी प्रकार विद्वानों को बिना आसक्त हुये, केवल लोककल्याण की इच्छा से निरन्तर कर्म करना चाहिये ।

यह श्लोक वेद के इस मन्त्र के अनुकूल है तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु निष्काम कर्म पर अनावश्यक एवं अनुचित बल देने के कारण विद्वानों ने इस की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जबकि हमारे वास्तविक जीवन के लिये यही सच्चा पथप्रदर्शक है । इस प्रकार स्वयं गीता के उपदेश से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी कामना अथवा उद्देश्य के साथ कर्म करना न केवल उचित है बल्कि आवश्यक भी । वास्तव में नित्यप्रति किये जाने वाले पञ्च महायज्ञों से लेकर अश्वमेध पर्यन्त समस्त यज्ञ, दान तथा परोपकार आदि श्रेष्ठ कर्म समस्त संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक कल्याण की कामना से ही किये जाते हैं ।

प्रथम मन्त्र के साथ मिलाकर अर्थ करने पर वेद के इस अति महत्वपूर्ण मन्त्र का अर्थ यह होता है कि पुरुष को बिना आसक्त हुये श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये । बिना आसक्ति के किये गये कर्मों एवं निष्काम कर्म में बहुत अन्तर है । समस्त श्रेष्ठ व्यक्ति प्राणिमात्र के कल्याण की कामना से कर्म करते हैं, निष्काम कर्म नहीं, किन्तु वेद के आदेशानुसार उन्हें यह कार्य कर्तव्य भावना से करना चाहिये, उनमें आसक्त होकर नहीं । ऐसा होंने पर जहाँ एक ओर वह कर्मों में लिप्त नहीं होंगे और उनका कार्य श्रेष्ठ स्तर का होगा वहीं दूसरी ओर असफल होने पर उन्हें दुःख भी नहीं होगा । वास्तव में यही वेदानुकूल सच्चा कर्मयोग है ।

लोक कल्याण की भावना से निरन्तर आसक्तिरहित होकर कार्य करते हुये मनुष्य को लाभ हानि, मान अपमान तथा सफलता असफलता से विचलित नहीं होना चाहिये और यज्ञ के लिये कार्यरत रहते हुये अपने जीवन को यज्ञमय बनाना चाहिये ।

कर्म का विज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों में इस मन्त्र की विशद विवेचना करते हुए कर्म करने की अनिवार्यता एवं उपयोगिता तथा कर्म कैसे होने चाहिये और किस प्रकार किये जाने चाहिये इसका पूर्ण विज्ञान दिया गया है जिसमें से कुछ महत्वपूर्ण श्लोक यहाँ दिये जा रहे हैं।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

गीता ३।५

कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता क्योंकि निश्चय ही सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण विवश होकर कर्म करते हैं।

नान्यथेतोऽस्ति––इतः अन्यथा न अस्ति। अर्थात कर्म करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

कर्म की महत्ता तथा अनिवार्यता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि समस्त यज्ञ तथा तप कर्म से ही उत्पन्न होते हैं।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ।।

अथर्व ११।८।६

(महति अर्णवे अन्तः) महान संसार सागर में (तपः च कर्म च एव आस्ताम्) तप और कर्म ही विद्यमान थे। (ह तपः कर्मणः जज्ञे) निश्चय ही तप कर्म से उत्पन्न हुआ है, (ते तत् ज्येष्ठं उपासत) वे कर्म और तप ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करने के लिये थे।

तात्पर्य यह है कि जीवन में कर्म और तप की ही प्रधानता है। यह सृष्टि ब्रह्म द्वारा 'तपस्तप्त्वा' तप करके ही उत्पन्न की गयी है। पुरुष को अपने समस्त कर्म और तप ब्रह्म की उपासना के निमित्त, ब्रह्म की उपासना के रूप में तथा 'ब्रह्मण्याधाय' ब्रह्म को ही अर्पित करके करने चाहिये, तभी वह उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच सकता है।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

न्याय १।१।१०

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न (पुरुषार्थ), सुख, दुःख तथा ज्ञान, यह आत्मा के चिह्न हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म करना, प्रयत्न करना तथा ज्ञान प्राप्त करना आत्मा का स्वभाव है। अतः कर्म करना प्रत्येक जीवित मनुष्य के लिये अनिवार्य है। इसीलिये मन्त्र में कहा गया है 'नान्यथेतोऽस्ति' —इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः जो विद्वान अथवा आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी के लिये कर्म करना आवश्यक नहीं है अथवा ज्ञान एवं कर्म का विरोध है, वह या तो कर्म की बहुत संकुचित परिभाषा ले रहे हैं या अपने पूर्वाग्रह के कारण वेद विरुद्ध अनुचित मत प्रतिपादित कर रहे हैं।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा के गुण निम्न प्रकार बताये गये हैं—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर-

विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि।

वैशे. ३।२।४

(प्राण) शरीर से वायु को बाहर निकालना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना (निमेष) पलक नीचे झपकाना. (उन्मेष) पलक को ऊपर उठाना, (जीवन) प्राण का धारण करना, (मनन) ज्ञान (गति) गमन करना, (इन्द्रिय) इद्रियों को विषयों में चलाना अथवा उनसे विषयों का ग्रहण करना, (अन्तर विकारः)

क्षुधा, तृषा (भूख प्यास) ज्वर, पीड़ा विकारों का होना, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये सब आत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं।

अतः देहधारी जीवात्मा कर्मों को पूर्ण रूप से कभी त्याग नहीं सकता।

"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

गीता १८।११

कर्म की इस अनिवार्यता को दृष्टि में रखते हुये प्रत्येक मनुष्य को अपने सामान्य कर्तव्यों तथा वेदविहित कर्मों को निष्ठापूर्वक करना चाहिये।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

गीता ३।८

तुम धर्मानुकूल नियत कर्म करो; कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। (अकर्मणः) कर्म न करने पर तो तुम्हारा शरीर निर्वाह भी संभव नहीं होगा।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

गीता ३।७

वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्मेन्द्रियों से बिना आसक्त हुए कर्मयोग का पालन करता है, अर्थात् सुख दुःख, मान-अपमान, सफलता-असफलता आदि से अविचलित होकर कर्तव्य-भावना से अपना कर्म करता रहता है।

न कर्म लिप्यते नरे।

जो कार्य अनासक्ति भाव से कर्तव्य समझ कर प्राणिमात्र के कल्याण

के लिए किये जाते है वे बन्धनकारी नहीं होते किन्तु जो स्वार्थ की भावना से विशिष्ट उद्देश्यों के लिए अथवा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए किये जाते है वे मनुष्य को अधः पतन की ओर ले जाते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।

गीता । ३।९

यज्ञ अर्थात देवपूजन, दान, त्याग, परोपकार आदि से भिन्न उद्देश्यों के लिये किये गये अन्य कर्म बन्धनकारी होते हैं। अतः हे कौन्तेय ! (मुक्तसङ्गः) आसक्ति रहित होकर (तदर्थं कर्म समाचर) यज्ञ के निमित्त श्रेष्ठ कर्मों को अच्छी प्रकार करो।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।

गीता ३।१९

अतः आसक्ति से रहित होकर अपने कर्मों को निरन्तर भली प्रकार करो क्योंकि कर्म करता हुआ अनासक्त पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।

गीता ४।२२

अपने आप अनायास प्राप्त होने वाले लाभ से सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों से ऊपर रहकर सिद्धि एवं असिद्धि, सफलता एवं असफलता में समभाव रखने वाला ईर्ष्या रहित पुरुष कर्म करके भी कर्मबन्धन में नहीं फंसता। (क्योंकि इस प्रकार किये गये कर्म नष्ट हो जाते हैं और पुरुष में लिप्त नहीं होते।)

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।

गीता ४।२३

ज्ञान में स्थित हुये चित्त वाले तथा यज्ञ के लिये आचरण करते हुये (गतसङ्गस्य मुक्तस्य) आसक्ति से रहित मुक्त पुरुष के (समग्रं कर्म प्रविलीयते) समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।

गीता ४।३७

हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि (एधांसि) ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।

गीता ४।४१

हे धनन्जय ! समत्व बुद्धि रूपी योग द्वारा कर्मसन्यास प्राप्त किया है जिसने और ज्ञान से छिन्न हो गये हैं संशय जिसके ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म नहीं बांधते ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।

गीता ५।७

(विजितात्मा) अपने को अर्थात अपने मन, चित्त की वृत्तियों, कामनाओं, वासनाओं तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को जीतने वाला, जितेन्द्रिय तथा (विशुद्ध आत्मा) विशुद्ध अन्तःकरण वाला, समस्त प्राणियों में अपनी आतमा को देखने वाला अथवा समस्त

प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के अनुरूप देखने वाला, योग से युक्त ज्ञानी पुरुष कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

विजितात्मा का अर्थ स्वामी शंकराचार्य जी ने विजितदेहो लिखा है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष को अनासक्ति भाव से ज्ञान पूर्वक कार्य करना चाहिये। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय का जो उपदेश प्रथम तथा द्वितीय मन्त्रों में दिया गया है, उसी की विशद विवेचना गीता में विविध प्रकार से की गयी है और यह निर्देश दिया गया है कि ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं सर्वरूपता को दृष्टि में रखते हुये यज्ञार्थ तथा लोक कल्याण के लिये कर्म करना चाहिये और इन कर्मों को भगवान को ही अर्पण कर देना चाहिए क्योंकि यह समस्त विश्व उसी का रूप है, वह परमपिता इसमें ओतप्रोत है, इसके कण-कण में व्याप्त है और इस जगत में जो कुछ भी है वह (ईशावास्यम्)ईश्वर से आच्छादित है, उसी का है। इस प्रकार किये गये निःस्वार्थ कर्म यज्ञ रूप होते है और उनसे मनुष्य का जीवन यज्ञ-मय हो जाता है तथा ऐसे श्रेष्ठ पुरुष में कर्म लिप्त नहीं होते।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

गीता। ५। १०

जो पुरुष आसक्ति से रहित होकर समस्त कर्मों को (ब्रह्मणि आधाय) ब्रह्म में अर्पण करके करता है वह उसी प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही भगवान की उपासना करके परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में भगवान को अर्पण करके कर्तव्य भाव से आसक्ति रहित होकर कर्म करना ही सच्ची अर्चना एवं उपासना है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

गीता १८।४६

जिससे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह समस्त संसार व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्मों द्वारा आराधना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

गीता में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सत्कर्मों को निरन्तर करते रहना चाहिये क्योंकि इनसे मनुष्य का जीवन पवित्र होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।

गीता १७।२७

यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति होती है उसे सत् कहा जाता है तथा उन यज्ञ तप आदि के लिये किये गये कर्मों को भी सत् कहा जाता है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।

गीता १८।५

यज्ञ-दान तथा तप कभी त्यागने योग्य नहीं हैं। इन्हें तो करना ही चाहिये। यज्ञ दान तथा तप मनीषियों अर्थात अपने मन पर शासन करने वाले ज्ञानी पुरुषों को पवित्र करने वाले होते हैं।

योग दर्शन में कहा गया है कि तप से शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

योग।साधन पाद ४३

तप की सिद्धि से अशुद्धि का क्षय हो जाने के कारण शरीर तथा इन्द्रिय की सिद्धि प्राप्त होती है।

विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख करते हुये गीता में कहा गया है कि वेदों में वर्णित यज्ञों का आचरण करते हुये पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' वास्तव में यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

गीता ४।२८

व्रतों का पालन करने वाले यत्नशील पुरुषों में कुछ लोग द्रव्य-यज्ञ कुछ तप-यज्ञ और कुछ दूसरे योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ अथवा ज्ञान यज्ञ करने वाले होते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

गीता ४।३१

हे कुरुश्रेष्ठ ! (यज्ञशिष्टामृतभुजः । यज्ञानां शिष्टं यज्ञशिष्टं । यज्ञशिष्टं च तद् अमृतं च यज्ञशिष्टामृतं) यज्ञ से शेष बचे हुये अमृतरूपी भोजन को ग्रहण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ रहित पुरुष के लिये तो यह लोक भी नहीं है अर्थात उसे इस लोक में तो सुख, अभ्युदय तथा कल्याण प्राप्त ही नहीं होता (अन्यःकुतः) फिर परलोक में कैसे प्राप्त हो सकता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

गीता ४।३२

ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तृत रूप से वर्णित किये गये हैं। यह सब यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाले हैं, ऐसा जानकर और तदनुसार आचरण करके (विमोक्ष्यसे) संसार बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

यज्ञ के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित श्लोक महत्वपूर्ण हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।

गीता ३।१४

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होते हैं, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ (कर्मसमुद्भवः) कर्म से उत्पन्न होने वाला है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।

गीता ३।१५

कर्म को (ब्रह्मोद्भवम् विद्धि) वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं, अतएव सर्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है।

यज्ञ के फल का अत्यन्त सुन्दर एवं आलंकारिक वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ में दी गई आहुतियाँ सत्कार करती हुई, प्रियवाणी बोलती हुई तथा 'आइये आइये' ऐसा कहते हुए ब्रह्मलोक को ले जाती हैं।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ।

मुण्डक १।२।६

(सुवर्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियाम् वाचम् अभिवदन्त्यः) प्रियवाणी बोलती हुई तथा आदर सत्कार करती हुई वे (आहुतयः) आहुतियाँ, (एहि ऐहि इति) आओ आओ ऐसा कहती हुईं सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ (तम् यजमानम्) उस यजमान

को (वहन्ति) ले जाती हैं (और कहती है कि) (एष: व:) यह तुम्हारा (पुण्य:) पवित्र (सुकृत:) श्रेष्ठ कर्मों का फलरूप (ब्रह्म लोक:) ब्रह्म लोक है।

इस प्रकार श्रेष्ठ कर्म करने की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में यह संसार धर्मक्षेत्र और कर्मक्षेत्र है। यहाँ धर्मपूर्वक-ज्ञान पूर्वक श्रेष्ठ कर्म करना ही मानव की उन्नति का सच्चा मार्ग है। भारतीय संस्कृति का सन्देश ही है, "न दैन्यं न पलायनम्", न दीनता, न पलायन। स्वयं ज्ञानरूप भगवान् श्रीकृष्ण का कर्मरूप अर्जुन का सारथि बनना इस बात का प्रतीक है कि श्रेष्ठ ज्ञान के साथ किया गया कर्म जीवन को सफल बनाता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय ३, ब्राह्मण २, कण्डिका १३ में बताया गया है कि जब जारत्कारव ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि शरीर के भस्म हो जाने के बाद आत्मा का क्या होता है तब याज्ञवल्क्य उन्हें सभा से अलग ले गये और परस्पर विचार करने के उपरान्त दोनों ने सभा में लौट कर कर्म के विषय में ही कहा और कर्म की ही प्रशंसा की। उन्होंने कहा (पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा-भवति) पुण्यकर्म से पुण्य प्राप्त होता है और (पाप: पापेनेति) पाप-कर्मों से पाप।

यही बात छान्दोग्योपनिषद् में कही गई है–

अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।

॥छान्दोग्य।प्रपाठक।३।खण्ड।१४।प्रवाक।१।ख॥

(अथ स क्रतुं कुर्वीत) मनुष्य को कर्म करना चाहिए क्योंकि (पुरुष: क्रतुमय: खलु) निश्चय ही पुरुष कर्ममय है (अस्मिन् लोके पुरुष: यथाक्रतु: भवति) इस संसार में पुरुष जैसा कर्म करने वाला होता है (तथा इत: प्रेत्य भवति) इस संसार से मर कर उसी के

अनुसार बनता है अर्थात् मृत्यु के उपरान्त अपने कर्मानुसार ही दूसरी योनियाँ प्राप्त करता है।

शतपथ ब्राह्मण १०।६।३।१ में भी कहा गया है 'अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः।' निश्चय ही यह पुरुष कर्ममय है।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद ने कहा है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति,
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

प्रश्न ३।७

(अथ एकया ऊर्ध्वः उदानः) इनमें से एक ऊपर की ओर जाने वाली नाड़ी से उदान चलता है, वह (पुण्येन पुण्यं लोकं नयति) पुण्य से पुण्य लोक को ले जाता है, (पापेन पापम्) पाप से पाप लोक को, तथा (उभाभ्याम् एव मनुष्यलोकम्) पाप-पुण्य के सम्मिश्रण से मनुष्य लोक को ले जाता है।

मुण्डकोपनिषद् में श्रेष्ठ कर्मों की महत्ता का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है:

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां
बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः
पन्थाः सुकृतस्य लोके।

मुण्डक १।२।१

(तत् एतत् सत्यम्) वह यह सत्य है (मन्त्रेषु यानि कर्माणि) कि मन्त्रों में जिन कर्मों को (कवयः अपश्यन्) सूक्ष्मदर्शी ऋषि देखते थे (तानि) वे कर्म (त्रेतायां बहुधा सन्ततानि) तीन प्रकार के मन्त्रों वाले चारों वेदों में अनेक प्रकार से फैले हुए हैं। (तानि) उन कर्मों का (सत्यकामा नियतं आचरथ) सत्य संकल्प तथा सत्य कामना वाले होकर नियमपूर्वक आचरण करो। (एषः वः लोके स्वकृतस्य पन्थाः) यह तुम्हारा इस जगत में अपने किये गये कर्मों का मार्ग है।

स्पष्ट है कि जैसे कर्म हम करेंगे वैसा ही हमारा जीवन पथ

बनेगा और उसी के अनुसार श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट स्थान पर हम पहुँचेंगे ।

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।।

बिदुर ४।१३

मनुष्य जिस प्रकार की संगति में प्रवेश करता है, जैसे व्यक्तियों के साथ उठता बैठता है और जैसा बनना चाहता है वैसा ही बन जाता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य का अच्छा बुरा बनना उसकी स्वयं की इच्छा एवं संगति पर निर्भर करता है ।

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने निम्न प्रकार लिखा है :—

कबहुँ दिवस महँ निविड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग ।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ।।

रामचरितमानस

कुसंगति से ज्ञान का नाश हो जाता है और अज्ञान का अंधकार छा जाता है जबकि सुसंगति से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान का आलोक चारों ओर फैल जाता है जैसे कि दिन की, बादल के साथ कुसंगति होने से दिन में भी अन्धकार छा जाता है और सूर्य के साथ सुसंगति होने से चारों ओर प्रकाश फैल जाता है ।

यथा चित्तं यथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रिया ।
चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता ।।

सूक्ति २०

सज्जनों के चित्त, वाणी तथा कर्म (इन तीनों) में एकरूपता होती है ; उनका जैसा चित्त होता है वैसी वाणी होती है और जैसी वाणी होती है वैसी ही क्रिया होती है ।

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ।।

बिदुर ७।५५

मन वाणी तथा कर्म से (अभीक्ष्णं) बार बार जिस विषय का सेवन अथवा विचार किया जाता है, वह विषय पुरुष को अपनी ओर (अपहरति) खींच लेता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि शुभ कर्मों को ही सोचे, शुभकर्मों की ही चर्चा करे तथा शुभ कर्म ही करे।

वास्तव में वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही पुरुष ज्ञानी है, जिसने पापों से विमुख होकर पुण्य का मार्ग अपनाया है। पुण्य कर्म एवं पाप कर्मों के सम्बन्ध में महाभारत आदि से कुछ सुन्दर श्लोक पाठकों द्वारा स्मरण किये जाने के लिये प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या।

विदुर ५।४८

जिसका आत्मा अथवा अन्तःकरण पाप कर्म से विमुख होकर शुभ कर्मों में प्रवृत है, उसने प्रकृति एवं विकृति रुप यह सब कुछ अथवा समस्त संसार को जान लिया है, अर्थात वही परम ज्ञानी है।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।

भर्तृ।नीति।९८

जङ्गल में, रणस्थली में शत्रुओं के बीच में, जल एवं अग्नि में, महासागर में, पर्वत की चोटी पर (अथवा) शयनावस्था, असावधानी की दशा तथा विषम परिस्थिति के उत्पन्न होने पर (प्रत्येक अवस्था में) पूर्व सञ्चित पुण्य ही मनुष्य की रक्षा करते हैं।

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम्।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते।।

विदुर ३।६१

पापकर्म करता हुआ पुरुष कलङ्कित होकर पापकर्मों के फलों को

ही भोगता है और श्रेष्ठ कर्म करता हुआ उत्तम कीर्ति वाला अच्छे फलों को भोगता है ।

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।।

विदुर ३।६२

इसलिए उत्तम व्रत वाला पुरुष कभी भी पाप कर्म का आचरण न करे क्योंकि बार बार किया गया पाप का आचरण पापाचारी मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है ।

नष्ट प्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।।

विदुर ३।६३

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है वह मनुष्य सदा पाप कर्म ही करता है । बार बार किया गया उत्तम कर्म बुद्धि को बढ़ाता है ।

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ।

विदुर ३।६४

बुद्धि में श्रेष्ठ पुरुष सदा पुण्य कर्म ही करता है और पुण्य करते हुये पुण्य कीर्ति वाला होकर पुण्य स्थान अथवा परम पद को प्राप्त होता है । अतएव पुरुष को सदा उत्तम मन वाला होकर पुण्य कर्म करना चाहिये ।

यस्तु पूर्वंकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।।

विदुर ७।३५

जो मनुष्य पूर्वकृत पापों पर विचार न करके उन्हें पुनः पुनः करता रहता है, वह दुर्बुद्धि विषम परिस्थितियों की अगाध कीचड़ अथवा दलदल में फंस जाता है।

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ।

विदुर ८।१६

(प्रेतगतस्य धनं अन्यो भुङ्क्ते) मरे हुए व्यक्ति के धन का दूसरे लोग भोग करते हैं, (च शरीरधातून् वयांसि अग्निः च) और उसके शरीर के समस्त अवयवों का भक्षण पक्षी अथवा अग्नि करती है। (पापेन पुण्येन च वेष्ट्यमानः अयं द्वाभ्यां सह अमुत्र गच्छति) केवल पुण्य तथा पाप इन दो से लिपटा हुआ यह आत्मा दूसरे लोक में जाता है।

पाप-पुण्य की विवेचना के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

सुभाषितम्

अठारह पुराणों में महर्षि व्यास के दो महत्वपूर्ण वचन हैं—परोपकार ही पुण्य है तथा परपीडन अर्थात् दूसरों को दुःख देना ही पाप है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्नतु चन्दनेन ॥

भर्तृ।७३

कान की शोभा वेदशास्त्रादि के श्रवण से होती है कुण्डल पहनने से नहीं, हाथ की शोभा दान देने से होती है कङ्कण से नहीं, करुणाशील पुरुषों के शरीर की शोभा दूसरों का हित करने से होती है चन्दन लगाने से नहीं।

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने निम्नप्रकार लिखा है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

रामचरित मानस

बेद में कहा है कि जगत कल्याण के लिये श्रेष्ठ त्यागमय कर्म-रूपी यज्ञों को करने वाले विद्वान उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कर लेते हैं।

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।

अथर्व ४।१४।४

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान (विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे) संसार को धारण करने वाले यज्ञ का विस्तार करते हैं, (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) ऐसे आत्मिक ज्योति को प्राप्त करने वाले मनीषी स्वर्ग की अपेक्षा नहीं करते (रोदसी आरोहन्ति) बल्कि पृथ्वी तथा द्युलोक के ऊपर ब्रह्मलोक पर आरोहण करते हैं, उसे प्राप्त करते हैं।

श्रेष्ठ त्यागमय कर्म ही यज्ञ कहे जाते हैं और यही बास्तव में विश्वधारक हैं। प्राणिमात्र का जीवन त्याग से ही सम्भव है, स्वार्थ से नहीं। यह सत्य हम माता-पिता तथा अन्य गुरुजनों द्वारा

बच्चे के लिये किये गये त्याग को दृष्टि में रखते हुये भली प्रकार समझ सकते हैं। जैसे-जैसे त्याग और निःस्वार्थ कर्मों की परिधि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मनुष्य उन्नति करता जाता है और नर से नारायण की ओर अग्रसर होता है क्योंकि परमात्मा ही सबसे बड़ा त्यागी और निःस्वार्थ कर्म करने वाला है। उसने बिना किसी स्वार्थ के इतनी बड़ी सृष्टि बनाई है और अपनी अनन्त सामर्थ्य से इसका सदा पालन पोषण करता है।

इसीलिये प्रथम मन्त्र में कहा गया है 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्', भगवान की दी हुयी वस्तुओं का त्याग भाव से भोग करो, किसी के धन की इच्छा मत करो, तथा द्वितीय मन्त्र में कहा गया है ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इस लोक में श्रेष्ठकर्म करते हुये ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो ताकि पुरुष का जीवन यज्ञमय हो जाय और वह न केवल मानवजाति का बल्कि प्राणिमात्र का तथा देवों का भी कल्याण कर सके, किसी का ऋणी न रहे बल्कि अपने साथ किये गये उपकार का प्रत्युपकार कर सके।

इस प्रकार उन्नति करते हुये पुरुष उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब समस्त विश्व उसका परिवार हो जाता है, वह स्वयं समष्टि रूप, विश्वरूप हो जाता है और उसकी आत्मा विश्वात्मा हो जाती है।

इस स्थिति का वर्णन अथर्ववेद में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्

अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे

द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

अथर्व ५।९।७

सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा है और पृथिवी शरीर है। (अस्तृतः नाम अयं अहं अस्मि) अमर नाम वाला यह मैं हूँ। द्यावा पृथिवी द्वारा (गोपीथाय) सुरक्षित होने के लिये (सः आत्मानं निदधे) वह मैं अपनी आत्मा को निःशेष देता हूँ, संसार के कल्याण के लिये पूर्णरूप से समर्पित करता हूँ। भावार्थ यह है कि द्युलोक और पृथिवी लोक मेरी रक्षा करते हैं, अतः प्रत्युपकार में मैं जगत के कल्याण के लिये अपने को पूर्ण रूप से समर्पित करता हूँ। द्युलोक और पृथिवी लोक द्वारा रक्षा किये जाने का भाव यह है कि द्युस्थानीय देवता, सूर्य नक्षत्र आदि, अन्तरिक्ष स्थानीय देवता इन्द्र, वायु चन्द्र, विद्युत आदि तथा पृथिवी स्थानीय देवता अग्नि तथा जल, अन्न औषधि वनस्पति आदि अगणित पदार्थ प्राणिमात्र की रक्षा करते है और उसे जीवन प्रदान करते हैं जिसका प्रत्युपकार करना मनुष्य का परम कर्तव्य है क्योंकि मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है।

यज्ञ कर्म द्वारा यह प्रत्युपकार किये जाने का विधान वेद द्वारा किया गया है और इसीलिये यज्ञ को सर्व श्रेष्ठ कर्म माना गया है।

सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

गीता ३।१०

(पुरा) आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजा की सृष्टि करके कहा कि (अनेन प्रसविष्यध्वम्) इस यज्ञ से वृद्धि को प्राप्त हो। यह यज्ञ (वः इष्टकामधुक् अस्तु) तुम्हारी इच्छित कामना की पूर्ति करने वाला हो।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

गीता ३।११

(अनेन देवान् भावयत) इससे देवताओं की उन्नति करो (ते देवाः भावयन्तु वः) और वे देवता तुम्हारी उन्नति करें।

इस प्रकार (परस्परं भावयन्तः) परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हुए, कल्याण करते हुए (परम् श्रेयः अवाप्स्यथ) परम कल्याण को प्राप्त होगे।

इसीलिए वेद में कहा गया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

ऋग् १०।९०।१६, यजु० ३१।१६, अथर्व ७।५।१

यज्ञ शब्द 'यज्–देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु' धातु से बना है। इस प्रकार यज्ञ का यौगिक अर्थ है देव पूजा, संगतिकरण एवं दान।

सदाचारी विद्वान् देव कहे जाते है। 'विद्वांसो हि देवाः' विद्वान् ही देव है।' विबुधा देवाः' विशेष ज्ञानी देव हैं।

देव शब्द दिवु धातु से बना है। 'दिवु-क्रीड़ा विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु।' ये अर्थ दिव् धातु के हैं। इतने गुणों से जो युक्त होते है वे देव होते है।

निरुक्त में देव शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है; 'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' अर्थात् दान, दीपन, द्योतन करने अथवा द्युस्थान में स्थित होने से देव होता है। देव शब्द से स्वार्थ, (स्व+अर्थ) अर्थात् अपने अर्थ में तल् प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। यो देवः सा देवता अर्थात् जो देव है वही देवता है।

इस प्रकार उक्त मन्त्र का अर्थ हुआ (देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त) देवों ने, विद्वानों ने (यज्ञेन) यज्ञ से उस (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा

की (अयजन्त) पूजा की (तानि) विविध प्रकार के वे यज्ञ (प्रथमानि धर्माणि आसन्) प्रमुख अथवा सर्वश्रेष्ठ धर्म अर्थात् प्रमुख धार्मिक कार्य थे। (ह ते महिमानः नाकं सचन्ते) निश्चय ही यज्ञ करने वाले वे विद्वान् महिमा से युक्त होकर, महिमा मण्डित होकर स्वर्ग अथवा आनन्द के उस परमधाम को प्राप्त होते हैं (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) जहाँ यज्ञ रूपी धार्मिक साध्यों को सम्पन्न करने वाले पूर्वकालीन विद्वान् रहते हैं।

पञ्चमहायज्ञ

गृहस्थ जीवन के लिए हमारे मनीषियों द्वारा पाँच महायज्ञों का विधान किया गया है जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ द्वारा नित्य प्रति किया जाना अनिवार्य माना गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि ये यज्ञ अपने आप में बहुत छोटे हैं किन्तु फिर भी मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में इनके महत्व को दृष्टि में रखते हुए इन्हें महायज्ञ कहा गया है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

॥ मनु०।३।७०॥

वेदों का स्वाध्याय एवं सन्ध्योपासन करना ब्रह्मयज्ञ है, विद्वानों, देवों, ऋषि और माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा करके उनकी तृप्ति करना, उन्हें सुखी करना पितृ यज्ञ है, जल और पवन की शुद्धि दान तथा समस्त भूतों के उपकार के लिए हवन अथवा अग्निहोत्र करना दैवयज्ञ है, कुष्ठी आदि रोगियों, गरीबों, कुत्तों, पक्षियों, चीटियों आदि को भोजन आदि देकर उनकी तृष्टि करना बलि वैश्वदेव अथवा भूतयज्ञ है और विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय धर्मात्मा, सत्यवादी, निष्कपट, नित्य भ्रमण करके विद्या एवं धर्म का प्रचार और अविद्या, अधर्म की निवृत्ति करने वाले अतिथि का स्वागत सत्कार करना अतिथि यज्ञ अथवा नृयज्ञ कहा जाता है।

पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ।।

।।मनु०।३।७१।।

जो मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार इन पाँचों महायज्ञों को (न हापयति) नहीं छोड़ता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी नित्य (सूनादोषैः) जाने अनजाने होने वाली कीट पतङ्गादि की जीवहत्या के पाप में लिप्त नहीं होता।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुछ्वसन्न स जीवति ।।

मनु० ३।७२

जो देवता, अतिथि, भृत्य, माता-पिता तथा अपने गुरुजन इन पाँचों को भोजन देकर तृप्त नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी वास्तव में जीवित नहीं है।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनावमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ।।

मनु० २।२२५

आचार्य, पिता, माता तथा बड़ा भाई, इनका अपमान दुखी चित्त होने पर भी नहीं करना चाहिये, विशेषतया ब्राह्मण को।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ।।

मनु० २।२२६

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति, पिता प्रजापति की मूर्ति, माता पृथिवी की मूर्ति तथा सगा बड़ा भाई पुरुष की अपनी ही मूर्ति होता है।

यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ।।

मनु० २।२२७

मनुष्य के जन्म तथा लालन पालन आदि में जो क्लेश उसके माता-पिता सहन करते हैं, उसका मूल्य सैकड़ों वर्षों की सेवा से भी नहीं चुकाया जा सकता अर्थात उनके ऋण से कभी मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥

मनु० २।२२८

माता, पिता और आचार्य इन तीनों को सेवा शुश्रूषा तथा आज्ञाकारिता से प्रसन्न रखना चाहिए। उनके सन्तुष्ट रखने में ही समस्त तप पूर्ण हो जाते हैं।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

मनु० २।२२९

इन तीनों की सेवा परम तप है। इनकी आज्ञा के बिना किसी अन्य धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए अर्थात इनकी इच्छा अथवा आज्ञा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

मनु० २।२३०

माता-पिता और आचार्य ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृता।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

मनु० २।२३४

जिस मनुष्य ने इन तीनों का समादर किया उसने मानों सब

धर्मों का आदर कर लिया और जिसने इनका अनादर किया उसकी सभी क्रियाएँ निष्फल रहती हैं।

महाभारत में भी इसी प्रकार का निर्देश दिया गया है।

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥

विदुर १।७८

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक पाँच अग्नियों की सेवा करनी चाहिए। ये पाँच अग्नियाँ है माता, पिता, अग्नि आत्मा और गुरू। अग्नि की सेवा से तात्पर्य अग्निहोत्र तथा यज्ञ करना है और आत्मा की सेवा से तात्पर्य आत्मज्ञान प्राप्त करना तथा आत्मोन्नति का प्रयास करना है।

किन्तु दुर्भाग्य है कि आज हम इस शिक्षा को छोड़कर इसके ठीक विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं, जिसका अत्यन्त सजीव चित्रण आध्यात्म रामायण के निम्नाङ्कित श्लोक में किया गया है।

देहात्मदृष्टयो मूढा नास्तिकाः पशुबुद्धयः।
मातापितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिङ्कराः।

अ. रामा. महात्म्य ११

यह लोग शरीर में आत्मबुद्धि वाले अर्थात शरीर को ही आत्मा समझने वाले, मूर्ख, नास्तिक तथा पशुओं के समान बुद्धि वाले, माता पिता से द्वेष करने वाले और काम वासना के दास होकर स्त्री को ही देवता समझने वाले हैं।

अतिथि सत्कार

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

विदुर ४।३४

(तृणानि) अतिथि के आगमन पर तृण का आसन (भूमिः) बैठने अथवा शयन करने के लिए स्थान, जल (च चतुर्थी सूनता वाक्) तथा चौथी प्रिय एवं सत्य वाणी (एतानि सताम् गेहेषु कदाचन न उच्छिद्यन्ते) ये चार वस्तुयें सज्जनों के घरों में कभी भी समाप्त नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि अतिथि सत्कार के लिए यदि और कुछ नहीं तो कम से कम ये चार वस्तुयें तो सज्जनों के घर में सदैव उपलब्ध रहती ही हैं।

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥

विदुर ४।३५

हे महाबुद्धिमान् राजन् ! (सत्पुरुषों के घरों में) पुण्य कर्म करने वाले धर्मात्मा पुरुषों के सत्कार करने के निमित्त उपर्युक्त चार वस्तुयें अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उपस्थित की जाती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि अतिथि सत्कार का वास्तविक अर्थ ऐसे श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषों का सत्कार करना है, जो धर्म प्रचार के लिये इधर उधर विचरते हुये किसी के यहाँ आ जाते हैं और कुछ समय तक रुक कर प्रस्थान कर जाते हैं।

यम-नियम

कल्याणकारी कर्मों के विज्ञान को योगदर्शन में जिस सूक्ष्म, सरल एवं सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है, वैसा संसार के किसी अन्य दार्शनिक ग्रन्थ में नहीं किया गया है। अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हुये महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में कहा है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह योग के आठ अङ्ग है।

इस प्रकार यम तथा नियम योग के आधार स्वरूप बताए गये हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

योग० साधन पाद ।३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनका सूक्ष्म विवरण निम्न प्रकार है।

अहिंसा

महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में लिखा है कि सर्वथा, सर्वदा, सब प्राणियों में अनभिद्रोह अर्थात उनके प्रति वैर भाव का न रखना तथा उन्हें पीड़ा देने की भावना का परित्याग करना अहिंसा है। सूत्र में उल्लिखित शेष चार यम अहिंसा मूलक अथवा अहिंसा पर आश्रित हैं तथा अहिंसा की सिद्धि के लिये ही प्रतिपादित किये गये हैं। इस प्रकार महर्षि ने अहिंसा की महत्ता को स्पष्ट किया है। महात्मा गांधी, जिन्होंने अपने जीवन में सत्य तथा अहिंसा के व्रत का वास्तव में आचरण किया था, का भी कथन है कि सत्य तथा अहिंसा में वास्तव में कोई भेद नहीं है। वह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस प्रकार सर्वथा अर्थात् शरीर, मन, वाणी तथा कर्म से किसी का अनिष्ट न करना, कठोर भाषण न करना तथा किसी प्रकार से किसी को कभी भी पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। इसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए ही इसे परम धर्म कहा गया है, "अहिंसा परमो धर्मः"। अहिंसा के सम्बन्ध में मनुस्मृति, गीता तथा महाभारत आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में निम्न प्रकार कहा गया है।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥

मनु. २।१५९

अहिंसा से ही समस्त प्राणियों को कार्य करना चाहिये, यही कल्याणकारी अनुशासन है। धर्म की इच्छा करने वाले को सदा मधुर तथा सुलक्षणों से युक्त वाणी बोलना चाहिए।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।।

मनु. ६।६०

इन्द्रियों के निग्रह, रागद्वेष के क्षय तथा अहिंसा से पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

न हिंसयति यः प्राणान्मनो वाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः कर्मभिर्न स बध्यते ।।

महाभारत शान्ति पर्व १६८।२५

जो मन, वचन और शरीर से कभी प्राणियों की हिंसा नहीं करता, वह जीवित रहने में तथा अर्थोपार्जन में बाधा उत्पन्न करने वाले कर्मों से बाधित नहीं होता, अर्थात उसका जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है तथा उसके धनोपार्जन में बाधा उत्पन्न नहीं होती ।

अहिंसा की साधना का फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

योग । साधनपाद ३५

अहिंसा की सिद्धि होने पर उस योगी के समीप समस्त वैर समाप्त हो जाता है, यहाँ तक कि प्राणियों का सहज अथवा स्वाभाविक वैर जैसे कुत्ते बिल्ली अथवा नेवला-सर्प का वैर भी समाप्त हो जाता है।

सत्य

महर्षि व्यास के अनुसार 'सत्य यथार्थे वाङ्मनसे' यथार्थ वाणी तथा मन का होना अर्थात जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी तथा मन का होना सत्य कहा जाता है। इन्द्रियों से जैसा प्रत्यक्ष किया गया है, अनुमान से जैसा जाना गया है और दूसरों से जैसा सुना गया है, ठीक वैसी ही वाणी तथा मन का होना सत्य है। जो वाणी बोली जाय वह वञ्चिता अर्थात ठगने वाली या धोखा देने वाली, भ्रान्ता अर्थात भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली, प्रतिपत्तिवन्ध्या

अर्थात जिससे सही अथवा गलत कुछ भी बोध न हो ऐसी चालाकी से भरी हुयी नहीं होनी चाहिये। साथ ही सत्यवाणी सभी के उपकार के लिये हो प्राणियों को पीड़ा देने के लिये न हो।

यथार्थ भाषण करना, छल-कपट से रहित होकर सरलता से बोलना, व्यवहार करना तथा धर्मानुकूल आचरण करना, सत्य के ही विभिन्न रूप हैं। सत्य की इतनी अधिक महत्ता है कि सत्य को ही धर्म कहा जाता है 'सत्यं वै धर्मः'। ब्रह्म को भी सर्व प्रथम सत्य ही कहा जाता है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'। ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त है। मनुष्य जीवन के लिये सत्य को ही कल्याणकारी एवं सुन्दर कहा गया है। 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्।'

सत्य के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण श्लोक निम्न प्रकार हैं।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्॥

सूक्ति सुधा। २४

अक्रोध से क्रोध को, सज्जनता से दुर्जनता को, दान से कंजूसी को तथा सत्य से असत्य को जीतना चाहिये।

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

चाणक्य ५।१९

सत्य से पृथिवी स्थिर है, सत्य से सूर्य तपता है और सत्य से ही वायु बहती है। सब कुछ सत्य पर आधारित है।

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित्प्रबाधते।
ऋते सत्यमसंत्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम्॥

महाभारत। शान्ति। १६९।२६

सत्य के बिना, सामने आती हुई मृत्यु की सेना को कोई भी रोक नहीं सकता। सत्य त्याज्य नहीं है क्योंकि सत्य में अमृतत्व स्थित है।

तस्मात्सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यारामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ।।

महाभारत।शान्ति।१६८।२७

अतएव सत्य व्रत का आचरण करते हुए सत्य योग में रत होकर सत्य में श्रद्धापूर्वक रमण करते हुए, समाहित चित्त एवं जितेन्द्रिय हो कर, सत्य से ही मृत्यु को जीतना चाहिए ।

सत्य की साधना का फल

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम् ।

योग । साधन ।३६

सत्य की सिद्धि हो जाने पर क्रिया तथा फल योगी की वाणी के आश्रित हो जाते हैं अर्थात वह योगी जो कह देता है, वही हो जाता है ।

अस्तेय—

चोरी न करना, अनधिकार चेष्टा करके किसी का धन, स्वत्व अथवा अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति न लेना और न लेने की इच्छा करना अस्तेय कहा जाता है ।

संसार के अधिकांश विवाद दूसरे की वस्तु को छीनने से या उसकी इच्छा के बिना अनुचित रूप से ले लेने के कारण ही उत्पन्न होते हैं ।

इसीलिए प्रथम मन्त्र में कहा गया है –

"मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" अनधिकार चेष्टा करके अन्यायपूर्ण ढंग से किसी के धन का हरण मत करो ।

अस्तेय की प्रतिष्ठा का फल

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

योग । साधन । ३६

अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने पर सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है ।

ब्रह्मचर्यः—

वीर्य की रक्षा करना, मन सहित समस्त इन्द्रियों का दमन करते हुए उपस्थ इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) का विशेष रूप से निरोध एवं संयम करना तथा श्रेष्ठ आचरण करना ब्रह्मचर्य कहा जाता है। इसके लिये निम्नाङ्कित अष्टविध मैथुन का निषेध किया गया है। १. दर्शन २. स्पर्शन ३. एकान्त सेवन ४. भाषण ५. विषय कथा ६. परस्पर क्रीड़ा ७. विषय का ध्यान तथा ८. संग।

'ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यम् आचरणीयम् ब्रह्मचर्यम्' अर्थात ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक एवं पवित्र कर्तव्य कर्म-ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से विद्वान् व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है और ब्रह्मचर्य, तप तथा ज्ञान से आत्मोन्नति करते हुए जीवात्मा अन्त में परमात्मा को प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य ही प्राण प्रतिष्ठा का सर्वोत्तम साधन है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

अथर्व ११।५।१९

ब्रह्मचर्य और तप से देवों ने मृत्यु को दूर किया है, उस पर विजय प्राप्त की है। इन्द्र ब्रह्मचर्य से ही देवों के लिए (स्वः आभरत्) सुख एवं तेज प्रदान करता है।

मनुष्य के सफल एवं सुखी जीवन के लिए अच्छा स्वास्थ्य परम आवश्यक है। धर्मार्थ काम मोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्। अर्थात धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का आरोग्य ही उत्तम आधार है। विदुर नीति में आरोग्य को धन से अधिक महत्वपूर्ण कहा गया है:—

न मनुष्ये गुणः कश्चित् राजन् सधनतामृते।

अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः॥

विदुर नीति।४।६७

हे राजन ! मनुष्य में धनी होने और नीरोग होने के अतिरिक्त अन्य कोई (प्रमुख) गुण नहीं है। इनमें भी स्वस्थ होना प्रधान गुण है क्योंकि रोगी पुरुष तो मरे हुए के समान होते हैं।

इस सबसे महत्वपूर्ण गुण अथवा उत्तम स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य का पालन परमावश्यक है। यह दुःख का विषय है कि आज हम पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता से प्रभावित होकर ब्रह्मचर्य के इस व्रत को उपेक्षित करते जा रहे हैं।

ब्रह्मचर्य का फल

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

योग। साधन। ३८

ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य लाभ होता है, जिससे बल तेज तथा ओज प्राप्त होता है।

अपरिग्रह–

विषय अर्थात धन आदि भोज्य पदार्थों के अर्जन, संग्रह, रक्षण एवं क्षय में, तथा उनमें आसक्ति एवं हिंसा अर्थात प्राणियों को पीड़ा इन सबमें दोष की अनुभूति होने के कारण इन भोज्य पदार्थों का संग्रह न करना ही अपरिग्रह है।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान् ॥

धन के अर्जन करने में दुःख होता है और अर्जित धन की रक्षा करने में दुःख होता है। इसके आने में भी दुःख है, और जाने में भी। कष्ट के आश्रय रूप ऐसे धन को धिक्कार है।

ब्रह्मचारी तथा सन्यासी के लिये धन अथवा अन्य पदार्थों का संग्रह पूर्ण रूप से वर्जित है, जबकि गृहस्थ के लिये आवश्यकता से अधिक संग्रह करना निषिद्ध है।

यदि सब लोग अपरिग्रह का पालन करें तो आवश्यक वस्तुओं की समय समय पर होंने वाली बनावटी कमी समाप्त हो जाय और निर्धन तथा दुर्बल वर्ग के व्यक्तियों को होने वाला अनावश्यक कष्ट समाप्त हो जाय। साथ ही किसी व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्रित न होने के कारण वर्ग द्वेष तथा वर्ग संघर्ष भी बहुत कम हो जाय।

मनुस्मृति में तो सम्मान से प्राप्त होने वाले लाभ के प्रति भी अनिच्छा रखने का निर्देश दिया गया है।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥

मनु. ६। ५८

पूजन अर्थात सम्मान से प्राप्त होने वाले लाभ के प्रति भी जुगुप्सा अर्थात अनिच्छा होनी चाहिये, लिप्सा अर्थात प्राप्त करने की इच्छा नहीं। पूजा से प्राप्त होने वाले लाभों से मुक्त हुआ सन्यासी भी बन्धन में पड़ जाता है।

अपरिग्रह का फल

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः

योग। साधन। ३९

अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर पूर्व जन्म तथा भावी जन्म आदि का बोध हो जाता है।

योगदर्शन में ही कहा गया है कि उपर्युक्त यम :-

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥

योग। साधन। ३१

जातिदेशकाल तथा समय से अनवच्छिन्न, (सीमा से परे) अखण्डनीय, अप्रभावित रहने वाले सार्वभौम महाव्रत हैं, अर्थात इनका पालन समस्त मानव जाति को सदैव सर्वत्र करना चाहिए। यह इतने महत्वपूर्ण सामा-

जिक नियम हैं कि यदि इनका पालन निष्ठापूर्वक किया जाय तो लगभग सभी सामाजिक समस्यायें अपने आप समाप्त हो जायँ और सम्पूर्ण मानव जाति का जीवन सुखी हो जाय।

यमों की अनिवार्यता

मनुस्मृति में कहा गया है कि यमों का पालन अनिवार्य है। इनके बिना केवल नियमों का आचरण करना विशेष लाभदायक नहीं होता, बल्कि वाह्य प्रदर्शन मात्र होने से पतन का कारण भी हो सकता है।

यमान्सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्॥

मनु. ४। २०४

यमों के बिना केवल नियमों का सेवन न करे, विद्वान पुरुष इन दोनों का साथ साथ सेवन करे। जो यमों का सेवन न करके केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता बल्कि अधोगति को प्राप्त होता है।

नियम

जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के लिये यमों का पालन आवश्यक है उसी प्रकार वैयक्तिक उन्नति के लिये नियमों का पालन परमावश्यक है।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योग। साधन। ३२

शौच (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

शौच

मन, वाणी, शरीर तथा कर्मों की पवित्रता को शौच कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से पवित्रता दो प्रकार की होती है।

बाह्य शौच

(क) जल आदि से शरीर की पवित्रता बाह्य शौच है।

(ख) मेध्य अर्थात पवित्र खाद्य पदार्थों को खाने से तथा अमेध्य पदार्थों के त्याग से बाह्य शौच अथवा पवित्रता होती है।

अन्न की पवित्रता के सम्बन्ध में कहा है—

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ।
यदन्नं भक्षयते नित्यं जायते तादृशी प्रजा ।।

चाणक्य । ८ । ३

दीपक अन्धकार को खाता है और काजल को जन्म देता है। जो नित्य जिस प्रकार का अन्न खाता है उसकी सन्तान भी वैसी ही होती है।

आभ्यन्तर शौच

ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, दम्भ, घृणा आदि अन्तःकरण के मलों को समाप्त करना, उनका प्रच्छालन करना आभ्यन्तर शौच है।

पवित्रता की महत्ता को दृष्टि में रखते हुये वेद में प्रार्थना की गयी है—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ।।

यजु. १९ । ३९

(जातवेदः) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (पुनीहिमा) मुझे पवित्र कीजिये, (पुनन्तु मनसा धियः) मुझे मन बुद्धि तथा कर्मों से पवित्र कीजिये (पुनन्तु मा देवजनाः) समस्त देव तथा विद्वान लोग मुझे

पवित्र करें और (पुनन्तु विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिमात्र मुझे पवित्र करें।

यही मन्त्र निम्नाङ्कित पाठभेद के साथ अथर्ववेद में आया है।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥

अथर्व. ६। १९। १

देव लोग अथवा दिव्य गुणों वाले विद्वान मुझे पवित्र करें (मनवः) मननशील पुरुष मेरी बुद्धि तथा कर्मों को पवित्र करें, समस्त प्राणिमात्र मुझे पवित्र करें, पवित्र करने वाला परमात्मा मुझे पवित्र करें।

इस मन्त्र में मनन पर बल दिया गया है क्योंकि मनन करने से ही हम अपने दुष्कर्मों को छोड़ कर अपने को पवित्र कर सकते हैं।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

मनु। ६। ४६

दृष्टि से पवित्र करके अर्थात् सावधानी से देख कर पाँव रखे, वस्त्र से पवित्र करके, छान कर जल पीवे, सत्य से पवित्र करके वाणी बोले तथा मन से पवित्र होकर आचरण करे। इस प्रकार मनसा वाचा कर्मणा पवित्र बनने का प्रयास करना चाहिए। क्योंकि मन ही सब कर्मों का आधार है:—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद् वाचा वदति,
तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

शतपथ ब्राह्मण।

मनुष्य मन से जो सोचता है वाणी से वही बोलता है, जो वाणी से बोलता है, वही कर्मेन्द्रियों से करता है, और जो कर्म करता है उसी को प्राप्त होता है अर्थात् वैसाही बनता है।

मन के द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के सङ्कल्प ही समस्त कर्मों के आधार होते हैं। अतएव वास्तव में मन ही मनुष्यों की उन्नति अथवा अवनति, मोक्ष अथवा बन्धन का कारण होता है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयम्मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

चाणक्य नीति। १३। १२॥   मैत्रायणी उप०। ४। ११

मन को विषयों में लगाना बन्धन है, तथा विषयों से पूरी तरह अलग करना मुक्ति है। वास्तव में मन ही मनुष्यों के बन्धन अथवा मोक्ष का कारण है।

इसीलिए वेद में यह शिक्षा दी गयी है तथा प्रार्थना की गई है कि हमारा मन सदैव शिवसङ्कल्प वाला हो। सुविज्ञ पाठकों द्वारा स्मरण किये जाने के लिए यह अत्यन्त सुन्दर प्रार्थना यहाँ उद्धृत की जा रहीं है :—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

यजु० ३४। १

(यत् जाग्रतः दूरं उत् ऐति) जो जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है, (तत् उ सुप्तस्य तथा एव एति) और जो सुप्तावस्था में उसी प्रकार आत्मा की ओर चला जाता है, (तत् दूरङ्गमं ज्योतिषां एकं ज्योतिः मे दैवं मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) ऐसा दूर दूर जाने वाला,

सभी इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाला एक मात्र ज्योतिस्वरूप मेरा दिव्य मन शिवसङ्कल्प वाला हो, सत्य एवं कल्याणकारी सङ्कल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

यजु०। ३४। २

(येन अपसः मनीषिणः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति) जिसकी सहायता से धर्मनिष्ठ सत्यवादी आप्त विद्वान् एवं मनीषी यज्ञों में तथा युद्धों में अथवा जीवन के संघर्षों में विभिन्न कर्म करते हैं, (यद् प्रजानां अन्तः अपूर्वं) जो प्राणियों के अन्तःकरण में अपूर्व अथवा सर्वोत्तम गुण कर्म स्वाभाव वाला है (तत् मे यक्षं मनः शिवसङ्कल्पभस्तु) ऐसा यक्षस्वरूप अथवा पूजनीय मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।

यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

यजु। ३४। ३

(यत् प्रज्ञानम् उत चेतः धृतिः च) जो ज्ञान, चेतना, स्मृति तथा धैर्य आदि मानवीय सद्गुणों एवं भावनाओं का आधार है, (यत् प्रजासु अन्तः ज्योतिः) जो प्राणियों के अन्तःकरण में ज्योतिस्वरूप है, (यस्माद् ऋते किंचन कर्म न क्रियते) जिसके विना कोई कर्म नहीं

किया जा सकता, (तत् मे अमृतं मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) ऐसा मेरा अमृत मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

॥ यजु। ३४।४।

(येन अमृतेन भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वं इदं परिगृहीतम्) जिस अमृत स्वरूप मन से भूत भविष्य वर्तमान में स्थित सब कुछ भली प्रकार ग्रहण किया जाता है, जाना जाता है, (येन सप्तहोता यज्ञः तायते) जिससे शरीर में निरन्तर चलने वाला सप्त-होता यज्ञ सम्पन्न होता है (तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) ऐसा मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

सप्त होता यज्ञ का तात्पर्य ऐसे यज्ञ से है जिसमें सात आहुति देने वाले हों; शरीर में पाँच प्राण, बुद्धि तथा जीवात्मा अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि तथा जीवात्मा ये सात आहुति देने वाले यज्ञकर्ता हैं जो मन की सहायता से जीवन रूपी यज्ञ का विस्तार करते हैं।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।

यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

यजु। ३४।५

(यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि, यस्मिन् रथनाभौ अराः इव

प्रतिष्ठिताः) जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा जिसमें अथर्ववेद इस प्रकार प्रतिष्ठित हैं जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे प्रतिष्ठित रहते हैं, (यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तं ओतम्) जिसमें प्रजाओं का चित्त अथवा समस्त ज्ञान पिरोया हुआ रहता है, (जैसे धागे में मणियाँ) (तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) ऐसा मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

॥ यजु। ३४। ६ ॥

(यत् सुषारथिः अश्वान् इव मनुष्यान् नेनीयते) जो मनुष्यों को इस प्रकार इधर उधर ले जाता है जिस प्रकार कुशल सारथि अश्वों को ले जाता है (अभीशुभिः वाजिन इव) तथा जो इन्द्रियों एवं शरीर को इस प्रकार नियन्त्रण में रखता है जैसे कुशल सारथि रस्सियों से बलशाली एवं वेगवान् अश्वों को नियंत्रण में रखता है, (यत् हृत्प्रतिष्ठं अजिरं जविष्ठं) जो हृदय में स्थित रहने वाला, कभी वृद्ध न होने वाला तथा अत्यन्त वेगवान् है, (तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) ऐसा मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

इस प्रकार मन, वाणी शरीर तथा कर्म की पवित्रता पहला नियम है, जो मनुष्य की आत्मिक उन्नति के लिये परमावश्यक है।

बाह्य शौच का फल :—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

॥ योग। साधन। ४० ॥

(शौचात्) बाह्य शौच की सिद्धि होने पर (स्वाङ्गजुगुप्सा) अपने शरीर से ग्लानि अर्थात् अपने ही शरीर के प्रति अशुचिता-बुद्धि हो आती है जिससे शरीर के प्रति मोह नहीं रहता तथा (परैः असंसर्गः) दूसरे लोगों के साथ शारीरिक सम्बन्ध अथवा सम्पर्क रखने की अनिच्छा हो जाती है।

आभ्यन्तर शौच का फल :—

सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

योग। साधन। ४१

आभ्यन्तर शौच सिद्ध हो जाने पर सत्व शुद्धि अर्थात् चित्त की शुद्धि, सौमनस्य अर्थात् मन की अत्यन्त निर्मलता, एकाग्र्य अर्थात् ईश्वर में चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियजय अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करने की शक्ति तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता हो जाती है।

सन्तोष :—

उपलब्ध वस्तुओं से सन्तुष्ट होना, तृष्णा का त्याग करना तथा उपयोग के और अधिक साधनों के लिए लालायित न होना सन्तोष है। सन्तोष से मनुष्य को शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। "संतोषः परमं सुखम्"

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

॥ चाणक्य। ७। ३॥

मनुष्य को सन्तोष रूपी अमृत से जो सुख-शान्ति प्राप्त होती है, वह सुख और शान्ति इधर-उधर दौड़ने वाले धन के लोभियों को नहीं मिल सकती।

शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः॥

॥ चाणक्य। ८। १३॥

शान्ति के बराबर कोई तप नहीं है, सन्तोष से बढ़कर कोई सुख नहीं है, तृष्णा से बड़ी कोई व्याधि नही है और दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥

मनु०। ४। १२

सन्तोष सुख का मूल है तथा असन्तोष दुःख का। अतः सुख की इच्छा करने वाले पुरुष को सन्तोषी होकर संयत अवस्था में रहना चाहिए।

सन्तोष लोभ को समाप्त करता है।

उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोषा॥

राम। मानस। किष्किन्धा काण्ड

लोभ ही पाप का मूल है। अतः सन्तोष करने वाला पुरुष सदा पाप से बचा रहता है।

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम्॥

विदुर २। ७२

(अनसूया) दूसरे के गुणों में दोष न देखना, (परगुणेषु दोषाविष्करणं असूया अर्थात् दूसरे के गुणों में दोष देखना ही असूया है और इस असूया का अभाव अनसूया कहलाता है), (आर्जवम्) ऋजुता, सरलता, (शौचम्) मन, वाणी, शरीर तथा कर्मों की पवित्रता, (सन्तोषः) उपलब्ध वस्तु से सन्तुष्ट होना, (प्रियवादिता) प्रिय बोलना, (दमः) मन एवं इन्द्रियों पर विजय (सत्यम्) सत्य

(अनायासः) चञ्चलता का अभाव (दुरात्मनाम् न भवन्ति) ये गुण दुरात्माओं में नहीं होते।

सन्तोष की सिद्धि का फल :—

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।

॥ योग । २ । ४२ ॥

सन्तोष की प्रतिष्ठा हो जाने पर अनुत्तम सुख अर्थात् जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई सुख नहीं है, प्राप्त होता है।

तप –

सत्य का आचरण करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, मन, वाणी तथा अन्य इन्द्रियों का संयम, स्वाध्याय, प्राणायाम, यज्ञ, दान, तथा अनासक्त भाव से अन्य परोपकारी कर्म करना, शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करना, सफलता असफलता, सिद्धि असिद्धि में समभाव रखना, परमात्मा के प्रति समर्पित होकर भक्ति पूर्वक नियमित संयमित एवं यज्ञमय जीवन व्यतीत करना, श्रेष्ठ कर्म करते हुये मनन, ध्यान, उपासना एवं योग द्वारा सब प्रकार की अशुद्धियों का नाश करना तप कहा जाता है।

ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः ।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना तथा सत्य नियमों का पालन करना तप है, सत्य पर आचरण करना तप है, मन तथा इन्द्रियों का संयम करना तप है तथा वेद आदि श्रेष्ठ आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करना तप है।

तप में प्राणायाम का बड़ा महत्व है।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥

॥ मनु० । ६ । ७० ॥

ओ३म् तथा भूः भुवः स्वः इन तीन महा व्याहृतियों से युक्त विधिवत् किये गये तीन प्रणायाम ब्राह्मण के लिए परम तप है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।

मनु । ६ । ७१

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल जलकर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार ध्यान करने वाले पुरुषों की इन्द्रियों के दोष प्राण के निग्रह अर्थात् प्राणायाम से दूर हो जाते हैं।

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्

मनु० । ६ । ७५

अहिंसा, इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति तथा श्रेष्ठ वैदिक कर्मों एवं उग्र तप से पुरुष उस ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।

गीता में शरीर, वाणी तथा मन के तपों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।

गीता । १७ । १४

(देवद्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं) देवता, ब्राह्मण, गुरु अर्थात् माता, पिता आचार्य तथा अन्य वृद्ध एवं ज्ञानी जनों का सम्मान करना (शौचम्) पवित्रता, (आर्जवम्) सरलता, (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (च) और (अहिंसा) किसी को कष्ट न पहुंचाना यह सब (शारीरम् तप उच्यते) शारीरिक तप कहलाते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।

गीता १७ । १५ ।।

(च यत्) और जो (अनुद्वेगकरम्) उत्तेजित न करने वाला, (प्रियहितम्) प्रिय एवं हितकारी (सत्यं वाक्यम्) यर्थाथ सत्य भाषण है (च) तथा (स्वाध्यायाभ्यसनम्) वेद शास्त्र का अध्ययन एवं मनन है (तत् एव वाङ्मयम् तप उच्यते) वही वाणी का तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

गीता १७। १६

(मनः प्रसादः) मन की प्रसन्नता (सौम्यत्वम्) शान्त एवं विनम्र भाव, (मौनम्) अनावश्यक रूप से न बोलना, (आत्मविनिग्रहः) मन का निग्रह और (भावसंशुद्धिः) अन्तःकरण की पवित्रता (इति एतत् मानसम् तपः उच्यते) यह मानसिक तप कहलाता है।

कठोर तथा पीड़ा पहुंचाने वाली वाणी की निन्दा करते हुये कहा गया है—

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥

विदुरनीति। ४। ८

(अरुन्तुदम्) मर्म स्थानों को पीड़ा पहुँचाने वाली, (परुषम् रूक्षवाचम्) कठोर एवं रुखी वाणी बोलने वाले, (वाक्कण्टकै मनुष्यान् वितुदन्तम्) तथा वाणी रूपी काटों से मनुष्यों को छेदने वाले, पीड़ा पहुँचाने वाले व्यक्ति को (वै) निश्चय ही (जनानाम्) लोगों के मध्य में (अलक्ष्मीकतमं) अत्यन्त बुरे लक्षणों वाला दरिद्री, (मुखे निबद्धाम् निर्ऋतिं वहन्तम्) तथा मृत्यु को मुख पर बाँधकर वहन करने वाला (विद्यात्) जाने।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तम् बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्

विदुरनीति । २ । ७८

वाणों से छेदा गया घाव फिर भर जाता है, परशु (कुल्हाड़े) से काटा गया वन भी पुनः हरा हो जाता है, परन्तु निन्दित दुर्वचन युक्त वाणी से किया गया हृदय का घाव कभी नहीं भरता ।

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्
तस्माद्वाचमुषतीमुग्ररूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ।।

विदुरनीति ४ । ७

(मर्माणि अस्थीनि हृदयं तथा असून् पुंसाम् रुक्षाः वाचः निर्दहन्ति) मर्म स्थानों, हड्डियों, हृदय तथा प्राणों को लोगों की कठोर वाणियाँ जला देती हैं । (तस्माद्) इसलिए, (उषतीम्) जला देने वाली, (उग्ररुपाम्) उग्र एवं कठोर (वाचम्) वाणी को (धर्मारामः) धर्म प्रिय, धर्मात्मा पुरुष, (नित्यशः वर्जयीत) नित्य प्रति अर्थात् सदैव छोड़ देवे ।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ।।

।। चाणक्य । १६ । १७ ।।

प्रिय वाक्य बोलने से सब जीव प्रसन्न होते हैं, इसलिए मीठा ही बोलना चाहिए । वाणी में क्या दरिद्रता ? अर्थात् सदैव मधुर कल्याण-कारी एवं प्रिय वाणी ही बोलना चाहिये ।

तैत्तिरीय आरण्यक में तप का लक्षण निम्नप्रकार बताया गया है :—

ऋतं तपः, सत्यं तपः श्रुतं तपः, शान्तं तपो,
दमस्तपः, शमस्तपः, दानं तपः, यज्ञस्तपः,
भूर्भुवः स्वर्ब्रह्म तदुपास्वैतत्तपः ।

तैत्तिरीय आरण्यक । प्रपाठक १० । अनु० ०८ ।

(ऋतं तपः) ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना तथा उसकी खोज करना और सत्य नियमों का पालन करना तप है, (सत्यं तपः) सत्य बोलना तथा सत्य का आचरण करना तप है। (श्रुतं तपः) वैदिक ज्ञान का पठन-पाठन, श्रवण मनन तप है। (शान्तं तपः) समस्त प्रकार के द्वन्द्वों से अनुद्विग्न एवं अविचलित होकर शान्त रहना तप है। (दमः तपः) इन्द्रियों का दमन अथवा निरोध तप है। (शमः तपः) मन को सन्तुलित एवं समाहित रखना तप है। (दानं तपः) विद्या, धन तथा अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं का दान तप है। (यज्ञः तपः) यज्ञ करना तप है। (भूः भुवः स्वः ब्रह्म) ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, (एतद् उपास्व) उसकी उपासना करो, (एतत् तपः) यही तप है।

तप का फल–

कायेन्द्रियसिद्धरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

॥ योग । ४३ ॥

(तपसः) तप के सिद्ध होने पर (अशुद्धिक्षयात्) अशुद्धि के क्षय हो जाने से (काय-इन्द्रिय सिद्धिः) शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है शर्थात् शरीर पूर्ण नीरोगता एवं सत्व तेज से युक्त हो जाता है और इन्द्रियाँ अपना कार्य उत्तमत्ता एवं सूक्ष्मता से करने लगती हैं।

स्वाध्यायः–

"स्थाध्यायो मोक्षशासनणामध्ययनं प्रणवजपो वा-व्यासभाष्य" वेद आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन, पठन-पाठन तथा ओ३म् का जप करना स्वाध्याय कहलाता है।

नियमित स्वाध्याय की अनिवार्यता को दृष्टि में रखते हुए कहा गया है।

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्याये प्रभुशत्रुषु।
भोगेष्वायुषु विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति।।

विदुर नीति। ५। ५७

स्त्रियों, राजाओं, सर्पों, स्वाध्याय, स्वामी, शत्रु, भोगों और आयु के विषय में कौन विद्वान् विश्वास कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को स्वाध्याय के विषय में निश्चिन्त नहीं होना चाहिए, अन्यथा अधीत विद्या का विस्मरण हो जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षा देते हुए निर्देश देते हैं :-

"स्वाध्यायान्माप्रमदः"

स्वाध्याय करने में प्रमाद न करो, अर्थात् नित्य स्वाध्याय करो।

स्वाध्याय की महत्ता इतनी अधिक है कि तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य के साथ साथ स्वाध्याय करने का उपदेश किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेष्ठ कार्य करना ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ साथ नित्यप्रति स्वाध्याय करना भी आवश्यक है।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, ।। १ ।। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च ।। २ ।। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।। ३ ।। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ४ ।। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ५ ।। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ६ ।। अग्नि-होत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ७ ।। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ८ ।। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ९ ।। प्रजाश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। १० ।। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। ११ ।। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।। १२ ।।

तैत्तिरीय उप। १। शिक्षा वल्ली नवम अनुवाक।

(ऋतं च) सद् आचरण करो, (स्वाध्याय प्रवचने च) स्वाध्याय करो तथा प्राप्त ज्ञान का समाज में प्रवचन करके सबका कल्याण करो ।। १ ।। सत्य का पालन करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। २ ।। तप करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ३ ।। इन्द्रियों का दमन करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ४ ।। मन का संयम करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ५ ।। यज्ञ करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ६ ।। अग्निहोत्र करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ७ ।। अतिथियों का सत्कार करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ८ ।। मानव मात्र की सेवा करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ९ ।। प्रजा जनों की उन्नति करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। १० ।। उत्तम सन्तान उत्पन्न करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। ११ ।। जाति का उत्कर्ष करो तथा स्वाध्याय एवं प्रवचन करो ।। १२ ।।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म-मयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।

मनु ।। २ । १५७ ।

जिस प्रकार काठ का हाथी अथवा चमड़े का मृग होता है उसी प्रकार बिना विद्या पढ़ा ब्राह्मण होता है । ये तीनो केवल नाम धारण करने वाले अथवा नाम मात्र के होते हैं । तात्पर्य यह है कि विद्या तथा स्वाध्याय से हीन ब्राह्मण, वास्तव में ब्राह्मण नहीं होता ।

स्वाध्याय की महत्ता को दृष्टि में रखते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो चन्दन आदि का लेप करके तथा माला पहन कर अर्थात् खूब सज संवर कर पलंग पर लेट कर स्वाध्याय करता है, वह भी मानो पूर्ण तप करता है ।

स्वाध्याय का फल :-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

योग । साधन । ४४ ।।

स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन प्राप्त होता है ।

ईश्वर प्रणिधान :–

महर्षि व्यास ने योगसूत्र के भाष्य में लिखा है 'ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'। अर्थात् उस परम गुरु, परम पिता परमात्मा में समस्त कर्मों का अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान है। ऐसा व्यक्ति जीवनमुक्त योगी हो जाता हैं और वह–

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी।

(शय्यासनस्थः अथवा पथि व्रजन्) जीवन-मुक्त भोगी पुरुष चाहे शय्या पर स्थित हो अथवा आसन् पर, और चाहे मार्ग में जा रहा हो, वह सदा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा (स्वस्थः) अपने स्वरूप में ही स्थित होता है (परिक्षीण वितर्कजालः) उसके समस्त संशय, अज्ञान, हिंसा आदि वितर्क समाप्त हो जाते हैं, और वह योगी (संसारबीज क्षयं ईक्षमाणः) संसार के बीज, अर्थात् सांसारिक बन्धन के कारण रूप अविद्यादि क्लेशों तथा उनसे उत्पन्न संस्कारों का नाश करता हुआ (नित्ययुक्तः) अपने को परमात्मा के साथ नित्य संयुक्त करता हुआ (अमृत भोग भागी स्यात्) मोक्ष के आनन्द का अधिकारी बन जाता है। (यमनियमादिभ्यो विरुद्धा हिंसादयो वितर्काः) यम नियम आदि के विरुद्ध हिंसा आदि आचरण वितर्क कहे जाते हैं।

इस प्रकार ईश्वर के प्रति अर्पण करके श्रेष्ठ कर्म करना तथा स्वयं को ईश्वर के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित करके अनन्य भक्ति करना ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर के प्रति समर्पण तथा भक्तिभाव से उसकी शरण में जाने का अत्यन्त महत्व है।

वास्तव में यही सुख समृद्धि तथा सफलता का मूल मन्त्र है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है :–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

॥ गीता । १८ । ६२ ॥

(भारत) हे अर्जुन ! (सर्वभावेन तम् एव शरणं गच्छ) पूर्ण भक्ति भाव से उस परमेश्वर की ही शरण में जाओ। (तत्प्रसादात्) उसकी कृपा से (परां शान्तिम्) परम शान्ति तथा (शाश्वतम् स्थानम्) सनातन परम पद को (प्राप्स्यसि) प्राप्त करोगे।

इससे अधिक और क्या हो सकता है कि जो लोग वास्तव में श्रद्धा विश्वास एवं भक्ति के साथ ईश्वर के शरणागत हो जाते हैं उनके कल्याण का उत्तरदायित्व भगवान् स्वयं वहन करते है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

॥ गीता । ९ । २२ ॥

(ये जनाः) जो लोग (अनन्याः चिन्तयन्तः) अनन्य भाव से चिन्तन करते हुये (माम् पर्युपासते) मेरी उपासना करते हैं (तेषां नित्याभियुक्तानाम्) मुझमें उपासना द्वारा नित्य संयुक्त हो जाने वाले उन भक्तों का (योगक्षेमम्) योगक्षेम (अहम् वहामि) मैं स्वयं वहन करता हूँ। योगः (अलब्ध लाभो योगः) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति योग है तथा क्षेमः (प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः) प्राप्त वस्तु का संरक्षण ही क्षेम है।

अर्थात् ऐसे अनन्य भक्तों की कामनाओं की पूर्ति तथा उनकी सब प्रकार से रक्षा का उत्तरदायित्व भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। यह है भक्ति की महिमा। ऐसे भक्तों के समस्त दुःख, कष्ट तथा

संकट वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर क्षण भर में उड़ा देता है, नष्ट कर देता है। जैसा कि वेद में कहा गया है :-

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।

एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति॥

॥ अथर्व।१०।१।१३॥

(यथा वातः भूम्याः रेणुम् च्यावयति) जिस प्रकार वायु भूमि से धूल को उड़ा ले जाती है (च) और (अन्तरिक्षात् अभ्रम्) अन्तरिक्ष से मेघ को उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार मेरे समस्त पाप दुःख, कष्ट तथा संकट ब्रह्म द्वारा हटाये जाने पर, निवारण किये जाने पर समाप्त हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म द्वारा सहायता किये जाने पर, कृपा किये जाने पर मनुष्य के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं तथा वह पूर्ण सुख एवं शान्ति का अनुभव करता है।

कितनी सुन्दर उपमा से अलंकृत तथा विश्वास से भरा हुआ यह मन्त्र है। जैसे वायु के लिए धूल और बादलों को उड़ा ले जाना नित्य प्रति होने वाली एक वास्तविक साधारण घटना है, उसी प्रकार उस परमपिता के लिए अपने भक्तों के संकटों को उड़ा देना नित्य-प्रति होने वाली एक साधारण बात है। आवश्यकता है केवल श्रद्धा, विश्वास, सदाचार तथा अनन्य भक्ति की।

इसी भाव को गो० तुलसीदास जी ने अत्यन्त सरल एवं सुन्दर ढंग से लिखा है :-

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरिसरण न एकउ बाधा॥

राम० मानस०। किष्किन्धा काण्ड

ईश्वर प्रणिधान का फल :–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

योग । साधन । ४५

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है ।

उपर्युक्त यम और नियम मनुष्य के श्रेष्ठ कर्मों की आधार शिला हैं । इनके अनुसार आचरण करने वाला मनुष्य ही सच्चा कर्मयोगी होता है । अर्जुन को कर्मयोगी बनने का निर्देश देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है :–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

।। गीता । २ । ४८ ।।

हे अर्जुन! आसक्ति को त्याग कर सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव रखते हुए योग में स्थित होकर कार्य करो। सफलता तथा असफलता में समबुद्धि तथा समत्वभाव ही योग कहा जाता है ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।

गीता । २ । ५०

सफलता तथा असफलता में समत्व बुद्धि से युक्त व्यक्ति पुण्य तथा पाप दोनों से ऊपर हो जाता है क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान से उसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं । अतः योग की प्राप्ति के लिए ही प्रयास करो क्योंकि योगस्थ होकर कर्म करना ही कर्म करने का वास्तविक कौशल है । तात्पर्य यह है कि कर्म करने की चतुरता अथवा दक्षता यही है कि योगस्थ होकर कर्म किये जायँ । यही वास्तविक कर्म-योग है ।

श्रेष्ठ आचरण :–

दैनिक जीवन में श्रेष्ठ आचरण के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण उपयोगी एवं अद्वितीय शिक्षा तैत्तिरीय उपनिषद् में दी गयी है, जिसे

संसार के प्रत्येक विद्यार्थी को बराबर पढ़ाया जाना चाहिए ताकि वह उसे हृदयङ्गम करके उसपर आचरण कर सके।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रज्ञातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव-पितृ-कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

तै. उप०। १। ११। १॥

(सत्यं वद) सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। (स्वाध्यायात् मा प्रमदः) स्वाध्याय करने में प्रमाद न करो। (आचार्याय प्रियं धनं आहृत्य) आचार्य को प्रिय धन लाकर दो। (प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः) प्रजातन्तु को विच्छेद न करो अर्थात् उत्तम सन्तान उत्पन्न करो। (सत्यात् न प्रमदितव्यं) सत्य के पालन में प्रमाद न करो (धर्मात् न प्रमदितव्यं) धर्म के पालन में प्रमाद न करो। (कुशलात् न प्रमदितव्यं) कल्याणकारी कार्यों में प्रमाद न करो। (भूत्यै न प्रमदितव्यं) अभ्युदय के कर्मों में प्रमाद न करो। (स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्) स्वाध्याय तथा ज्ञान प्रसार के लिये प्रवचन करने मे प्रमाद न करो। (देव पितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्) देवों और पितरों के प्रति किये जाने वाले कर्तव्यों में प्रमाद न करो।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव॥

॥ तैत्ति०। उप०। १। ११। २॥

(मातृदेवो भव) माता की देवता के तुल्य सेवा सुश्रूषा करो (पितृ देवो भव) पिता की देव तुल्य सेवा सुश्रूषा करो। (आचार्य देवो भव) आचार्य की देव तुल्य सेवा सुश्रूषा करो। (अतिथि देवो भव) अतिथि का देव तुल्य सत्कार करो।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ।।

तैत्तिरीय उप० १ । ११ । ३

(यानि अनवद्यानि कर्माणि) जो अनिन्दित कर्म हैं (तानि सेवितव्यानि) उनका ही आचरण करो (नो इतराणि) अन्य निकृष्ट कर्मों का नहीं । (यानि अस्माकं सुचरितानि) जो हमारे उत्तम आचरण हैं (तानि त्वया उपास्यानि) उन्हीं का तुम्हारे द्वारा अनुसरण किया जाना चाहिये (नो इतराणि) हमारे अन्य कर्मों का नहीं । (ये के च अस्मत् श्रेयांसः ब्राह्मणाः) जो कोई हमसे भी अधिक श्रेष्ठ ज्ञानी हों (तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्) उनकी तुम्हारे द्वारा आसन आदि देकर सेवा की जानी चाहिये ।

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।।

तैत्ति. उप० । १ । ११ । ४ ।।

(श्रद्धया देयं) श्रद्धा से देना चाहिये । (अश्रद्धया देयं) अश्रद्धा से देना चाहिये । (श्रिया देयं) अपनी सम्पत्तिके अनुसार दान देना चाहिये । (ह्रिया देयं) नम्रता पूर्वक देना चाहिये (भिया देयं) भय से देना चाहिये (संविदा देयं) ज्ञान पूर्वक योग्य अयोग्य अथवा पात्र अपात्र अथवा अन्य परिस्थितियों का विचार करके देना चाहिये ।

वेद का आदेश है कि ऐसे श्रेष्ठ कर्म करते हुए (जिजीविषेच्छतं समाः) सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना चाहिए । कैसा उत्कृष्ट आदर्श है । समाज के लिए कैसी उपयोगी शिक्षा है जिसे हम आज भूलते जा रहे हैं ।

वास्तव में ज्ञान की सफलता श्रेष्ठ कर्म में ही है ।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाज्ञानतो नरः ।
हतं निर्नायकं सैन्यं स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृकाः ।।
।। चाणक्य । ८ । ८ ।।

ज्ञानानुरूप क्रिया के बिना ज्ञान व्यर्थ है, और ज्ञान के बिना मनुष्य नष्ट हो जाता है, बिना सेनापति के सेना नष्ट हो जाती है और बिना पति के स्त्री नष्ट हो जाती है । तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान से कोई लाभ नहीं है, जब तक उसको क्रिया के रूप में परिणत न किया जाय ।

श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी कार्यों में रत दैवी सम्पत्ति वाले लोगों के गुणों का वर्णन गीता में निम्न प्रकार किया गया है :-

अभयं संत्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।
।। गीता । १६ । १ ।।

१. (अभयम्) निर्भय रहना, २. (सत्वसंशुद्धिः) अन्तःकरण की शुद्धता, ३. (ज्ञान योगव्यवस्थितिः) परमात्मा को तत्वतः जानने के के लिए ध्यान की स्थिति, ४. (दानम्) सात्विक दान, ५. (दमः) इन्द्रियों का दमन, ६. (यज्ञः) सामाजिक कल्याण के लिए अग्निहोत्र तथा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का आचरण, ७. (स्वाध्यायः) वेद शास्त्र तथा सत्साहित्य का स्वाध्याय, ८. [तपः] स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन करना, ९. [आर्जवम्] मन, वाणी तथा कर्म से सरल होना- तथा-

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
।। गीता । १६ । २ ।।

१०. [अहिंसा] मन, वाणी एवं शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, ११. [सत्यम्] यथार्थ एवं प्रिय भाषण,

१२. [अक्रोधः] अनावश्यक क्रोध न करना, १३. [त्यागः] त्याग १४.[शान्तिः] शान्ति, १५- [अपैशुनम्] किसी की भी निन्दादि न करना १६- [भूतेषु दया]सभी प्राणियों पर दया, १७- [अलोलुप्त्वम्] लोभ रहित होना १८- [मार्दवम्] मृदुता, मधुरता १९- [ह्रीः] लोक एवं शास्त्र विरुद्ध आचरण में लज्जा, २०- [अचापलम्] चित्त की चञ्चलता का अभाव— तथा

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

॥ गीता । १६ । ३ ॥

२१- [तेजः] तेज, २२- [क्षमा] क्षमा, २३- [धृतिः] धैर्य, २४-[शौचम्] शरीर, मन तथा वाणी की शुद्धि, २५- [अद्रोहः] किसी के भी प्रति शत्रु भाव का अभाव, २६- (नातिमानिता) अहंकार का अभाव । दैवी सम्पत्तियों से युक्त श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न महापुरुष में ये २६ गुण होते हैं ।

यह उल्लेखनीय है कि श्रेष्ठ कार्य करने वाले पुरुष को असफलता तो प्राप्त हो सकती है किन्तु उसकी कभी दुर्गति नहीं हो सकती । ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर हमें श्रेष्ठ कर्मों में वेद के निर्देशानुसार जुट जाना चाहिये ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

गीता ६ । ४०

हे पार्थ ! (तस्य) (न इह न अमुत्र एव) ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुए पुरुष का न तो इस लोक में और न पर लोक में ही (विनाशः विद्यते) नाश होता है (हि) क्योंकि हे तात ! (कल्याण कृत् कश्चित् दुर्गतिं न गच्छति) कल्याणकारी कर्म करने वाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।

गीता ६ । ४१

योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर तथा (शाश्वतीः समाः उषित्वा) बहुत वर्षों तक वहीं वास करके पवित्र आचरण करने वाले श्री सम्पन्न पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।

यह संसार कर्म भूमि है और मनुष्य योनि की श्रेष्ठता इसी में है कि श्रेष्ठ कर्म किये जायँ । समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो कर्म करने में स्वतन्त्र है, केवल फल भोगने में परतन्त्र है । इसीलिए हमारे मनीषियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय का विधान किया है जो प्रत्येक मनुष्य का आदर्श, उद्देश्य एवं जीवन दर्शन होना चाहिये । इसमें सर्वप्रथम धर्म का उल्लेख इसलिये किया गया है कि मनुष्य को सुखी होने के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन धर्ममय बनाना चाहिये । धर्म कोई दिखावे, आडम्बर तर्क अथवा विवाद का बिषय नहीं है, यह तो एक ऐसी जीवनपद्धति है जिस पर चलकर केवल एक व्यक्ति का ही नहीं प्रत्युत समाज, राष्ट्र एवं समस्त मानवता का कल्याण हो सकता है । समस्त प्राणियों को अपने समान समझते हुए क्षमा, दया, करुणा, परोपकार एवं प्रेम से व्यवहार करते हुये जीवन यापन करना धर्म का प्रमुख अंग है, बाह्य आडम्बर एवं चिन्हों से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

"समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम्" ।

समस्त प्राणियों में समत्व भाव रखना धर्म है, दिखावटी चिन्ह धर्म का कारण नहीं है, धर्म नहीं हैं ।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय है ।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

॥ चाणक्य । १२ । १४ ॥

जो व्यक्ति परस्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को ढेले, पत्थर के समान तथा समस्त प्राणियों को स्वयं अपने समान देखता है, वही पण्डित है।

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥

॥ चाणक्य । १५ । ०१ ॥

जिसका चित्त समस्त प्राणियों के प्रति करुणा से पिघल जाता है। उसे ज्ञान, मोक्ष, जटा अथवा भस्मलेपन से क्या ? अर्थात प्राणियों पर दया करना ही सबसे बड़ा धर्म है।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥

॥ काणक्य । १७ । १७ ॥

जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार की भावना जागरित हो जाती हैउनकी सब विपत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और उन्हें पग-पग पर सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

मनुष्य को मोक्षके लिये प्रयास करने से पूर्व अर्थ एवं काम, जीवन के इन दो महत्वपूर्ण अङ्गों को प्राप्त करने में सफल बनने का प्रयास करना चाहिये। उसे धन, सम्पत्ति वैभव तथा ऐश्वर्य अर्जित करना चाहिये। न्यूनतम कामनाओं की यथाशक्ति पूर्ति करनी चाहिये, सुखी-गृहस्थ जीवन व्यतीत करना चाहिये किन्तु यह सब धर्म के अनुसार ही करना चाहिये अधर्म से नहीं। इसीलिये धर्म को सबसे पहले रखा गया है, उसे जीवन का आधार बताया गया है।

मनुष्य को किसी भी दशा में अन्याय एवं दुराचरण से धन अर्जित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि धन की पवित्रता सबसे बड़ी पवित्रता है।

सर्वेषामेव शौचनामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।।

।। मनु० । ५ । १०६ ।।

समस्त पवित्रताओं में धन की पवित्रता अत्यन्त श्रेष्ठ कही जाती है । जिस मनुष्य का धन पवित्र है वास्तव में वही पवित्रहै । मिट्टी और जल से की गई शरीर की पवित्रता कोई पवित्रता नहीं है ।

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ,
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थंगतौ ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गः शिरो,
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः ।।

।। चाणक्य । १२ । ०४ ।।

जिसके हाथों ने दान नहीं दिया है, कानों ने वेद शास्त्र के ज्ञान से द्रोह किया है, नेत्रों ने साधुओं का दर्शन नहीं किया है, पैरों ने तीर्थों की ओर गमन नहीं किया है, जिसने अन्याय से उपार्जित धन से अपना पेट भरा है और अभिमान से सिर को ऊँचा रखा है, ऐसे नीच मनुष्य के शरीर को अरे श्रृगाल ! छोड़ दो, वह निन्दनीय है ।

विदुर नीति में कहा गया है—

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।

विदुर । ७ । ६६

जो व्यक्ति जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले सुखों के साधन स्वरूप यज्ञ दानादि कर्मों को अधर्म से प्राप्त किये गये धन से सम्पन्न करता है वह धन के दुरागम अर्थात् उसकी अधर्म से प्राप्ति के कारण यज्ञ दानादि के वास्तविक फल को नहीं प्राप्त करता ।

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ।।

विदुर । ३ । ७१

अधर्म से प्राप्त किये गये धन से जो छिद्र अथवा दुराचार छिपाने का प्रयास किया जाता है, वह न तो छिपता है और न समाप्त होता है अपितु और बढ़ जाता है। तात्पर्य यह कि अधर्म से अर्जित धन से वास्तव में न तो कोई लाभ होता है और न उससे कीर्ति प्राप्त होती है।

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं,
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते,
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ।।

विदुर । ८ । २

जो पुरुष अधर्म से युक्त बहुत बड़ी धनराशि से भी [अनपाकृष्टः] बिना आकर्षित हुये, उसे [सन्त्यजति] छोड़ देता है वह भारी दुःखों से छुटकारा पाकर उसी प्रकार सुख से सोता है जिस प्रकार साँप अपनी पुरानी त्वचा [केचुली] को छोड़कर सुखी होता है।

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ।।

विदुर । ५ । ४८

उत्तम अर्थ अथवा धन आदि की इच्छा करते हुए पहले धर्म का ही आचरण करे क्योंकि धर्म से अर्थ कभी भी इसी प्रकार अलग नहीं हो सकता जिस प्रकार स्वर्ग से अमृत।

मनुष्य के कर्म एवं आचरण के सम्बन्ध में सबसे सुन्दर शिक्षा

एवं प्रार्थना अत्यन्त सूक्ष्म रूप से निम्नांकित मन्त्रों में दी गयी है।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।

॥ यजु० । २५ । २१ ॥

[यजत्राः देवाः] हे पूजनीय देवो ! [कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम] हम कानों से कल्याणकारी बचन सुनें, [अक्षभिः भद्रं पश्येम] आँखों से कल्याणकारी ही दृश्य देखें, [स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः] हृष्ट-पुष्ट अङ्गों वाले शरीरों से युक्त होकर हम [तुष्टुवांसः] परमात्मा की स्तुति करते हुए [देवहितम्] तथा देवों का, विद्वानों का हित करते हुए [यद् आयुः] हमारी जो आयु हो उसका अर्थात् अपनी सम्पूर्ण आयु का [व्यशेमहि] उपभोग करें।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥

ऋग् । ५ । ५१ । १५ ॥

हम सूर्य एवं चन्द्रमा के समान जगत् का कल्याण करने वाले मार्ग पर चलें [पुनः ददता] बार बार दान देने वालों [अघ्नता] हिंसा न करने वालों तथा [जानता] विद्वानों के [सं गमेमहि] साथ चलें अर्थात् उनके सम्पर्क में आयें तथा उनके अनुरूप आचरण करें।

समस्त जगत् का कल्याण करने के अपने सत्यव्रत का नित्य पालन करने वाले सूर्य तथा चन्द्र से बड़ा आदर्श मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है। हमें उनके समान ही श्रेष्ठ बनने का प्रयास करना चाहिये।

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ॥३॥

यजु०। ४०। ३॥

वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता में 'अभिगच्छन्ति' के स्थान पर 'अपि गच्छन्ति' का प्रयोग हुआ है।

[असुर्यां नाम ते लोकाः] असुर्य नाम वाले वे लोक [अन्धेन तमसाऽवृताः] घोर अन्धकार से आवृत हैं, आच्छादित है [च] और [तान् ते जनाः प्रेत्य अभिगच्छन्ति] उन लोकों को वे लोग मर कर प्राप्त होते हैं, [ये के आत्महनः] जो कोई अपनी आत्मा का हनन करने वाले होते हैं।

आत्मा का हनन करने वाले अर्थात् अपनी आत्मा की अन्तः प्रेरणा के विरुद्ध निकृष्ट आचरण करने वाले लोग मृत्यु के उपरान्त घोर अन्धकार से अच्छादित असुर्य नामक लोकों को प्राप्त होते हैं। असुर्य नामक लोक पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि की वे योनियाँ हैं जहाँ निकृष्ट कर्मों के फलों के भोग के लिए जीवात्मा को जन्म लेना होता है।

प्रथम तथा द्वितीय मन्त्रों में दी गई शिक्षा के विरुद्ध आचरण करने वाले काम, क्रोध मद मत्सर, लोभ आदि में फँसे हुए क्रूर कर्म करने वाले, दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले निर्धनों एवं असहायों का शोषण करने वाले आसुरी स्वभाव के वे लोग जिनका वर्णन गीता में किया गया है, अन्धकार से आवृत एवं कष्टदायक योनियों में

जन्म लेते हैं अथवा ऐसे लोकों में जाते हैं जिन्हें गीता में नरक कहा गया है। नालियों तथा अन्य गन्दे स्थानों में रहने वाले कीड़ों आदि की योनियाँ ही वह नरक हैं जहाँ इन लोगों को जाना होता हैं।

प्रथम मन्त्र के विरुद्ध ये लोग संसार को अपने आप उत्पन्न हुआ समझते हैं तथा काम, क्रोध, लोभ मोह आदि में अत्यन्त आसक्त होकर विपरीत आचरण करते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ।।

।। गीता । १६ । ०८ ।।

[ते आहुः] वे कहते हैं कि [जगत् अनीश्वरम्] यह संसार ईश्वर के बिना ही अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। [अप्रतिष्ठम्-असत्यम्] यह ईश्वर पर आधारित नहीं है, असत्य है और [किम् अन्यत् कामहैतुकम्] काम के भोगों के अतिरिक्त इसका और क्या प्रयोजन है अर्थात् यह संसार काम वासना की तृप्ति तथा अन्य प्रकार के भोगों के लिए ही है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।

।। गीता । १६ । ९ ।।

[उपर्युक्त श्लोक में कही हुई] [एतां दृष्टिं अवष्टभ्य] ऐसी विपरीत एवं गलत दृष्टि का आधार लेकर अपने आत्मा को नष्ट करने वाले, क्रूर कर्म करने वाले तथा सब का अहित करने वाले ये अल्प बुद्धि लोग [जगतः क्षयाय प्रभवन्ति] जगत के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं। वेद में जिन्हें आत्महनः कहा गया है, उन्हीं को गीता में नष्टात्मानः कहा गया है। गीता के इस प्रकरण के श्लोक संख्या १० से १६ तक द्वितीय मन्त्र के भाष्य में दिये जा चुके हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।

।। गीता १६ । १७ ।।

स्वयं अपने आपको सर्वगुण सम्पन्न मानने वाले अहंकारी, मूर्ख शालीनता रहित तथा धन के मान एवं मद से उन्मत्त वे लोग दम्भ-पूर्वक अपने को बड़ा दिखाने के लिए नाममात्र की विधिहीन यज्ञादिक क्रियायें करते हैं ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।

।। गीता १६ । १८ ।।

अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध के वशीभूत होकर वे अपने तथा अन्य प्राणियों के शरीर में स्थित मुझसे अर्थात भगवान् से द्वेष करने वाले तथा दूसरे के गुणों में दोष देखने वाले होते हैं ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।

।। गीता । १६ । १९ ।।

ऐसे द्वेष करने वाले तथा अशुभ एवं क्रूर कर्म करने वाले उन नराधमों को मैं इस संसार की आसुरी योनियों में ही सदा डालता हूँ ।

गीता में तथा विदुरनीति में कहा गया है कि दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति स्वयं ही अपनी आत्मा का शत्रु होता है, जबकि अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखकर सत्कर्म करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा का मित्र होता है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
गीता । ६ । ६

(येन आत्मना आत्मा जितः) जिसने अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा अर्थात् अपने मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया है, (तस्य एव आत्मा आत्मनः बन्धुः) उसी का आत्मा आत्मा का बन्धु है अर्थात् वह अपने आत्मा का बन्धु है। (तु) किन्तु (अनात्मनः) जिसने अपने मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को नहीं जीता है, वह (आत्मा एव) स्वयं ही (शत्रुत्वे शत्रुवत् वर्तेत) अपने आत्मा के साथ शत्रुता से शत्रु के सदृश वर्तता है, व्यवहार करता है अर्थात् वह अपने जीवात्मा के साथ शत्रु के समान वर्ताव करके उसका पतन करता है अथवा उसका हनन करता है जैसा कि इस मन्त्र में कहा गया है। असंयमित इन्द्रियों द्वारा विषय भोगों में लिप्त होने से तथा निकृष्ट कर्मों के करने से आत्मा को पतन के गर्त में गिराना ही उसका हनन करना है क्योंकि इन निकृष्ट कर्मों के फल का भोग करने के लिये आत्मा को अन्धकार मय लोकों में जाना पड़ता है।

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
विदुर नीति । २ । ६४ ॥

मनुष्य को स्वयं वश में किये हुये अपने मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की सहायता से अपने आत्मा को ढूंढ़ना चाहिये, अपने आत्मा को पहचानना चाहिये। निःसन्देह मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु और स्वयं ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥
॥ विदुर । २ । ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने को अर्थात् अपने मन तथा इन्द्रियों को जीत लिया है, वह निश्चित रूप से अपने आत्मा का बन्धु है और जिसने अपने आप को नहीं जीता है वह निश्चय ही अपने आत्मा का शत्रु है।

इन्द्रियों के वशीभूत होकर पाप कर्म करने वाला पुरुष ही अपने आत्मा का हनन करता है और इस मन्त्र के अनुसार अन्धकारमय लोकों में जाता है तथा अधोगति को प्राप्त होता है।

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ।।

।। विदुर । २ । ६० ।।

ये वश में न की हुयी इन्द्रियाँ पुरुष को नष्ट करने के लिये भी पर्याप्त हैं, समर्थ है, जैसे अशिक्षित और उच्छृंखल घोड़े मार्ग में प्रमादी सारथि को नष्ट कर देते हैं।

शरीर रूपी रथ में बैठा हुआ यह जीवात्मा अपनी ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके उसी के अनुसार अपनी कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, और "स्वकृतस्य पन्थाः" अपने किये हुये कर्मों के मार्ग से जीवन यात्रा पर चलता है। उसके रथ में इन्द्रियाँ रूपी अश्व जुते हुये हैं जिन्हें वह बुद्धि रूपी सारथि द्वारा मन रूपी लगाम की सहायता से वश में रख़ सकता है। यदि उसने विवेक पूर्ण पवित्र बुद्धि एवं शिव-संकल्प वाले पवित्र मन से अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुये कल्याणकारी कार्य किये तो निश्चय ही उसे भगवान् की मित्रता और परम पद प्राप्त होगा जैसा कि कठोपनिषद् में अत्यन्त मनोहारी ढंग से कहा गया है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

।। कठ० । १ । ३ । ३ ।।

(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी अथवा रथपर बैठकर यात्रा करने वाला, (विद्धि) समझो (तु) और (शरीरम् एव रथम्) शरीर को ही रथ, (तु) तथा (बुद्धिम् सारथिम्) बुद्धि को सारथि (च: मन: एव प्रग्रहम् विद्धि) एवं मन को ही लगाम जानो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

॥ कठ० । १ । ३ । ४ ॥

(इन्द्रियाणि हयान् आहु:) इन्द्रियों को अश्व कहा जाता है, (तेषु) उन इन्द्रियों के (विषयान् गोचरान्) विषयों अर्थात् शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को उनका मार्ग कहा जाता है। (मनीषिण:) विचारशील पुरुष (आत्मा इन्द्रिय मनो युक्तम्) इन्द्रिय तथा मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता इति आहु:) भोगने वाला है, ऐसा कहते हैं। अर्थात् आत्मा ही अपने कर्मों के फलों को भोगने वाला है ऐसा कहते हैं।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

कठ । १ । ३ । ६ ॥

(तु) और (य: सदा) जो सदा (विज्ञानवान्) विवेक युक्त बुद्धि वाला, ज्ञानी और (युक्तेन मनसा) प्रगृहीत अर्थात् संयमित मन एवं समाहित चित्त वाला (भवति) होता है, (तस्य इन्द्रियाणि) उसकी इन्द्रियाँ (सारथे:) कुशल सारथि के (सद् अश्वा: इव) सुधरे हुये अश्वों की भाँति (वश्यानि) उसके वश में होती हैं।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

कठ । १ । ३ । ८ ॥

(तु) और (यः विज्ञानवान्) जो विवेक सम्पन्न ज्ञानी (समनस्कः) मन को वश में करने वाला (सदा शुचिः भवति) निरन्तर शुद्ध पवित्र होता है, (स तु तत्पदम् आप्नोति) वह उस पद को प्राप्त करता है, (यस्माद् भूयः न जायते) जिस पद की प्राप्ति के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

कठ। १। ३। ९॥

(यः तु) जो (नरः) मनुष्य (विज्ञानसारथिः) विवेक पूर्ण बुद्धि रूपी सारथि वाला और (मनः प्रग्रहवान्) मन की लगाम को अधिकार में रखने वाला होता है, (सः अध्वनः पारम्) वह मार्ग के उस पार (विष्णोः परमं तत् पदम्) व्यापक ब्रह्म के उस सर्वश्रेष्ठ, परम उत्कृष्ट पद को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार मनुष्य की आत्मिक उन्नति तथा कल्याण के लिये ज्ञान के साथ साथ मन तथा इन्द्रियों का निग्रह अनिवार्य है। यदि एक भी इन्द्रिय अनियन्त्रित रह गई तो वह पूरी साधना तथा ज्ञान को उसी प्रकार नष्ट कर देगी जिस प्रकार बर्तन में एक भी छिद्र रह जाने पर उसमें रखा हुआ अमृत तुल्य रस बह जाता है, नष्ट हो जाता है।

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान्।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम्॥

विदुरनीति २। ७१

जो पुरुष (निजान् उत्पततः) अपनी बुरे मार्ग पर चलने वाली शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध इन पाँच प्रयोजनों वाली शत्रु रूपी पाँच इन्द्रियों को मोह के कारण वश में नहीं करता, उस पुरुष को आपद् अर्थात आपत्ति ग्रस लेती है।

आत्मा का नाश करने वाले लोभ आदि दुर्गुण तथा आत्मोन्नति के आधारस्वरूप सत्य, विद्या, आदि सद्‌गुणों के सम्बन्ध में भर्तृहरि जी का निम्नांकित श्लोक कितना सुन्दर है:—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं बलेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।

भर्तृहरि नी. श. ५६

मनुष्य में यदि लोभ है, तो और दुर्गुणों की क्या आवश्यकता; यदि चुगलखोरी है, तो अन्य पापों की क्या आवश्यकता; यदि सत्य है, तो तप की क्या आवश्यकता; यदि मन पवित्र है, तो तीर्थों की क्या आवश्यकता; यदि सौजन्य है, तो बल की क्या आवश्यता; यदि महिमा है, प्रतिष्ठा है, तो आभूषणों की क्या आवश्यकता; यदि सद्विद्या है, तो धन की क्या आवश्यकता और यदि अपयश है, बदनामी है तो मृत्यु की क्या आवश्यकता?

लोभी व्यक्ति अपनी आत्मा का हनन किस प्रकार करता है इसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण ऐतरेय ब्राह्मण की निम्नलिखित प्रसिद्ध आख्यायिका में किया गया है।

इक्ष्वाकु वंशीय महाराज हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने ऋषियों के परामर्श से वरुण से प्रार्थना की और कहा कि यदि वरुण की कृपा से उनके पुत्र होगा तो वह उस पुत्र से वरुण के पूजन के लिये यज्ञ करेंगे, किन्तु जब वरुण की कृपा से महाराज के रोहित नाम का पुत्र हुआ, तो पुत्र की ममता के कारण महाराज वरुण के बार-बार कहने पर भी उस पुत्र से यज्ञ करना टालते रहे और जब वह बड़ा हो गया तो उसकी जीवन रक्षा के लिए उसे वन में भेज दिया। तब वरुण ने राजा हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से पीड़ित कर दिया।

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र द्वारा दी गयी शिक्षा के अनुसार रोहित बन में ही विचरण करता रहा, अपने पिता के पास नहीं लौटा। एक दिन उसने क्षुधा से पीड़ित ऋषि अजीगर्त को देखा, जिनके शुन:पुच्छ, शुन:शेप तथा शुनोलाङ्गूल नामक तीन पुत्र थे। रोहित ने ऋषि अजीगर्त से कहा यदि आप मुझे अपना एक पुत्र दे दें, जिससे मैं अपने को वरुण से मुक्त करा सकूँ, तो मैं आपको सौ गायें दूँगा। गायों के लोभ के कारण अजीगर्त (गर्त की ओर जाने वाला अथवा पतनोन्मुख) ने सौ गायें लेकर अपने बीच के पुत्र शुन: शेप को उसे दे दिया। रोहित शुन:शेप के साथ अपने पिता के पास पहुँचा और कहा कि हर्ष की बात है कि मैं क्रय करके लाये गये इस शुन:शेप से यज्ञ करवा कर अपने को वरुण से मुक्त करा लूँगा। तब हरिश्चन्द्र ने वरुण के पास जाकर कहा कि मैं इस ब्राह्मण बालक शुन: शेप से आपका यज्ञ करूँगा। वरुण ने कहा कि ब्राह्मण बालक तो मुझे और भी प्रिय हैं अत: मैं इसके लिये सहमत हूँ।

इस पर वरुण की सहमति के अनुसार महाराज हरिश्चन्द्र ने राजसूय यज्ञ किया जिसके होता महर्षि विश्वामित्र, अध्वर्यु महर्षि जमदग्नि, ब्रह्मा महर्षि वशिष्ठ और उद्‌गाता महर्षि अयास्य बने। इस यज्ञ में पशु के स्थान पर शुन: शेप का वध करने का निश्चय किया गया किन्तु जब शुन: शेप को यूप में बाँधने का क्रूर कर्म करने के लिए कोई व्यक्ति नहीं मिला, तब लोभ के कारण पतनोन्मुख हुए अजीगर्त ने कहा कि यदि आप मुझे सौ गायें और दें तो मैं शुन:शेप को वध के लिये यूप में बाँध दूँगा। हरिश्चन्द्र ने उसे सौ गायें और दे दीं, जिन्हें लेकर उसने स्वयं अपने ही पुत्र को वध के लिये यूप में बाँध दिया।

जब अन्त में शुन:शेप का वध करने के क्रूर कर्म के लिये कोई व्यक्ति सहमत नहीं हुआ, तो लोभ के कारण पतित हुए अजीगर्त ने कहा कि यदि आप मुझे सौ गायें और दें तो मैं इसका वध कर दूँगा। इस पर हरिश्चन्द्र ने अजीगर्त को सौ गायें और दे दीं, जिन्हें लेकर अजीगर्त

शुनः शेप को मारने के लिये तलवार की धार तेज करने लगे। जब शुनः शेप ने देखा कि ये लोग तो वास्तव में उसका वध करने को उद्यत हैं, तो उसने विभिन्न ऋचाओं से प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण विश्वेदेवाः, इन्द्र, अश्विनी तथा उषा की स्तुति की, जिससे उसके बन्धन खुल गये और वह मुक्त होकर महर्षि विश्वामित्र की गोद में बैठ गया।

वास्तव में यह आख्यायिका पूर्ण रूप से आलंकारिक है। शुनः शेप शरीर रूपी यूप में बँधा हुआ आत्मा है और अजीगर्त के रूप में एक ऐसे उस लोभी पुरुष का चित्रण है जो लोभ के कारण अपने श्रेष्ठ पुत्र, अर्थात् अपनी पवित्र आत्मा का हनन करने को उद्यत हो जाता है। साथ ही इसमें यह भी दिखाया गया है कि सन्निकट मृत्यु सरीखी घोर आपत्ति से भी भगवान की ज्ञान पूर्वक की गई अनन्य भक्ति एवं उपासना द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है और भगवान की कृपा से समस्त संकट क्षण भर में ही समाप्त हो जाते हैं।

लोभ से न केवल सामान्य व्यक्ति बल्कि एक विद्वान ऋषि का भी किस प्रकार पतन हो सकता है, इसका कैसा सजीव चित्रण यहाँ किया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जो पुरुष अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है और बोलता है, उससे श्रेष्ठ कोई नहीं होता।

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥

मनु० ८।९६

जिस विद्वान के बोलने पर उसकी आत्मा में शंका उत्पन्न नहीं होती अर्थात् जो केवल सत्य एवं उचित भाषण करता है और जो असत्य भाषण करके अपने आत्मा के विरुद्ध आचरण नहीं करता,

उससे श्रेष्ठ किसी अन्य व्यक्ति को विद्वान लोग नहीं जानते। आत्मा अथवा शुद्ध अन्तःकरण के विरुद्ध बोलने से तथा असत्य बात कहने से आत्मा में शंका एवं भय उत्पन्न हो जाता है। अतः मनुष्य को अपनी पवित्र आत्मा का सन्देश सुनना चाहिए और तदनुसार श्रेष्ठ आचरण करना चाहिये।

वास्तव में काम, क्रोध तथा लोभ आदि के वश में ही मनुष्य अपनी आत्मा की अन्तःप्रेरणा की अनसुनी करके घृणित कार्य करता है, जिसके कारण उसे अन्धकारमय योनियों में जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य द्वारा पाप किये जाने के कारणों का वर्णन गीता में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

गीता। ३। ३६॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा कि हे वार्ष्णेय! किससे प्रेरित हुआ यह पुरुष बलपूर्वक पाप-कर्म में लगाये हुए के समान न चाहता हुआ भी पापाचार करता है।

तब श्रीकृष्ण जी ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनः महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

॥ गीता। ३। ३७॥

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम, यह क्रोध (काम क्रोध को भी उत्पन्न करने वाला है) मनुष्य से पाप करवाता है। (महाशनः) यह काम अत्यधिक खाने वाला है, (अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाला और सब कुछ खा जाने वाला है) तथा (महापाप्मा) अत्यधिक पापी अथवा पाप करवाने वाला है। (इह) इस संसार में (एनम्

वैरिणम् विद्धि) इसको वैरी जानो।

जिस प्रकार काम, उसी प्रकार क्रोध न केवल मनुष्य के शरीर को ही खा जाने वाला है बल्कि उसका सब कुछ नष्ट कर देने वाला तथा पाप करवाने वाला है। काम, क्रोध तथा लोभ मनुष्य के वास्तविक शत्रु हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।
।। विदुरनीति । १ । ७१ ।।, ।। गीता १६ । २१ ।।

काम, क्रोध तथा लोभ ये आत्मा का नाश करने वाले नरक के तीन द्वार हैं। अतः इन्हें त्याग देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचारत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।
गीता ।। १६ । २२

हे अर्जुन! अन्धकार के इन तीन प्रकार के द्वारों से विमुक्त होकर पुरुष (आत्मनः श्रेयः) अपने कल्याण के लिये आचरण करता है और उससे वह परम गति को प्राप्त करता है।

महाभारत में भी कहा गया है कि अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को क्रोध आदि दुर्गुणों को छोड़ देना चाहिये।

षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।।
विदुरनीति १ । ८३

अपना कल्याण अथवा उन्नति चाहने वाले पुरुष को (अत्यधिक) निद्रा, तन्द्रा अर्थात अल्पनिद्रा की अवस्था में प्रमाद वश पड़े रहना, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता अर्थात् शीघ्र किये जाने वाले

कार्य को विलम्ब से करने के स्वभाव को त्याग देना चाहिये।

जिस प्रकार काम और क्रोध आत्मा के पतन के कारण है उसी प्रकार लोभ भी आत्मा को अन्धकार तथा दुःख मय लोकों को ले जाने में एक प्रमुख कारण है। लोभी मनुष्यों को अपने कर्मों का परिणाम उसी प्रकार नहीं दिखाई पड़ता, जिस प्रकार मछली को आटा अथवा खाने का पदार्थ तो दिखायी पड़ता है, किन्तु उससे छिपा हुआ काँटा दिखायी नहीं पड़ता।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम्।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते॥

विदुरनीति २। १३

मछली उत्तम खाने योग्य पदार्थ से ढके हुये लोहे के काँटे को निगलती है और काँटे रूप बन्धन को नहीं देखती, ठीक यही स्थिति लोभी पुरुष की होती है। वास्तव में लोभ ही पाप का मूल है, चाहे वह लोभ धन का अथवा अन्य किसी इच्छित वस्तु का हो।

निकृष्ट कर्मों में लगे व्यक्ति की जीवात्मा को असुर्य नाम की अन्धकारमय योनियों में इसलिए जाना पड़ता है क्योंकि उसे अपने कर्मों का फल भोगना अनिवार्य है। हमें सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि संसार में हमारे द्वारा अन्याय-पूर्ण ढंग से अर्जित धन एवं सम्पत्ति का उपभोग परिवार के सदस्य एवं मित्र आदि अन्य लोग भी करते हैं, हमारे इन अन्यायपूर्ण गलत कर्मों का फल केवल हमें ही भोगना है, उसमें कोई अन्य भागीदार नहीं होगा।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥

मनु०। ४। २४०॥

जीवात्मा अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। वह अपने श्रेष्ठ कर्मों तथा दुष्कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है।

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि कोई भी मनुष्य अपने कर्मों का भोग किये बिना नहीं बच सकता, उसे अपने कर्मों का भोग करना ही पड़ता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि।।

सुभाषित

मनुष्य को अपने द्वारा किये गये शुभ अशुभ कर्मों का भोग अवश्य ही करना पड़ता है। सैकड़ों करोड़ों जन्म बीत जाने पर भी कर्मों के फल के भोग के बिना कर्म समाप्त नहीं होते।

जीवात्मा अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही आगामी जन्म प्राप्त करता है, इसका वर्णन अन्य स्थानों पर भी किया गया है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

कठ. २।२।७

अपने कर्मों एवं ज्ञान के अनुसार कुछ जीवात्मा शरीर धारण करने के लिए विभिन्न चर योनियों को प्राप्त होते हैं, जबकि अन्य जीवात्मा स्थावर योनियों को प्राप्त होते हैं।

इसी भाव को श्वेताश्वतर उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है:—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
सः विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः।।

श्वेताश्वतर। ५। ७

(यः) जो (गुणान्वयः) गुणों से युक्त होकर (फलकर्मकर्ता) फल की कामना से कर्म करने वाला और अपने किये हुये कर्मों के फलों को भोगने वाला है, वह विश्वरूप अर्थात् अनेक रूपों में जन्म लेने वाला, सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त, त्रिवर्त्मा, उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट मार्गों से गमन करने वाला, प्राणों का स्वामी जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार चलता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा ही शरीर में प्राणों को धारण करता है और शरीर छोड़ने के बाद अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥

। श्वेता० । ५ । १२

देही अर्थात् यह जीवात्मा अपने गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीरों को ग्रहण करता है। आत्मा और शरीर के इस संयोग के हेतु आत्मा द्वारा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के फल तथा आत्मा के अपने निजी गुणों के साथ-साथ (अपरोऽपि) आत्मा से भिन्न परमात्मा भी ज्ञानियों द्वारा (दृष्टः) देखा गया है अर्थात् जीवात्मा पुनर्जन्म की अपनी योनियों को निश्चय करने में स्वतन्त्र नहीं है बल्कि उसे परमात्मा के विधान के अनुसार ही पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के फल तथा अपने गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, इस मन्त्र में उल्लिखित आत्म-हनन का अर्थ है–आत्मा के प्रतिकूल कार्य करना। आत्मा नित्य शुद्ध है और किसी प्रकार के दोषों से लिप्त नहीं है। इसलिए आत्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करना सदा श्रेष्ठ होता है। मनुष्य जब कोई

निकृष्ट कार्य आत्मा के प्रतिकूल करना चाहता है तो उसे भय, लज्जा, ग्लानि तथा शंका उत्पन्न होती है। इसके विपरीत अच्छा काम करने से उसे अन्दर से उत्साह एवं प्रसन्नता होती है। अस्तु मनुष्य को सदा आत्मा के अनुकूल ही मन, वचन एवं शरीर से आचरण करना चाहिये।

श्री दामोदर सातवलेकर ने लिखा है कि अपनी आत्मा की शक्ति का पता न होने से ही 'आत्मघात' होता है। इस अधःपतन का कारण अज्ञान है। ऐसे आत्मघाती लोग अपनी शारीरिक शक्ति में मस्त रहते हैं और अपनी शारीरिक शक्ति के मद में उन्मत्त होकर बड़े ही अनर्थ एवं अत्याचार करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य की आत्मा उसे बुरे आचरणों से रोकती है। जो लोग अपनी इस अन्तरात्मा की आवाज (Voice of Inner Conscience) की अनसुनी करके दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, उनका जीवन न केवल इस लोक में बल्कि परलोक में भी अन्धकारमय हो जाता है। इस भाव को मनुस्मृति में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से कहा गया है।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

॥ मनु। ४। १६१॥

जिस कार्य को करने में किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा को परितोष हो अर्थात् आत्मा सब प्रकार से प्रफुल्ल एवं सन्तुष्ट हो, (तत्प्रयत्नेन कुर्वीत) उसे अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए किन्तु इसके विपरीत जिस कार्य से आत्मा को ग्लानि हो उसे कभी नहीं करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आत्महनः का अर्थ 'आत्महत्या करने वाला' भी किया जाना सर्वथा उचित है। जिसे हम साधरणतया आत्महत्या कहते हैं, वह भी महापाप है। ईश्वर ने मनुष्य को यह शरीर सत्कर्म करने के लिए और त्यागभाव से संसार का भोग करने के लिए दिया

है, नष्ट करने के लिए नहीं। जो मूर्ख भगवान की इस अनुपम देन को नष्ट कर देते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अन्धकारमय निकृष्ट योनियों में जाते हैं।

इस मन्त्र के भाव को बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार कहा गया है—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः॥

॥ बृहदा। ४। ४। ११॥

अर्थात् अविद्वान् और अज्ञानी लोग मरणोपरान्त अन्धकार से घिरी हुई ऐसी योनियों में जाते हैं जो आनन्द से रहित हैं।

वेदमन्त्र में प्रयुक्त 'असुर्याः' के स्थान पर उपनिषद् में अनन्दा शब्द अर्थात् आनन्द से रहित प्रयुक्त हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि असुर्य शब्द का अर्थ आनन्दरहित है। इसी प्रकार 'आत्महनः' के स्थान पर अविद्वान् तथा अबुध शब्दों का प्रयोग किये जाने से स्पष्ट होता है कि मूर्ख तथा आत्मज्ञान से रहित लोग ही अपनी आत्मा का हनन करने वाले होते हैं। अथवा अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले लोग मूर्ख एवं अज्ञानी होते हैं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने असुर्य-लोक के सम्बन्ध में लिखा है—

असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। नाम शब्दोऽनर्थको निपातः।

अर्थात् अद्वय परमात्मभाव की अपेक्षा से देवता आदि भी असुर ही हैं और उनके सम्पत्ति स्वरूप लोक 'असुर्य' हैं। 'नाम' शब्द अर्थहीन निपात है।

जिन योनियों में कर्मफलों का भोग होता है वे भोग योनियाँ लोक कहलाती हैं, ऐसी योनियाँ अज्ञानरूपी घोर अन्धकार से आच्छादित होती हैं।

अज्ञानी लोग अपनी आत्मा का तिरस्कार करके उसका हनन करते हैं और परिणाम स्वरूप (यथाकर्म यथाश्रुतम्) अपने अपने कर्मों तथा ज्ञान (अथवा अज्ञान) के अनुसार ऐसी अन्धकारमय चर-अचर योनियों में जन्म लेते हैं और इस आत्महनन के दोष के कारण जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने वाजसनेयि संहिता में आये हुए इस मन्त्र का अर्थ निम्नप्रकार किया है:—

जो (लोका:) लोग (अन्धेन) अन्धकार रूप (तमसा) अज्ञान से (आवृता:) सब ओर से ढंके हुए है (च) और (ये) जो (के) कोई (आत्महन:) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले (जना:) मनुष्य हैं (ते) वे (असुर्या:) केवल अपने प्राण-पोषण में तत्पर अज्ञानादि दोषों से युक्त, पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध होते हैं जैसे राक्षस आदि (ते) वे (प्रेत्य) मरणोपरान्त (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख और अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

अर्थात् जो लोग अज्ञान के अन्धकार से ढंके हुए हैं और जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, वे दैत्य, राक्षस आदि के नाम से प्रसिद्ध होते हैं और मरकर भी दुःख पूर्ण भोगों को प्राप्त होते हैं।

असुर्य शब्द का अर्थ सातवलेकर जी ने प्राण शक्ति तथा 'असुर्य लोक' का अर्थ प्राण शक्ति से युक्त लोक अथवा लोग किया है क्योंकि असु शब्द प्राण वाचक है। इस प्रकार उन्होंने 'असुर्या नाम ते लोका' का अर्थ किया है केवल शारीरिक बल के लिए प्रसिद्ध लोग, अर्थात्

सत्याचरण से हीन ऐसे लोग जो केवल शारीरिक बल से मदोन्मत्त होकर बदमाशी, मारपीट तथा गुण्डागर्दी आदि राक्षसी प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं।

श्री विनोबा जी ने लिखा है कि अविद्वान् तथा अबुध इन दो विशेषणों से क्रमशः पहले और दूसरे मन्त्रों में आयी शिक्षा को न पहचानना सूचित किया है। उनके अनुसार पहले मन्त्र में ईश्वर-निष्ठा, दूसरे में कर्म-योग-निष्ठा तथा तीसरे में उभय निष्ठा-शून्य आत्मघातकी आसुरी वृत्ति का परिणाम दिया है।

जो पुरुष आत्महनः नहीं हैं अर्थात् जो अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण नहीं करते, वे ही परम गति को प्राप्त होते हैं, यह गीता के निम्नांकित श्लोक में स्पष्ट रूप से बताया गया है :—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

॥ गीता । १३ । २८ ॥

(हि) निश्चय ही (जो पुरुष) (सर्वत्र समवस्थितम्) सब प्राणियों में समभाव से स्थित (ईश्वरम्) परमेश्वर को (समं पश्यन्) सम्यक् रूप से देखता हुआ (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) स्वयं अपनी आत्मा का हनन नहीं करता (ततः परां गतिं याति) वह ऐसे श्रेष्ठ आचारण से परम गति को प्राप्त करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सर्वत्र समदर्शी तथा सर्वत्र भगवान् को व्यापक रूप से देखने वाले पुरुष को भी तभी परम गति प्राप्त हो सकती हैं जब वह अपनी आत्मा का हनन न करे अर्थात् अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण न करे। इससे श्रेष्ठ आचरण की महत्ता स्पष्ट होती है।

दीर्घतमा ऋषिः । ब्रह्म देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

॥ यजु० । ४० । ४ ॥

(एकं अनेजत मनसः जवीयः) परमात्मा केवल एक है, वह कम्पन रहित अथवा अचल होते हुए भी मन से भी अधिक वेगवान है। (एनत् देवाः न आप्नुवन्) उस ब्रह्म को देव अथवा इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं अर्थात् अगोचर होने के कारण वह चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, (पूर्वं अर्षत्) वह सर्वत्र पहले से ही पहुँचा हुआ है अथवा वह सबसे पुरातन है और सबको (ऋष् = गति) गति, स्फूर्ति एवं प्रेरणा देने वाला है। (तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति) वह स्थिर रहते हुए भी अन्य सभी दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है। (तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति) उस ब्रह्म में अथवा उसके आधार से ही, वायु जलों को मेघादि के रूप में धारण करता है; अथवा उसके आधार से ही (मातरि+श्वा) माता के गर्भ में रहने वाला जीवात्मा (अपः) पूर्ण जन्म के क्षय न हुये अवशिष्ट कर्मों को (दधाति) धारण करता है।

ईश्वर एक है। वह अचल एवं ध्रुव होते हुये भी सबसे अधिक, यहाँ तक कि मन से भी अधिक वेगवान है। सर्वव्यापक होने के कारण वह सर्वत्र पहले से ही विद्यमान है। वह स्थिर रहते हुये भी सभी दौड़ने वालों का उल्लंघन कर जाता है, उनसे आगे निकल जाता है। वह इन्द्रियों की शक्ति एवं सामर्थ्य से परे है। चक्षु तथा

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ न उसे देख सकती हैं, न सुन सकती हैं और न किसी अन्य प्रकार से ग्रहण कर सकती हैं। उसी के आधार से वायु जलों को धारण करता है, और उसी के आधार से जीवात्मा गर्भ में भी पूर्व जन्म के कर्मों को धारण करता है।

एकः

परमात्मा एक है, यह तथ्य ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध मन्त्र 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' जो ऊपर दिया जा चुका है, में अत्यन्त सुन्दर ढंग से बताया गया है।

इसी तथ्य को निम्नांकित मन्त्रों में भी स्पष्ट किया गया है:—

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं

चान्नं चान्नाद्यं च।

अथर्व। १३। ४। १४॥

य एतं देवमेकवृतं वेद।

अथर्व। १३। ४। १५॥

(यः एतं) जो इसको (एकवृतं देवं) एक मात्र देव (वेद) जानता है, उसे (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति, यश (अम्भः) ज्ञान की दीप्ति, (नभः) उसके पापों का नाश, (ब्राह्मण वर्चसं) ब्रह्मतेज (अन्नं) दुग्धादि अन्न तथा (अन्नाद्यम्) खाने योग्य अन्न अथवा खान-पान से सम्बन्धित समस्त भोग प्राप्त होते हैं। 'अम्भः' का अर्थ जल तथा 'नभः' का अर्थ आकाश भी किया जा सकता है।

नभः = णभ् हिंसायाम्। अम्भ = (अम् + भ) अम् गत्यादिषु।

गति शब्द के अर्थ ज्ञान, गति और प्राप्ति होते हैं। भा दीप्तौ। (अम् + भ) = ज्ञान + दीप्ति।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।

य एतं देवमेकवृतं वेद ।

॥ अथर्व । १३ । ४ । १६ ॥

न दूसरा, न तीसरा और न चौथा ही कहा जाता है। जो इसे एकमात्र देव जानता है।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।

य एतं देवमेकवृतं वेद ।

॥ अथर्व । १३ । ४ । १७ ॥

न पाँचवा, न छठा और न सातवाँ ही कहा जाता है। जो इसे एकमात्र देव जानता है।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।

य एतं देवमेकवृतं वेद ।

॥ अथर्व । १३ । ४ । १८ ॥

न आठवाँ, न नवाँ और न दसवाँ ही कहा जाता है। जो इसे एकमात्र देव जानता है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ।

॥ अथर्व १३ । ४ । १९ ॥

वह परमात्मा सबको देखता है जो प्राणधारी है और जो प्राणधारी नहीं है ।

तमिदं निर्गतं सहः स एष एक एकवृदेक एव

य एतं देवमेकवृतं वेद ।

॥ अथर्व । १३ । ४ । २० ॥

यह समस्त बल उसी में आश्रित है । वह यह परमात्मा एक है, एक वृत है और केवल एक ही है । जो इसे एकमात्र देव जानता है ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

॥ यजु० । २३ । १ ॥ ॥ यजु० । १३ । ४ ॥

(हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत) सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों को उत्पन्न करके धारण करने वाला प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही सृष्टि के पूर्व में था और (भूतस्य एकः जातः पतिः आसीत्) समस्त प्राणियों एवं पदार्थों का एकमात्र प्रसिद्ध स्वामी एवं रक्षक था और है । (सः इमाम् पृथिवीम् उत द्याम् दाधार) उस ईश्वर ने इस पृथिवी तथा द्युलोक आदि को धारण किया है । (कस्मै देवाय हविषा विधेम)

ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा की हम अन्तःकरण से भक्ति पूर्वक उपासना करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।

यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

॥ यजु० । २३ । ३ ॥

(यः) जो (प्राणतः निमिषतः जगतः) प्राणधारी तथा पलक झपकाने वाले समस्त प्राणियों का (महित्वा) अपनी महिमा से (एकः इत् राजा बभूव) एक अकेला ही स्वामी है और (यः) जो (अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) संसार के समस्त द्विपद तथा चतुष्पद प्राणियों पर शासन करता है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा की हम अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक उपासना करें।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामधाऽ एकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

॥ ऋग् । १० । ८२ । ३ ॥ –– ॥ यजु० १७ । २७ ॥

[यो नः पिता जनिता] जो हमारा पिता, पालन कर्ता तथा रक्षा करने वाला [जनिता] जन्म देने वाला [विधाता] जगत् का निर्माण करने वाला और कर्मों के अनुसार फल देने वाला है, [यः विश्वा भुवनानि] जो समस्त लोकों तथा [धामानि वेद] स्थानों को जानता है, [यः एकः एव] जो केवल एक ही है और जो [देवानां

नामधा] समस्त देवों का नाम धारण करता है अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवों के नाम भी जिसके लिये प्रयोग किये जाते हैं, [क्योंकि ये देव वास्तव में उसके द्वारा प्रदत्त शक्ति का ही प्रयोग करते हैं], [तं सं प्रश्नम्] उसी उत्तम प्रकार से प्रश्न किये जाने योग्य परमात्मा के प्रति [अन्यः भुवनाः यन्ति] समस्त भुवन पहुँचते हैं, अर्थात् समस्त लोक-लोकान्तर उसी में समर्पित हैं, उसी पर आधारित हैं।

यही मन्त्र कुछ पाठ भेद के साथ अथर्ववेद में आया है।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥

॥ अथर्व । २ । १ । ३ ॥

[सः नः पिता] वह हम सबका पालनकर्ता, पिता तथा [जनिता] जन्म देने वाला [उत सः बन्धुः] और वही हमारा भाई है, [विश्वा भुवनानि धामानि वेद] वह सब भुवनों और स्थानों को जानता है। [सः एकः एव] वह केवल एक ही है और [देवानां नामधः] सम्पूर्ण देवों के नामों को धारण करने वाला है, [तं सं प्रश्नम्] जिसके विषय में प्रश्न पूछकर अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिये ऐसे उस परमात्मा के प्रति [सर्वा भुवनाः यन्ति] सम्पूर्ण भुवन जाते हैं अर्थात् समस्त भुवन उसी में समर्पित हैं तथा उसी पर आधारित हैं।

'तं सं प्रश्नम्' का तात्पर्य यह है कि एकमात्र परमात्मा ही इस योग्य है जिसके विषय में प्रश्न पूछे जाने चाहिये तथा जिसके विषय

में खोज करके ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिये। अन्य समस्त ज्ञान परमात्मा के ज्ञान के समक्ष नगण्य हैं।

'देवानां नामधा' का तात्पर्य यह है कि सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवों के नाम ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त होते हैं क्योंकि इन देवों में जो शक्तियाँ हैं, वह उन्हें ब्रह्म से ही सीमित रूप में प्राप्त हुई हैं, जबकि इन सभी की शक्तियों का मूल स्रोत ब्रह्म ही है और उसमें यह सभी शक्तियाँ अनन्त एवं असीमित रूप में निहित हैं। इस प्रकार वास्तव में ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब कुछ है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥

यजु०। ३२। १॥

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, और वही प्रजापति है, अर्थात् उपर्युक्त सभी नाम ब्रह्म के ही हैं।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जितने भी देव हैं, उन सभी के गुण ब्रह्म में निहित हैं। अतः ब्रह्म को उचित रूप से इन देवों के नाम से पुकारा जाता है।

ज्ञान स्वरूप एवं स्वयं प्रकाशित होने से तथा सबको भस्म एवं भक्षण करने आदि की शक्ति के कारण ब्रह्म अग्नि है। सबसे अधिक प्रकाशमान होने, समस्त विश्व को प्रकाशित करने, ग्रहण करने तथा काल विभाग का हेतु आदि होने के कारण ब्रह्म आदित्य है।

सबसे अधिक बलवान एवं सबका धर्ता होने और सब चेच्टादि क्रियाओं का कारण होने के कारण वायु है। आनन्द स्वरूप एवं आनन्द कारक होने तथा कोमलता और शोभा का मूल होने के कारण चन्द्रमा है। शीघ्रकारी एवं शुद्ध भाव वाला तथा अत्यन्त शुद्ध कान्ति वाला होने के कारण शुक्र है। महान होने तथा सबको बढ़ाने वाला होने के कारण ब्रह्म है। सर्वत्र व्यापक होने, दाह और ताप निवारक एवं शीतल गुण की प्रधानता वाला होने के कारण जल है और सब प्रजा एवं चराचर का स्वामी होने के कारण प्रजापति है।

उपनिषदों में भी परमात्मा के केवल एक (अ-द्वितीय) होने के तथ्य को स्थान-स्थान पर स्पष्ट किया गया है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

॥ कठ। २। २। १२॥

[यः एकः वशी] जो केवल एक है तथा सबको वश में रखने वाला है, [सर्वभूतान्तरात्मा] सबका अन्तर्यामी है और जो [एकं रूपं बहुधा करोति] एक रूप के अनेक रूप कर देता है, एकरूपा मूल कारण प्रकृति से अनेक रूपी विश्व को उत्पन्न कर देता है, ऐसे [तम् आत्मस्थम्] उस शरीर एवं जीवात्मा में स्थित [परमात्मा को] जो [अनुपश्यन्ति] सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं, [तेषां शाश्वतम् सुखम्] उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, [न इतरेषाम्] अन्यों को नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।
।। कठ । २ । २ । १३ ।।

जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन [बहूनाम् एकः] बहुतों में एक है और जो [कामान् विदधाति] कामना से किये गये कर्मों के फलों का विधान करता है, अथवा कामनाओं की पूर्ति करता है, [तम् आत्मस्थम्] ऐसे उस शरीर एवं जीवात्मा में स्थित परमात्मा को जो धीर पुरुष सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं [तेषां शाश्वती शान्तिः] उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं ।

परमात्मा अचल है, ध्रुव है, इसका वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है :-

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ।
।।वृहदा० उप० । ४ । ४ । २० ।।

(एतत्) इस परब्रह्म को (एकधा एव द्रष्टव्यम्) एक प्रकार से ही नानात्व से रहित, केवल एक रस एक रूप में, आकाश के समान व्यापक, सत्य अनन्त, ज्ञानमय सुखस्वरूप में ही देखना चाहिये। यह (अप्रमयम्) अप्रमेय अर्थात् जिसका कोई प्रमाण नहीं हो सकता तथा (ध्रुवम्) अचल है। यह (आत्मा) परमात्मा (विरजः) निर्मल (आकाशात् परः) आकाश से भी सूक्ष्म [अजः] अजन्मा [महान्] महान तथा [ध्रुवः] अविनाशी है ।

अनेजदेकं मनसो जवीयः ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठतः ।

परमात्मा एक है। वह ध्रुव होते हुये भी मन से अधिक वेगवान् है तथा स्वयं स्थिर होता हुआ भी वह अन्य सभी दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है।

कठोपनिषद् में इस भाव का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है:-

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।

।। कठ। १। २। २१ ।।

[आसीनः दूरं व्रजति] बैठा हुआ ही दूर चला जाता है और [शयानः सर्वतः याति] सोता हुआ भी सब ओर जाता है [तम्] ऐसे उस [मदामद देवम्] परमानन्द स्वरूप देव को [मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति] मुझसे भिन्न और कौन जानने में समर्थ है अर्थात् मैं उसे जानने में समर्थ हूँ, ऐसा विश्वास करके उसके दर्शन का प्रयास करना चाहिये।

'मदामदम्' का अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य जी ने [मदम् + अमदम्] 'हर्ष से युक्त तथा हर्ष से रहित, ऐसे विरुद्ध धर्म वाले किया है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।

।। कठ। १। २। २२ ।।

शरीर धारण करने वालों में बिना शरीर वाले, अर्थात् साकार पदार्थों में निराकार, और चलायमानों में अचल, [महान्तं विभुम् आत्मानम्] महान, सर्वव्यापक परमात्मा को [मत्वा धीरः न शोचति] जानकर धीर पुरुष शोक रहित हो जाता है।

नैनद्देवा आप्नुवन

देव अथवा इन्द्रियाँ इसे प्राप्त नहीं कर सकतीं।

यजुर्वेद में परमात्मा का वर्णन करते हुये कहा गया है:—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत ।।

यजु० ३२ । २

जिस [विद्युतः पुरुषात्] अत्यन्त प्रकाशमान परमात्मा से [सर्वे निमेषाः अधि जज्ञिरे] कला काष्ठा आदि कालके समस्त अवयव भली प्रकार उत्पन्न हुये हैं, [एनम् न ऊर्ध्वम् न तिर्यञ्चम् न मध्ये परि जग्रभत्] उस परमात्मा को कोई भी न ऊपर, न नीचे, न तिरछे और न बीच में किसी प्रकार ग्रहण कर सकता है। तात्पर्य यह है कि सर्व व्यापक होते हुये भी परमात्मा मन तथा इन्द्रियों आदि से अग्राह्य हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यही मन्त्र निम्न प्रकार आया है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।।

श्वेता. ४ । १९

इस परमात्का को कोई भी न ऊपर से, न तिरछे अथवा इधर उधर से और न बीच से ही पकड़ सकता है। जिसका नाम महान यश है अथवा जिसके नाम का यश सर्वत्र फैला हुआ है, उस ब्रह्म की कोई प्रतिमा मूर्ति अथवा प्रतिमूर्त्ति आदि नहीं है।

अन्य उपनिषदों में इस भाव को निम्न प्रकार कहा गया है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।। इति ।।

तै० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० । ४ एवं ९

[मनसा सह वाचः अप्राप्य यतः निवर्तन्ते] मन के साथ वाणी आदि इन्द्रियाँ जिसे प्राप्त न करके लौट आती हैं, [ब्रह्मणः आनन्दं विद्वान्] उस ब्रह्म के आनन्द को जो जानता है वह [कुतः चन न विभेति] कभी किसी से डरता नहीं है, वह अभय हो जाता है।

अनुवाक ९ में पठित ['कुतश्चन' के स्थान पर अनुवाक ४ में 'कदाचन' (कभी भी) पाठ आया है।]

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

॥ कठ । २ । ३ । ९ ॥

(अस्य रूपम्) इस ब्रह्म का रूप (संदृशे न तिष्ठति) साक्षात् प्रकट नहीं होता (न एनम् कश्चन चक्षुषा पश्यति) और न कोई इसे आँख से देख सकता है। (हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः) वह ब्रह्म हृदय से मन पर ईशन करने वाली विकल्प शून्य निश्चयात्मिका बुद्धि से चिन्तन तथा मनन करने से प्रकाशित होता है। (ये एतत् विदुः ते अमृताः भवन्ति) जो उसे (यह ब्रह्म है) ऐसा जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। श्री शङ्कराचार्य जी ने संदृशे का अर्थ संदर्शन विषये लिखा है, अर्थात् इसका प्रत्यक्ष रूप कोई नहीं देख सकता।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । ॥ केन । १ । ३ ॥

न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है, और न मन (न विद्मः न विजानीमः) उसे न जानते हैं, और न पूरी तरह जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके (तद् विदिताद् अन्यद

एव) वह ज्ञात वस्तुओं से भिन्न है (अथो अविदिताद् अधि) और अज्ञात से भी ऊपर है, भिन्न है।

मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकतीं, क्योंकि वह स्वयं ही ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसी की शक्ति से काम करती हैं, उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा शक्ति नहीं है।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

।। केन । १ । ४ ।।

जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता बल्कि जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, उसको नहीं जिसका वाणी से वर्णन किया जाता है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

केन १ । ५

जिसका मन से मनन नहीं किया जा सकता, बल्कि जिससे मन मनन करता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, उसको नहीं जिसका मन से मनन किया जाता है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

केन १ । ६

जो आँख से नहीं देखा जा सकता, बल्कि जिससे आँख देखती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो; उसको नहीं, जो आँख से देखा जाता है।

यच्छ्रोत्रेण न श्रणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

केन १ । ७

जो कान से नहीं सुना जा सकता बल्कि जिससे कान सुनता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, उसको नहीं जो कान से सुना जाता है।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

केन १।८

जो प्राण से श्वास नहीं लेता, प्राण के व्यापार से जीवित नहीं रहता, बल्कि जिससे प्राण अपना कार्य करता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो; उसको नहीं जो प्राण से श्वास, उच्छ्वास आदि क्रियायें करता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्व
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

मुण्डक ३।१।८

ब्रह्म चक्षु से ग्रहण नहीं किया जा सकता, न ही वाणी से (न अन्यैः देवैः) न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से बल्कि (ज्ञानप्रसादेन) निर्मल ज्ञान से (विशुद्ध सत्वः) विशुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः ध्यायमानः) तब ध्यान करता हुआ पुरुष (तं निष्कलं पश्यते) उस निराकार ब्रह्म को ज्ञान चक्षु से देखता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है—

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्।

बृहदा. ४।४।१८

जो प्राण के प्राण तथा चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र एवं मन के

मन को जानते हैं, वे उस पुरातन एवं अग्रणी अर्थात् सबसे आगे रहने वाले श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं।

इन्द्रियाँ

मनुष्य शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तं पादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥

मनु. २। ९०

कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पैर, (उपस्थ) मूत्रेन्द्रिय अथवा जननेन्द्रिय तथा (पायु) मलेन्द्रिय, यह दस इन्द्रियाँ हैं।

यह इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन पर आत्मा का नियन्त्रण मन तथा बुद्धि के द्वारा किया जाता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तुसः॥

॥ गीता ॥ ३। ४२॥

इन्द्रियों को सूक्ष्म कहा जाता है; इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी जो सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ है वह आत्मा है।

कठोपनिषद् में इस तथ्य को निम्न प्रकार दिया गया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

कठ. १। ३। १०

निश्चय ही इन्द्रियों से उनके (अर्थाः) विषय सूक्ष्म हैं, विषयों से मन सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है तथा बुद्धि से (महानात्मा) महान् आत्मा उत्कृष्ट है।

समष्टि रूप में महानात्मा का अर्थ महत्तत्व है, जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोक से स्पष्ट है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

कठ. १ । ३ । ११

(महतः) महत्तत्व से कारण रूप अव्यक्त प्रकृति सूक्ष्म है, अव्यक्त प्रकृति से परम पुरुष श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म है, परब्रह्म से सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। (सा काष्ठा सा परा गतिः) वही परा काष्ठा, अन्तिम सीमा एवं सर्वोत्कृष्ट तथा परम गति है।

ठीक यही भाव कठोपनिषद् में पुनः द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली के श्लोक सं० ७ तथा ८ में दिया गया है।

इन्द्रियों के विषय

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अलग अलग विषय होता है, जो उसके कार्य पर आधारित होता है, उदाहरणार्थ चक्षु देखने का काम करती है, अतः उसका विषय रूप है। इसका विवरण निम्न प्रकार है।

इन्द्रिय	विषय
श्रोत्र	शब्द
त्वचा	स्पर्श
नेत्र	रूप
जिह्वा	रस
नासिका	गन्ध

देव तथा इन्द्रियाँ

इस मन्त्र में आये देव शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ किया गया है। अपने अपने विषय के ज्ञान का प्रकाश करने के कारण इन्द्रियों को

देव कहा जाता है।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में परमात्मा की शक्ति सूर्य, वायु, अग्नि, चन्द्र आदि महान देवों में कार्य करती है उसी प्रकार शरीर में जीवात्मा की शक्ति चक्षु, त्वचा, नासिका, श्रोत्र, जिह्वा तथा वाणी आदि इन्द्रियों एवं मन में कार्य करती है। वास्तव में आत्मा, जिसका नाम इन्द्र है, की शक्तियाँ होने के कारण ही चक्षु, श्रोत्र आदि को इन्द्रियाँ कहा जाता है।

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।

(अष्टाध्यायी) ५। २। ९३

इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्। इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् अर्थात् जीवात्मा का चिह्न होने के कारण इन्हें इन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियों के कार्य आत्मा की शक्ति पर ही आधारित हैं, उनके कार्य आत्मा की शक्ति के, आत्मा की उपस्थिति के परिचायक हैं। इसी प्रकार इन्द्र दृष्टम्, इन्द्र सृष्टम् तथा इन्द्र जुष्टम् से यह प्रकट होता है कि इन्द्रियाँ इन्द्र अर्थात् आत्मा की शक्ति से ही शक्तिमान् हैं और इन्द्रियाँ आत्मा के कार्यों की साधन मात्र हैं। इन्द्र दत्तम् का अर्थ इन्द्रेण दत्तम् अर्थात् 'ईश्वर द्वारा दी हुई' है।

यह इन्द्रियाँ केवल शरीर के बाहर देखती हैं, अन्दर नहीं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू–
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष–
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

कठ. २। १। १

(स्वयम्भूः खानि पराञ्चि व्यतृणत्) स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर खुलने वाले बनाये हैं, (तस्मात्

पराङ्पश्यति न अन्तरात्मन्) इसलिये पुरुष इन्द्रियों के द्वारा बाहर की ओर ही देखता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं, (कश्चित् आवृत्त चक्षुः धीरः) चक्षु आदि इन्द्रियों को बाहर के विषयों से लौटाने वाले किसी विवेकी धीर पुरुष ने ही (अमृतत्वम् इच्छन्) अमृतत्व अथवा मोक्ष की इच्छा करते हुये (प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्) अन्तरात्मा को देखा है।

शरीर में स्थित यह ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष के लिये ज्ञान तथा यश प्राप्त करने का परम साधन हैं और इन्हीं की सहायता से मनुष्य उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच सकता है। अतः २ आँख, २ कान, २ नासिका छिद्र तथा जिह्वा इन सात इन्द्रियों को सप्तर्षि कहा जाता है। इसके साथ आठवीं वाणी है, जिसमें वेदों के समस्त ज्ञान को प्रतिष्ठित कहा जाता है क्योंकि वाणी से ही ज्ञान का प्रकाश किया जाता है।

शिर तथा ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन करते हुये वेद में कहा गया है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥

अथर्व १०। ८। ९

(तिर्यग्बिलः ऊर्ध्वबुध्नः) तिरछे मुख वाला अर्थात् नीचे की ओर मुख वाला (चमसः) पात्र है (तस्मिन् विश्वरूपं यशः निहिते) उसमें समस्त प्रकार का यश रखा गया है (तत् सप्त ऋषयः साकं आसत) वहाँ सात ऋषि साथ साथ स्थित हैं (ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः) जो इस महान शरीर की रक्षा करने वाले बने हुये हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में यह मन्त्र कुछ पाठ भेद के साथ इस

प्रकार आया है।

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं
विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति।

बृहदा. २।२।३

नीचे की ओर मुंह वाला और ऊपर की ओर तली अथवा पेंदी वाला पात्र है। उसमें समस्त प्रकार का यश रखा हुआ है। उस चमस के किनारे (सप्त ऋषय: आसते) सात ऋषि रहते हैं और आठवीं वाणी (ब्रह्मणा संविदाना) ज्ञान से अथवा ज्ञानपूर्वक बोलती है।

(ऊर्ध्वबुध्न:) का अर्थ निरुक्त में 'ऊर्ध्व बोधनो वा' भी किया गया है, जिसका अर्थ है कि इस पात्र के ऊपरी भाग में बोध का स्थान है।

प्राणा वै यशो विश्व रूपम्।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार प्राणों को ही इस मन्त्र में विश्वरूपम् यशम् कहा गया है। प्राणों के आधार पर ही मनुष्य सभी कर्म करता है और ज्ञान तथा यश अर्जित करता है। शरीर और सभी इन्द्रियाँ प्राणों पर आधारित हैं अत: प्राण ही वास्तव में समस्त प्रकार का यश हैं। इसी प्रकार प्राण ही सप्त ऋषि हैं। **प्राणा वा ऋषय:।**

इन्द्रियों में प्राण के विभिन्न भाग कार्य करते हैं और इन्द्रियाँ प्राण पर ही आधारित हैं अत: इन्द्रियों को प्राण भी कहते हैं।

उपर्युक्त सप्त ऋषियों का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है:—

इन्द्रियाँ	ऋषि
दो कान	गोतम एवं भरद्वाज

दो नेत्र	विश्वामित्र एवं जमदग्नि
दो नासिकाएँ	वसिष्ठ एवं कश्यप
वाणी	अत्रि

जिह्वा से वाणी बोली जाती है और जिह्वा से ही अन्न खाया जाता है। अतः वाणी को अन्न खाने वाला मानकर अत्ति (यत् + अत्ति = जो अन्न खाता है) कहा गया है। अत्ति को ही परोक्ष रूप से अत्रि कहा जाता है। वेद मन्त्र में जिह्वा को ही इन्द्रियों में सम्मिलित करके सप्त ऋषि कहा गया है। अतः जिह्वा ही वास्तवमें अत्रि ऋषि है।

इन्द्रियों का वर्णन वेद में इस प्रकार किया गया है :—

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि

कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।

येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि

चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

॥ अथर्व वेद (केन सूक्त) १० । २ । ६ ॥

(इमौ कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम् सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द) ये दो कान, दो नाक, दो आँख और एक मुख ये सात छिद्र सिर में किसने खोदे हैं (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः पुरुत्राः यामम् यन्ति) जिनकी विजय की महिमा में चतुष्पाद एवं द्विपाद अपने मार्गों पर बहुत प्रकार से जाते हैं। इन सात ज्ञानेन्द्रियों की ही महिमा से, इन्हीं की सहायता से द्विपाद एवं चतुष्पाद प्राणी

अपने जीवन पथ पर बहुत प्रकार से अग्रसर होते हैं।

यह सात ऋषि हमारे सिर में सदैव कार्य करके हमें ज्ञान और यश देते हैं। पुरुष का कर्तव्य है कि इन ऋषियों द्वारा दिये जाने वाले ज्ञान का उपयोग करके अपना जीवन सफल एवं यशस्वी बनायें।

देव

ब्रह्माण्ड में ३३ श्रेष्ठ देव परमात्मा की विभिन्न शक्तियों के रूप में कार्य करते हुए समस्त स्थावर जङ्गम सृष्टि का आधार बने हुए हैं। ये सभी देव ब्रह्म के विराट शरीर के अङ्ग हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।

तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥

॥ अथर्व। १०। ७। २७॥

(यस्य अङ्गे गात्रा) जिसके शरीर के अवयवों में (त्रयस्त्रिंशत् देवाः विभेजिरे) तेंतीस देव विभक्त होकर रह रहे हैं (तान् वै त्रयस्त्रिंशत् देवान्) उन तेंतीस देवों को (एके ब्रह्मविदः विदुः) अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

॥ अथर्व १०। ७। १३॥

(सर्वे त्रयस्त्रिंशद् देवाः) सब तेंतीस देव (यस्य अङ्गे समाहिताः) जिसके शरीर में समाहित हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस सर्वाधार के विषय में बताओ कि (कतमः स्वित् एव सः) वह देव कौन है। अथवा–कहो वह देव कौन सा है ? उत्तर (तं स्कम्भं) उसे सर्वाधार कहते हैं।

उपर्युक्त सभी ३३ देव तथा सभी लोक एवं भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ ब्रह्म में ही समाहित है। अथर्ववेद में इसका वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है:—

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।

भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

॥ अथर्व । १० । ७ । २२ ॥

जहाँ बारह आदित्य, एकादश रुद्र और आठ वसु समाहित हैं, जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान तथा सभी लोक प्रतिष्ठित हैं उस सर्वाधार के विषय में कहो कि वह देव कौन है। अथवा—

(ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कहो वह देव कौन है ? (उत्तर) (तं स्कम्भं) उसको सर्वाधार परब्रह्म कहते हैं।

ऋग्वेद के निम्नांकित सात मन्त्रों में भी देवों की संख्या ३३ ही उल्लिखित है।

॥ मण्डल १ ॥ सूक्त ३४ । मन्त्र ११ ॥, ॥ १ । ४५ । ०२ ॥, ॥ १ । १३९ । ११ ॥, ॥ ३ । ६ । ९ ॥, ॥ ८ । २८ । १ ॥ ॥ ८ । ३० । २ ॥, ॥ ८ । ३५ । ३ ॥

किन्तु ऋग्वेद ३।९।९ तथा यजुर्वेद ३३।७ में देवों की संख्या ३३३९ वर्णित है।

इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है-

"महिमानि एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति"

बृहद. ३।९।२

३३०६ इनकी महिमाएं हैं। (देवाः तु त्रयस्त्रिंशत एव) देव तो ३३ ही हैं। इस प्रकार देव तथा उनकी महिमायें मिलाकर ३३३९ हुये। तत्पश्चात् इन ३३ देवताओं का विवरण देते हुए उन्होंने बताया--

अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त
एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।

वृहदा. ३।९।२

(अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा, द्वादश आदित्याः ते एकत्रिंशत्) आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य ये ३१ हुये। (इन्द्रः च एव प्रजापतिः च इति) इन्द्र और प्रजापति मिलकर तेंतीस हो गये।

वसु, रुद्र एवं आदित्य का विवरण निम्न प्रकार है :--

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव
ऐतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति।

॥ वृहदा.।३।९।३।

शाकल्य ने पूछा (कतमे वसव इति) वसु कौन हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष,

आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु हैं (हि एतेषु) क्योंकि इन्हीं में (सर्वं इदं हितम्) यह सब जगत निहित है। (तस्माद् वसव इति) इसलिए ये वसु हैं। सब पदार्थ इन्हीं में वसते हैं, इसलिये ये वसु हैं।

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रो दयन्ति तस्माद् रुद्रा इति।

बृहदा० ३।९।४

शाकल्य–(कतमे रुद्रा इति) रुद्र कौन हैं? याज्ञवल्क्य–(पुरुषे इमे दश प्राणाः) पुरुष मे ये दश प्राण हैं (एकादशः आत्मा) ग्यारहवाँ आत्मा है (यदा मर्त्यात् अस्मात् शरीरात्) जब इस मर्त्य शरीर से (उत्क्रामन्ति) ये निकलते हैं (अथ) तब उसके सम्बन्धियों तथा मित्रों आदि को (रोदयन्ति) रुलाते हैं। (तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति) क्योंकि ये रुलाते हैं इसलिए रुद्र हैं।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति।

बृहदा० ३।९।५॥

शाकल्य–(कतमे आदित्या इति?) आदित्य कौन हैं?

याज्ञवल्क्य–(वै संवत्सरस्य द्वादश मासाः एते आदित्याः) जो वर्ष के बारह महीने हैं वे ही आदित्य हैं। (हि एते इदं सर्वं आददानाः यन्ति) क्योंकि ये इन सब प्राणियों की आयु लेते हुए जाते हैं, (तस्माद् आदित्या इति) इसलिये आदित्य हैं।

इन्द्र एवं प्रजापति

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति

कतमो यज्ञ इति पशव इति ।

॥ बृहदा० । ३ । ९ । ६ ॥

शाकल्य – (कतमः इन्द्रः कतमः प्रजापतिः इति) इन्द्र कौन है प्रजापति कौन है ?

याज्ञवल्क्य–(स्तनयित्नुः एव इन्द्रः) गड़गड़ाने वाला ही इन्द्र है, (यज्ञः प्रजापतिः) और यज्ञ प्रजापति है । (कतमः स्तनयित्नुः इति) गड़गड़ाने वाला कौनहै ? (अशनिः इति) विद्युत है । अशनि वज्र, वीर्य अर्थात बल । अतः अशनि बलशाली इन्द्र है । (कतमः यज्ञ इति) यज्ञ क्या हैं ? (पशव इति) पशु यज्ञ हैं ।

पशु ही यज्ञ के साधन हैं क्योंकि आहुति के लिये धृत आवश्यक होता है । अतः आलंकारिक रूप से यह कहा गया है कि पशु ही यज्ञ है । पशु सबका उपकार करते हैं, यज्ञ भी सबका उपकार करता है, अतएव पशु को यज्ञ कहा गया है, मानो कि पशु यज्ञ की मूर्ति है ।

देवों अथवा देवताओं के सम्बन्ध में यजुर्वेद का निम्नांकित मन्त्र भी अत्यन्त महत्पूर्ण है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा

देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या

देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता

बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।

यजु० १४ । २०

इसमें मरुत्, विश्वेदेवा, बृहस्पति तथा वरुण उक्त तेंतीस के अतिरिक्त हैं तथा प्रजापति का उल्लेख नहीं है।

ब्रह्माण्ड एवं शरीर

परमात्मा के विधान के अनुसार ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाले इन महान् देवों के अंश पुरुष के शरीर में स्थित हैं और स्वयं परमात्मा का अंश जीवात्मा इनकी सहायता से इस शरीर का संचालन करता है। सूर्य, अग्नि, वायु आदि महान् देव बाह्य विश्व में कार्य करते हैं और उनके अंश चक्षु, वाणी, प्राण, अपान आदि शरीर में विभिन्न स्थानों पर रहकर अपना कर्तव्य पालन करते हैं। यही इन देवों के पद हैं, जो इस शरीर में निहित हैं।

"देवानां एता निहिता पदानि"

॥ अथर्व । ९ । ९ । ६ ॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । ३ ॥

(पुरा देवेभ्यः दशदेवाः साकं अजायन्त) पहले देवों से दश देव साथ साथ उत्पन्न हुए, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयपूर्वक उन्हें प्रत्यक्ष जानता है, (सः वै अद्य महद् वदेत्) वह निश्चयपूर्वक आज बड़े ज्ञान की बात अथवा ब्रह्मज्ञान कह सकता है।

इन दश देवों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । ४ ॥

प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति (क्षीण न होने वाली आत्मिक शक्ति), क्षिति (क्षीण होने वाली शारीरिक शक्ति) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते वै आकूतिं आवहन्) निश्चय ही वे पुरुष की संकल्प शक्ति को धारण करते हैं, अथवा उसे संकल्प शक्ति प्राप्त कराते हैं।

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । १३ ॥

(ते देवाः संसिचः नाम) वे देव संसिच (सींचने वाले) नाम वाले हैं, जिन्होंने (सम्भारान् सम्भरन्) विश्व में विभिन्न पदार्थों का सम्भरण किया है उन्हें जीवन रस से भर दिया है। (सर्वं मर्त्यं संसिच्य) समस्त नाशवान् पदार्थों को सींचकर, उन्हें जीवन रस प्रदान करके, ये देव पुरुष में प्रवेश कर गये। तात्पर्य यह है कि संसार को जीवन रस से सींचने वाले ये देव अन्य नाशवान पदार्थों को सींचकर शरीर में प्रवेश कर गये ताकि शरीर को भी जीवन रस से भरा जा सके।

इसी भाव को निम्नांकित मन्त्र में भिन्न प्रकार से कहा गया है—

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । १८ ॥

(यदा त्वष्टा यः त्वष्टुः उत्तरः पिता व्यतृणत्) जब त्वष्टा अर्थात् परमात्मा, जो कि त्वष्टा अर्थात् जीवात्मा का पिता तथा उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है, ने शरीर में इन्द्रियों के विविध छिद्र निर्मित कर दिये, तो देव मरण धर्मा शरीर को अपना गृह बनाकर पुरुष में

(आविशन्) प्रविष्ट हो गये ।

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । ३० ॥

(याः आपः) जो जल (याः च देवताः) और जो देवता तथा (या विराड् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्म के साथ विराड् है अर्थात् ब्रह्म की सहचारिणी विशेष दीप्ति से परिपूर्ण उसकी तेजस्वरूपा शक्ति है, ये सब शरीर में प्रवेश कर गये और इनके अतिरिक्त (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) स्वयं ब्रह्म शरीर में प्रवेश कर गया तथा शरीर का अधिष्ठाता प्रजापति अथवा जीवात्मा हुआ ।

विराड् = विराज् शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक "राजृ दीप्तौ" धातु से निष्पन्न होता है । अतः इसका अर्थ हुआ विशेष रूप से प्रकाशवान अथवा दीप्तिवान ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । ३१

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुष की चक्षु सूर्य के अंश से उत्पन्न हुई है । (वातः प्राणं विभेजिरे) और उसका प्राण, वायु को विशेष रूप से विभक्त करके बनाया गया है । (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसकी जो अन्य इन्द्रियाँ तथा शरीर के अन्य अवयव हैं (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) उन्हें देवों ने अग्नि को दे दिया है अर्थात् उनका धारण अग्नि के द्वारा किया जाता है । वास्तव में मनुष्य शरीर अग्नि अथवा ऊर्जा पर ही आधारित हैं । जब तक अग्नि पर आधारित उष्णता शरीर में रहती है, तभी तक इसमें जीवन रहता है । प्राण और

अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए प्राणों को प्राणाग्नियाँ कहा जाता है।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

॥ अथर्व । ११ । ८ । ३२ ॥

(तस्माद् वै विद्वान्) इसलिए निश्चय से विद्वान् (पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते) इस पुरुष को ब्रह्म ऐसा मानता है। (हि सर्वाः देवताः गोष्ठे गावः इव अस्मिन् आसते) क्योंकि इसमें सब देवता उसी प्रकार रहते हैं जैसे गोशाला में गौयें।

जब तक ये देव और ऋषि इस शरीर में रहते हैं, तब तक यह शरीर पवित्र, कांतिमान और श्री एवं शोभा से सम्पन्न रहता है किन्तु जब ये देव एवं ऋषि शरीर से चले जाते हैं तब यह शरीर सड़ने लगता है, अपवित्र एवं त्याज्य हो जाता है।

वेद के इन मन्त्रों का स्पष्टीकरण अनेक उपनिषदों में किया गया है।

ऐतरेय उपनिषद् में यह वर्णन निम्न प्रकार आया है--

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ।

॥ ऐतरेय । १ । २ । ४ ॥

(अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्) अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ। (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) वायु प्राण

नासिका में प्रविष्ट हुआ। (आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) सूर्य चक्षु बनकर आँखों में प्रविष्ट हुआ। (दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्) दिशायें श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं। (औषधि वनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्) औषधियाँ और वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं। (चन्द्रमाः मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। (मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिं प्राविशत्) मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हुआ और (आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशन्) जल रेत बनकर शिश्न में प्रविष्ट हुआ।

जब सब देवों अथवा लोकपालों ने शरीर में अपने अपने योग्य स्थान अथवा लोक ग्रहण कर लिए तो परमात्मा ने सोचा कि ये देव मेरे बिना कैसे कार्य कर सकेंगे।

स ईक्षत—कथं न्विदं मदृते स्यात् इति।
स ईक्षत—कतरेण प्रपद्या इति।

॥ ऐतरेय। १। ३। ११॥

(कथं नु इदं मद् ऋते स्यात्?) मेरे बिना यह शरीर कैसे रह सकेगा? फिर उसने सोचा (कतरेण प्रपद्यै इति) किस मार्ग से इस शरीर में प्रवेश करूँ?

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्।
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमा-
वसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति।

॥ ऐतरेय। १। ३। १२॥

(स एतं एव सीमानम् विदार्थ) वह इस शिर के ऊपरी भाग का विदारण करके (एतया द्वारा प्रापद्यत) इसी द्वार से प्रवेश कर गया।

(सा एषा विदृतिः नाम द्वाः) वह यह विदृति नामक द्वार है। (तत् एतत् नान्दनम्) वह यह आनन्द प्रद है। (तस्य त्रयः आवसथाः) उस आत्मा के रहने के तीन स्थान हैं, (त्रयः स्वप्नाः), तीन सोने के, विश्राम के स्थान हैं। (अयं आवसथः) आँख यह एक रहने का स्थान है, (अयं आवसथः) कण्ठ यह इसका दूसरा स्थान है, हृदय यह तीसरा स्थान है।

नन्दन को यहाँ नान्दन कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के समय इस मार्ग से निकलकर जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करके परमानन्द का उपभोग करता है।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिति।

॥ ऐतरेय। १। ३। १३॥

उसने उत्पन्न होने पर सब भूतों का निरीक्षण किया और कहा (कि इह अन्यं वावदिषत् इति) यहाँ दूसरा कौन है, वह कहे अर्थात् यहाँ जो दूसरा हो वह बोले। (स एतं एव पुरुषं ब्रह्म ततमं अपश्यत्) तब उसने उसी परम पुरुष को, सर्वव्यापक ब्रह्म को देखा और कहा (इदं अदर्शम् इति) मैंने इसको देखा।

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥

॥ ऐतरेय। १। ३। १४॥

(तस्मात् इदन्द्रः नाम) इसलिए उसका नाम 'इदन्द्र' हुआ। (इदन्द्रः वै नाम) निश्चय ही वह इदन्द्र नाम वाला है। (इदन्द्रं सन्तं) इदन्द्र नाम वाला होते हुये, (तं इन्द्र इति परोक्षेण आचक्षते) उसे परोक्ष-रूप से गुह्यता के कारण इन्द्र ऐसा कहते हैं (हि देवाः परोक्षप्रियाः)

क्योंकि देव परोक्षप्रिय होते हैं। (परोक्षप्रियाः इव हि देवा) देवों को परोक्ष ही प्रिय होता है।

इदं अदर्शम् का सूक्ष्म रूप इदं दर्शम् हुआ, फिर 'इदं दर्' और तब (इदन्द्र) हुआ। इदन्द्र को ही परोक्ष रूप में इन्द्र कहते हैं। इदं अदर्शं = इदम् + दर्शं = इदम् + दर् = इदम् + द्र = इदन्द्र = इन्द्र। इस प्रकार जीवात्मा का नाम इन्द्र अर्थात् जिसने ब्रह्म का दर्शन किया, हुआ।

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख जैमिनीय उपनिषद् में किया गया है--

तं वागेव भूत्वाऽग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽऽदित्यश्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः। एषा दैवी परिषद्, दैवी सभा, दैवी संसत्।

॥ जै० । उ० २ । ११ । १२ — १३ ॥

अग्नि वाणी होकर शरीर में प्रवेश कर गया, चन्द्रमा मन होकर, आदित्य चक्षु होकर, दिशायें श्रोत्र होकर तथा वायु प्राण होकर प्रवेश कर गया। इस प्रकार यह शरीर दैवी परिषद्, दैवी सभा, दैवी संसद है।

देवों की यह सभा देवराज इन्द्र के बिना कैसे कार्य कर सकती थी, अतः इन्द्र अथवा परमात्मा स्वयं विदृति द्वार से जीवात्मा के रूप में शरीर में प्रवेश करके अपनी सहचरी जीवनी शक्ति अर्थात् प्राण की सहायता से तथा अपने अनुचर इन्द्रिय रूपी देवों के माध्यम से शरीर रूपी इन्द्रपुरी पर शासन करने लगा।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड में देवों की समानता है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

वास्तव में पुरुष का शरीर ही विराट विष्णु का वामन रूप है। यही वामनावतार है।

वामनो ह विष्णुरास।

शत. १।२।५।५

वामन ही विष्णु था।

स हि वैष्णवो यद्वामनः।

शत. ५।२।५।४

निश्चय ही जो वामन है, वही विष्णु है।

इस प्रकार विराट एवं वामन की मूलभूत एक रूपता है। जो अपने विराट रूप में सहस्रशीर्षा है, वही वामन रूपी पुरुष शरीर में एक शीर्षा है। अनन्त का ही एक सीमित रूप यह शरीर है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म वामन रूपी परमाणु भी उसी प्रकार रहस्यमय एवं शक्ति सम्पन्न है जिस प्रकार विराट रूपी ब्रह्माण्ड। यह है भगवान् की अनन्त महिमा और उसे ठीक ठीक समझने वाले वैदिक मनीषियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त।

इस एक रूपता का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

ब्रह्माण्ड में देव	**शरीर में उनके अंश**	**शरीर में स्थान**
१. ब्रह्म	जीवात्मा	हृदयाकाश
२. अग्नि	१. वाणी	मुख
	२. ऊर्जा	समस्त शरीर
	३. पाचन शक्ति	उदर
३. वायु	१. प्राण	नासिका
	२. त्वचा	समस्त शरीर
४. आदित्य	चक्षु	अक्षिणी (नेत्र)
५. दिशायें (आकाश)	श्रोत्र	कर्ण

६. चन्द्रमा	मन	हृदय
७. पृथिवी	स्थूल भाग	पूर्ण शरीर
८. आपः (जल)	१. रेत (वीर्य)	शिश्न
	२. रक्त	समस्त शरीर
	३. रसना	मुख
९. ओषधियाँ, वनस्पतियाँ	१. लोम	त्वचा
	२. केश	शिर तथा अन्य अवयव
१०. मृत्यु	अपान	नाभि

ब्रह्माण्ड में कार्य कर रहे देव परमात्मा की शक्ति का प्रयोग करने के कारण महान् एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं जबकि शरीर में कार्य करने वाले उनके अंश जीवात्मा की शक्ति का प्रयोग करते हुये तथा उसके नियंत्रण में कार्य करते हुये सीमित शक्ति वाले हैं और शरीर का अन्त होने पर अपने मूल देवों में विलीन हो जाते हैं।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

॥ मुण्डक । ३ । २ । ७ ॥

पन्द्रह कलायें तथा समस्त देव अपने अपने मूल पितृ देवों, जिनके वे अंश रूप से शरीर में स्थित थे, (गताः प्रतिष्ठाः) में जाकर स्थित हो जाते हैं तथा विज्ञान-मय जीवात्मा एवं उसके ऐसे कर्म जिनके फलों का भोग होना शेष है, ये सब (परे अव्यये) श्रेष्ठ अविनाशी परब्रह्म में (एकीभवन्ति) लीन हो जाते हैं।

यह मोक्ष की स्थिति का वर्णन है। यदि मोक्ष नहीं होता है तो

जीवात्मा अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार दूसरा शरीर धारण कर लेता है।

इस प्रकार वेद के अनुसार यह शरीर देवों का पवित्र मन्दिर है, जिसकी रक्षा सतत् जागरुक सप्त ऋषियों द्वारा की जाती है। कितने दुःख का विषय है कि ऐसे श्रेष्ठ शरीर, जो वेद के अनुसार मनुष्य के परमोत्कर्ष एवं ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, को विभिन्न मूर्खता-पूर्ण मत मतान्तरों में, कारागृह, पिंजड़ा, पाप का कारण और मल मूत्र का स्थान बताकर तिरस्कृत किया गया है।

वेद में स्थान स्थान पर यह शिक्षा दी गई है कि मनुष्य को सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वयं परम पिता परमात्मा का पुत्र और मित्र है, उसके शरीर में सब देवों का निवास होने के कारण वह उनकी अदम्य एवं प्रचण्ड शक्तियों से युक्त है और उसमें ब्रह्म होने तक की क्षमता है। अतः उसे कभी भी दीन-हीन अथवा हतोत्साहित नहीं होना चाहिए।

वेद की यह शिक्षा हमें बताती है कि मनुष्य को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका शरीर, उसकी सत्ता, ब्रह्म के विराट शरीर का एक अंशमात्र है। अतः उसे सदैव समष्टि के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये, विश्व सेवा रूपी यज्ञ करना चाहिये। हमारी संस्कृति का प्रमुख वाक्य "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसी तत्वज्ञान पर आधारित है।

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह मेरा है या पराया है, यह गणना तो क्षुद्र हृदय अथा संकुचित चित्त वाले लोग करते हैं; उदार चित्त वाले पुरुषों के लिए तो समस्त वसुधा ही कुटुम्ब है।

अभी तक देव शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ मानकर ही मन्त्र का अर्थ किया गया है। अतः यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इन्द्रियों की ही भाँति ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाले आदित्य, अग्नि, वायु आदि महान देव भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते।

महाभारत में इस विषय में निम्नाङ्कित सुन्दर श्लोक आया है।

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः।
तत्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः।।

महा। शान्ति। ४७। ७४

जिसे न देव, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव तत्वरूप से जानते हैं ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्म को नमस्कार है।

इस सम्बन्ध में केनोपनिषद् में एक सुन्दर आख्यायिका दी गयी है।

देवों को अपनी विजय से अपनी शक्ति का अभिमान हो गया और वह यह समझने लगे कि यह सब उन्हीं की महिमा है।

ब्रह्म इन देवों का भाव जान गया और उन्हें वास्तविकता का बोध कराने के उद्देश्य से उनके समक्ष एक यक्ष के रूप में प्रकट हुआ। देव न जान सके कि यह यक्ष कौन है।

तब उन देवों ने अग्नि से कहा कि हे जातवेद! जाकर पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है। उनके अनुरोध को स्वीकार करके अग्नि उस यक्ष के पास गया।

तब उस यक्ष रूपी ब्रह्म ने अग्नि से पूछा तू कौन है? अग्नि ने कहा 'मैं अग्नि हूँ और मुझको ही जातवेद कहते हैं'। तब यक्ष ने पूछा कि तुममें क्या शक्ति है? अग्नि ने उत्तर दिया कि इस पृथिवी पर जो कुछ भी है, वह उसको जला सकता है। इस पर यक्ष ने

अग्नि के समक्ष एक तिनका रख दिया और कहा कि इसको जलाओ अग्नि अपनी पूरी शक्ति और वेग के साथ उस तिनके के पास गया किन्तु उसको जला नहीं सका। तब वह वापिस लौट गया और देवों से कहा "मैं उस यक्ष को जानने मे असमर्थ हूँ।"

तब देवों ने वायु से कहा, "हे वायु ! तुम पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ?"

वायु जब यक्ष के पास गया तो यक्ष ने पूछा कि वह कौन है। वायु ने उत्तर दिया "मैं वायु हूँ और मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।" यक्ष ने पूछा कि उसमें क्या शक्ति है तो वायु ने कहा 'इस पृथिवी पर जो कुछ भी है, मैं उस सबको उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रखकर कहा इसको उड़ा। वायु पूरे वेग के साथ उसके पास गया किन्तु उसे उड़ा नहीं सका। तब वायु ने लौट कर देवों से कहा कि वह उस यक्ष को जानने में असमर्थ है।

तब देवों ने इन्द्र से यक्ष का पता लगाने के लिये कहा। इन्द्र उसके पास गया किन्तु वह यक्ष उससे छिप गया और उसी समय आकाश से हेमवती उमा नाम की एक सुन्दर स्त्री प्रकट हुई। इन्द्र ने उससे पूछा कि वह यक्ष कौन था।

उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह ब्रह्म है, ब्रह्म ही की इस विजय में महत्व लाभ करो। तब इन्द्र को इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हुआ। वे देव अग्नि, वायु और इन्द्र अन्य देवों से आगे बढ़ गये क्योंकि वे ही पहले ब्रह्म को अपने समीप स्थित देख पाये और उसे जान पाये। पहले इन्द्र ही इस ब्रह्म को अति समीप देखने वाला हुआ और उसी ने इस ब्रह्म को सबसे पहले जाना अतः वह अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गया।

इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के

अलावा अन्य कोई देव इस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते। जिस प्रकार आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार इन्द्र शब्द भी जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है क्योंकि वास्तव में जीवात्मा, परमात्मा का ही अंश है, उसी का पुत्र है।

आत्मा ही दृष्टा है

इदं पश्यतीति इन्द्रः। आत्मा परमात्मा को देखता है, इसलिये इन्द्र कहा जाता है।

आख्यायिका में उल्लिखित सुन्दर स्त्री हेमवती उमा वास्तव में विद्या अथवा ज्ञान है। ज्ञान की सहायता से ही आत्मा परमात्मा को जान सकता है, प्राप्त कर सकता है। विद्ययाऽमृतमश्नुते विद्या से ही मोक्ष अथवा अमृतत्व प्राप्त होता है। ज्ञान के बिना इन्द्र यक्ष रूपी ब्रह्म को देखकर भी नहीं समझ सका कि वह कौन है। उमा रूपी विद्या ने ही अज्ञान का आवरण हटाकर उसे सत्य का दर्शन कराया। श्री शङ्कराचार्य जी ने भी अपने भाष्य में लिखा है **'विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत स्त्रीरूपा'**।

नैनद्देवा आप्नुवन

देव ब्रह्म को नहीं जान सकते, यह तथ्य बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार समझाया गया है—

अन्तर्यामी के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उद्दालक को बताया—

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-ऽन्तर्याम्यमृतः। बृहदा० ३।७।३

(यः पृथिव्यां तिष्ठन्) जो पृथिवी में रहता हुआ (पृथिव्यां अन्तरः) पृथिवी के अन्दर है, (यम् पृथिवी न वेद) जिसको पृथिवी नहीं जानती (यस्य पृथिवी शरीरम्) जिसका पृथिवी शरीर है (यः अन्तरः पृथिवीम् यमयति) जो अन्दर रहकर पृथिवी को नियम में रखता है, (एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः) यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमर है।

जो जल में रहता हुआ, जल के भीतर है, जिसको जल नहीं जानता, जिसका शरीर जल है, जो जल के अन्दर रहकर जल को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

जो अग्नि में रहता हुआ अग्नि के भीतर है, जिसको अग्नि नहीं जानता, जिसका शरीर अग्नि है, जो भीतर रहता हुआ अग्नि को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ अन्तरिक्ष के भीतर है, जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता, जिसका शरीर अन्तरिक्ष है, जो भीतर रहता हुआ अन्तरिक्ष को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमर है।

जो वायु में रहता हुआ, वायु के भीतर है, जिसको वायु नहीं जानता, जिसका वायु शरीर है, जो (वायु के) भीतर रहता हुआ, वायु को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो द्युलोक में रहता हुआ द्युलोक के भीतर है, जिसको द्युलोक नहीं जानता, जिसका शरीर द्युलोक है, जो (द्युलोक के) भीतर रहता हुआ द्युलोक को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य के अन्दर है, जिसको

आदित्य नहीं जानता, जिसका शरीर आदित्य है, जो (आदित्य के) भीतर रहता हुआ आदित्य को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो दिशाओं में रहता हुआ दिशाओं के अन्दर है, जिसे दिशायें नहीं जानतीं, जिसका शरीर दिशायें हैं, जो (दिशाओं के) अन्दर रहता हुआ दिशाओं को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो चन्द्र और तारागणों में रहता हुआ, चन्द्र ताराओं के भीतर है, जिसको चन्द्र और तारागण नहीं जानते, जिसका शरीर चन्द्र और तारागण हैं, जो (चन्द्र और ताराओं के) भीतर रहता हुआ चन्द्र और तारागण को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो आकाश में रहता हुआ आकाश के भीतर है, जिसको आकाश नहीं जानता, जिसका शरीर आकाश है, जो (आकाश के) भीतर रहता हुआ आकाश को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो तम में रहता हुआ तम के अन्दर है, जिसको तम नहीं जानता, जिसका शरीर तम है, जो (तम के) अन्दर रहता हुआ तम को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो तेज में रहता हुआ तेज के अन्दर है, जिसको तेज नहीं जानता, जिसका शरीर तेज है, जो (तेज के) भीतर रहता हुआ तेज को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

यह अधिदैवत हुआ, अब अधिभूत कहते हैं। जो समस्त भूतों में रहता हुआ समस्त भूतों के अन्दर है, जिसको समस्त भूत नहीं जानते, जिसका शरीर समस्त भूत हैं, जो (समस्त भूतों के) भीतर रहकर

समस्त भूतों को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है। (इति अधिभूतम् अथ अध्यात्मम्) यह अधिभूत हुआ, अब अध्यात्म कहते हैं।

जो प्राण में रहता हुआ प्राण के भीतर है, जिसको प्राण नहीं जानता, जिसका शरीर प्राण है, जो (प्राण के) भीतर रहता हुआ प्राण को नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो वाणी में रहता हुआ वाणी के अन्दर है, जिसे वाणी नहीं जानती, जिसका वाणी शरीर है, (जो वाणी के) भीतर रहता हुआ, वाणी को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो आँख में रहता हुआ आँख के अन्दर है, जिसे आँख नहीं जानती, आँख जिसका शरीर है, जो (आँख के) भीतर रहता हुआ आँख को नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो कानों में रहता हुआ, कानों के अन्दर है, जिसे कान नहीं जानते, कान जिसके शरीर हैं, जो (कानों के) भीतर रहता हुआ कानों को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमर है।

जो मन में रहता हुआ मन के अन्दर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है, जो (मन के) भीतर रहता हुआ मन को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो त्वचा में रहता हुआ त्वचा के अन्दर है, जिसे त्वचा नहीं जानती, त्वचा जिसका शरीर है, जो (त्वचा के) भीतर रहकर त्वचा को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो विज्ञान (श्री शङ्कराचार्य जी ने विज्ञान का अर्थ जीवात्मा

किया है) में रहता हुआ विज्ञान के अन्दर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है, जो (विज्ञान के) भीतर रहता हुआ, विज्ञान को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

जो वीर्य में रहता हुआ वीर्य के अन्दर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है, जो (वीर्य के) भीतर रहकर वीर्य को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है।

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।

बृहदारण्यक ३। ७। २३

(अदृष्टः दृष्टा) अदृष्ट होते हुये सबको देखने वाला, (अश्रुतः श्रोता) जिसे कोई सुन नहीं सकता ऐसा सब कुछ सुनने वाला, (अमतः मन्ता) जिसका मनन नहीं किया जा सकता, ऐसा सब कुछ मनन करने वाला (अविज्ञातः विज्ञाता) जिसे कोई जान नहीं सकता, ऐसा सब कुछ जानने वाला, (अतः अन्यः दृष्टा न अस्ति) इससे भिन्न कोई अन्य दृष्टा नहीं है, (अतः अन्यः श्रोता न अस्ति) इससे भिन्न कोई सुनने वाला नहीं है, (अतः अन्यः मन्ता न अस्ति) इससे भिन्न कोई मनन करने वाला नहीं है, (अतः अन्यः विज्ञाता न अस्ति) इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है, (एषः ते आतमा अन्तर्यामि अमृतः) यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमर है (अतः अन्यत् आर्तम्) इससे भिन्न सब दुःखग्रस्त है (ततः ह उद्दालकः आरुणिः उपरराम) तब उद्दालक आरुणि शान्त हो गये।

इस प्रकार इस मन्त्र भाग को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हुये

बताया गया है कि न तो बाह्य जगत में कार्य करने वाले शक्तिशाली देव और न शरीर में कार्य करने वाले उनके अंश उस सर्वव्यापक ब्रह्म को जान सकते हैं, उसे केवल विज्ञानमय आत्मा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति

स्वामी दयानन्द जी ने मातरिश्वा का अर्थ जीव तथा अपः का अर्थ कर्म किया है।

पं० दामोदर सातवलेकर जी ने इसका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

'मातरिश्वा' = माता के उदर में रहने वाला जीव, 'तस्मिन् अपः दधाति' = उस ब्रह्म के आधार से अपने पूर्व जन्म के कर्मों को धारण करता है। पहले जन्म में किये हुये कर्म वासनारूप से जीवात्मा के साथ गर्भ में भी रहते हैं। सामान्य रूप से कर्म छूटते नहीं हैं, उनके फलों का भोग अनिवार्य है। इस प्रकार इस मन्त्र से पुनर्जन्म का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।

'मातरिश्वा' का अर्थ जीवात्मा किये जाने के लिये श्री सातवलेकर जी ने निम्नांकित मन्त्रों का प्रमाण दिया है–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अथर्व। ९। १०। २८ — ऋग। १। १६४। ४६

परमात्मा एक ही है। उसी का वर्णन श्रेष्ठ विद्वान अनेक प्रकार

से करते हैं। उसी को इन्द्र, मित्र, वरुण तथा अग्नि कहते हैं; तथा उसी को दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान, यम तथा मातरिश्वा कहते हैं।

इस मन्त्र में इन्द्र, अग्नि तथा सुपर्ण शब्द आये हैं जो परमात्मा तथा जीवात्मा के सुप्रसिद्ध नाम हैं। इसी प्रकार मातरिश्वा भी परमात्मा की भाँति जीवात्मा का वाचक है।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

॥ अथर्व। ११। ४। १५॥

प्राण को मातरिश्वा कहते हैं और वायु को प्राण कहते हैं। भूत भविष्य (एवं वर्तमान) में जो कुछ भी है, सब प्राण में प्रतिष्ठित है। इस मन्त्र में प्राण को मातरिश्वा कहा है। प्राण जीवात्मा की सहचारिणी जीवन शक्ति है। इससे भी मातरिश्वा का अर्थ जीवात्मा इंगित होता है।

श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी ने मातरिश्वा का अर्थ इस प्रकार लिखा है–

मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति अर्थात् जो अन्तरिक्ष में बहता है, जो अन्तरिक्ष में सञ्चरण करने वाला है, जो समस्त प्राणों का पोषक एवं क्रिया रूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रियाँ हैं, जिसमें ये सब ओत प्रोत हैं, और जो सूत्र संज्ञक तत्व होकर निखिल जगत को धारण करता है, वह मातरिश्वा है।

(तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति) उस नित्य चैतन्य स्वरूप आत्म तत्व के वर्तमान रहते हुये मातरिश्वा (अपः) प्राणियों के

चेष्टा रूप कर्म तथा अग्नि, सूर्य और मेघ आदि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन तथा वर्षा आदि कर्मों को (दधाति) धारण करता है।

तात्पर्य यह है कि सूत्रात्मा वायु समस्त प्राणियों की चेष्टाओं को उनके प्राणों को तथा संसार में चलने वाले वर्षा चक्र आदि को उस परब्रह्म की शक्ति से ही धारण करता है।

अथर्व वेद के उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त में इस भाव को विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है कि संसार के समस्त पदार्थ, समस्त प्राणी तथा समस्त शक्तियाँ ईश्वर के आधार पर ही स्थित हैं और उसी में समाहित हैं, किसी अन्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

प्रलय के उपरान्त केवल एकमात्र परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है, अतः परमात्मा का नाम (उत्+शिष्ट) उच्छिष्ट अर्थात् उच्च स्थान में अवशिष्ट, है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म के एक पाद से, केवल एक अंश से होती है और उसके तीन पाद अपने मूल स्वरूप में उच्च स्थान में अवशिष्ट रहते हैं।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।

(पुरुष सूक्त) ऋग. १०।९०।४

त्रिपाद् पुरुष ऊर्ध्व स्थान में उदित हुआ है तथा उसका एक पाद पुनः पुनः सृष्टि के रूप में उत्पन्न होता रहता है और प्रलय के समय उसी में लीन होता रहता है। इसीलिये ब्रह्म को उच्छिष्ट कहा जाता है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा अथवा प्रकृति अन्य किसी को उच्छिष्ट नहीं कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि जीवात्माओं की तथा प्रकृति की प्रलय काल में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। केवल तर्क वितर्क के आधार पर इस तथ्य को झुठलाना उचित नहीं है।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥

अथर्व ११ । ७ । १

समस्त नाम एवं रूप ब्रह्म में स्थित हैं, तथा समस्त लोक उच्छिष्ट में आधारित हैं । इन्द्र, अग्नि आदि समस्त देव तथा समस्त नामरूपात्मक जगत उच्छिष्ट में समाहित है ।

उच्छिष्टे द्यावा पृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।

आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥

अथर्व ११ । ७ । २

द्युलोक पृथिवी लोक तथा समस्त भूत मात्र उच्छिष्ट में समाहित हैं; जल, समुद्र, चन्द्रमा, तथा वायु उच्छिष्ट में ही आधारित है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है । गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा—

यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप
ओताश्च प्रोताश्चेति । बृहदा० ३ । ६ । १

(यत् इदम् सर्वम् अप्सु ओतं च प्रोतं च) जो यह सब जल में ओत प्रोत है, (आपः कस्मिन् नु खलु ओताः च प्रोताः च इति) तो जल किसमें ओत प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—(गार्गी वायौ इति) गार्गी ! वायु में। इसके उपरान्त पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया कि—

१- वायु अन्तरिक्ष में ओत प्रोत है।

२- अन्तरिक्ष गन्धर्व लोक में ओत प्रोत है।

३- गन्धर्व लोक आदित्य लोक में ओत प्रोत है।

४- आदित्य लोक चन्द्र लोक में ओत प्रोत है।

५- चन्द्र लोक नक्षत्र लोक में ओत प्रोत है।

६- नक्षत्र लोक देव लोक में ओत प्रोत है।

७- देव लोक इन्द्र लोक में ओत प्रोत है।

८- इन्द्र लोक प्रजापति लोक में ओत प्रोत है।

९- प्रजापति लोक ब्रह्म लोक में ओत प्रात है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म ही सबका अन्तिम आधार है और उसी के आधार से मातरिश्वा वायु मेघों को, जलों को अथवा वृष्टि चक्र को धारण करता है।

शरीर के धारक एवं प्रकाशक देव-प्राण का महत्व

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति।

। प्रश्नोपनिषद्। द्वितीय प्रश्न। १ ।।

(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एवम्) इस पिप्पलाद से (भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ) भृगु के पुत्र वैदर्भि ने पूछा। (भगवन्) हे भगवन ! (कति एव देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं और (कतरे एतत् प्रकाशयन्ते) कितने इसको प्रकाशित करते हैं, (पुनः) फिर (एषां कः वरिष्ठः इति) इनमें कौन श्रेष्ठ है।

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः।

॥ प्रश्न. उप. । द्वितीय प्रश्न । २ ॥

(तस्मै) उस प्रश्नकर्ता के लिए (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (पिप्पलाद) ऋषि (उवाच) बोले, (ह वै) निश्चय ही (आकाशः) आकाश, (वायुः) वायु, (अग्निः) अग्नि, (आपः) जल और (पृथिवी) पृथिवी तथा (वाक् मनः चक्षु श्रोत्रं च) वाणी, मन, आँख और कान (एषः देवः) यह देव हैं (ते) वे (प्रकाश्य) प्रकाशित होकर (अभिवदन्ति) परस्पर स्पर्द्धा करते हुये कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत् बाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) आधार स्तम्भ के समान (विधारयामः) धारण करते हैं।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः।

प्रश्न २ । ३

(तान्) उनसे (वरिष्ठः) श्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (उवाच) बोला, (मा मोहम् आपद्यथ) मोह को मत प्राप्त हो, (अहम् एव) मैं ही (एतत् आत्मानम् पञ्चधा प्रविभज्य) अपने इस स्वरूप को पाँच प्रकार से विभक्त करके (एतत् बाणम् अवष्टभ्य) इस शरीर को आश्रय देकर (विधारयामि इति) धारण करता हूँ। (ते) किन्तु वे इन्द्रियाँ (अश्रद्दधानाः बभूवुः) प्राण की बात पर श्रद्धा न रखने वाली हो गईं अर्थात् उन्होंने प्राण के कथन पर विश्वास नहीं किया।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते,

तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्‌ मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति । प्रश्न २ । ४

तब (सः) वह (प्राणः) प्राण (अभिमानात्) अभिमान पूर्वक (ऊर्ध्वम् उत्क्रमते इव) ऊपर उठकर शरीर से बाहर निकलने सा लगा, (तस्मिन् उत्क्रामति) उसके निकलने पर (अथ इतरे सर्वे एव उत्क्रामन्ते) अन्य सभी देव बाहर निकलने लगे। (च) और (तस्मिन् प्रतिष्ठमाने) उसके ठहर जाने पर (सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते) सभी ठहर गये। (तत् यथा) सो जैसे (मधुकर-राजानम्) मधुमक्खियों के राजा के (उत्क्रामन्तम्) निकलने पर, (सर्वाः एव मक्षिकाः उत्क्रामन्ते) सारी ही मधुमक्खियाँ बाहर निकल जाती हैं, (च) और (तस्मिन् प्रतिष्ठमाने) उसके ठहर जाने पर (सर्वाः एव प्रातिष्ठन्ते) सभी ठहर जाती हैं (एवम् वाक् मनः चक्षु श्रोत्रम् च) ठीक वही दशा वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र की हुयी। (ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति) तब वे सभी इन्द्रियाँ प्रसन्नता पूर्वक प्राण की स्तुति करने लगीं।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिताः त्वं मातरिश्व नः ॥

प्रश्न. २ । ११

(प्राण व्रात्यः) हे प्राण ! तुम शरीर को धारण करने के सत्यव्रत का आचरण करने वाले, (एक ऋषिः अत्ता) अकेले ही सतत् गमन करने वाले अर्थात् शरीर में निरन्तर आने जाने वाले तथा शरीर के लिये अन्न के भोक्ता अथवा ग्रहण करने वाले हो। (वयं आद्यस्य दातारः) हम तो तुम्हारे लिये अन्न तथा अन्य भोज्य पदार्थों को केवल उपलब्ध कराने वाले हैं; तुम्हीं समस्त संसार के श्रेष्ठ स्वामी (मातरिश्व) आकाश में गमन करने वाले समष्टि प्राण रूपी सूत्रात्मा वायु तथा हमारे पिता अर्थात पालक एवं रक्षक हो।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥

प्रश्न. २ । १२

(या ते तनूः वाचि प्रतिष्ठता) तुम्हारा जो शरीर वाणी में स्थित है, (या श्रोत्रे या च चक्षुषि) जो श्रोत्र में तथा जो चक्षु में प्रतिष्ठित है (या मनसि संतता) तथा जो मन में व्याप्त है (तां शिवां कुरु) उसे हमारे लिये कल्याणकारी बनाओ (मा उत्क्रमीः) शरीर छोड़कर मत जाओ ।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां चविधेहि न इति ॥

प्रश्न० २ । १३

(इदं सर्वं) यह सब (यत् त्रिदिवे प्रतिष्ठितम्) जो कुछ तीनों लोकों में स्थित है (प्राणस्य वशे) वह प्राण के ही वश में है। इसलिए हे प्राण ! (माता पुत्रान् इव) जैसे माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है उसी प्रकार (रक्षस्व) हमारी रक्षा करो (च) और (नः श्रीः च प्रज्ञां विधेहि इति) हमें कान्ति शोभा तथा बुद्धि प्रदान करो ।

शरीर में प्राणों के दस भेद माने जाते हैं ।

प्रमुख – प्राण अपान, व्यान, समान, उदान ।
गौण – नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय ।

प्राणों की यह विशेषता है कि वह बिना रुके हुये, बिना थके हुये यावज्जीवन अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका आयी है कि इन्द्रियां आपस में स्पर्धा करने लगीं । वाणी ने यह व्रत किया कि मैं बोलती ही रहूंगी, चक्षु ने व्रत किया कि मैं देखता ही रहूँगा, श्रोत्र ने व्रत

किया मैं सुनता ही रहूँगा। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों ने भी अपने अपने कार्यों के सम्बन्ध में व्रत धारण किये।

किन्तु मृत्यु ने थकावट बनकर उन्हें पकड़ लिया और उन्हें काम करने से रोक दिया। इसीलिये वाणी थक जाती है, चक्षु थक जाते हैं श्रोत्र थक जाते हैं। किन्तु मृत्यु प्राण को नहीं पकड़ सका। तब इन्द्रियों ने जाना कि निरन्तर सञ्चरण करता हुआ यह प्राण हम में श्रेष्ठ है; न यह थकता है, न नष्ट होता है। अच्छा हो कि हम सब इसी के अनुरूप हो जायें। तब वे सब इन्द्रिय इसी प्राण के रूप में हो गये। इसीलिये ये इन्द्रिय प्राण के नाम से ही पुकारे जाते हैं।

समस्त इन्द्रियों में प्राण के भिन्न भिन्न अंश कार्य करते हैं अतः आध्यात्मिक प्रकरण में इन्द्रियों को प्राण ही कहा जाता है।

शरीर के सभी अवयव थक कर सो जाते हैं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता होती है किन्तु प्राणाग्नियाँ सदैव जागती रहती हैं और शरीर की रक्षा का व्रत धारण करने वाले प्राण बिना सोये हुये, बिना विश्राम किये हुये, अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं।

वेद में इस तथ्य का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥

अथर्व ११।४।२५

(सुप्तेषु) सबके सो जाने पर भी यह प्राण (ऊर्ध्वः जागार) खड़ा रहकर जागता रहता है, (ननु तिर्यङ् निपद्यते) कभी तिरछा नहीं गिरता अर्थात् कभी लेट कर विश्राम नहीं करता। (सुप्तेषु अस्य

सुप्तम् कश्चन न अनुशुश्राव) सोते हुये लोगों में भी इसका सोना किसी ने नहीं सुना अर्थात् जब प्राणी प्रगाढ़ निद्रा में सो जाते हैं तब भी उनके प्राणों को सोते हुये किसी ने नहीं सुना।

इसी भाव को यजुर्वेद में निम्न प्रकार कहा गया है—

कण्व ऋषिः। अध्यात्मं प्राणा देवताः।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे

सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र

जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

यजु० ३४। ५५

(सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) शरीर में प्राण रूपी सप्त ऋषि स्थित हैं (दो आँख, दो कान, दो नाक तथा मुख में कार्य करने वाले प्राण के भागों को ही यहाँ सप्त ऋषि कहा गया है) (सप्त अप्रमादम् सदम् रक्षन्ति) ये सप्तर्षि प्रमाद रहित होकर अपने निवास स्थान अथवा शरीर की रक्षा करते हैं। (स्वपतः सप्त आपः) सोये हुये पुरुष के ये सात ऋषि अथवा उक्त सात इन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण (लोकं ईयुः) जीवात्मा को प्राप्त होते हैं अर्थात् जीवात्मा में स्थित हो जाते हैं, (इसीलिये सोते समय ये इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं) (तत्र अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः) उस समय अर्थात् सुषुप्तावस्था में कभी न सोने वाले तथा शरीर की सदा

रक्षा करने वाले उत्तम गुणों से युक्त दो देव प्राण तथा अपान जागृत रहते हैं।

यह स्पष्ट है कि यदि प्राण तथा अपान भी सो जायँ तो तत्क्षण ही जीवन का अन्त हो जाय। यह है प्राणों की जागरुकता तथा उनकी महत्ता। जिस प्रकार पुरुष शरीर प्राण पर आधारित है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत समष्टि प्राण पर आधारित है।

प्राण का इतना अधिक महत्व है कि स्वयं ब्रह्म को ही प्राण कहा गया है। वास्तव में प्राणों का भी प्राण होने के कारण ब्रह्म ही महा प्राण है. वही समस्त जगत का वास्तविक प्राण है, उसी के आधार से यह सब कुछ जीवित है। यह समस्त ब्रह्माण्ड उसी के वशीभूत है।

इसीलिये देवताओं की संख्या बताते हुये महर्षि याज्ञवल्क्य ने अन्त में बताया कि प्राण ही एकमात्र देव है, उसी को ब्रह्म कहते हैं।

कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते।

बृहदा० ३।९।९

शाकल्य–एक देव कौन है ?

याज्ञवल्क्य–(प्राण इति स ब्रह्म) प्राण। वह ब्रह्म है। उसी को त्यत् ऐसा कहते हैं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि यही देवों का एकत्व तथा नानात्व है। सहस्रों देवों का ३३ देवों में अन्तर्भाव है और फिर उनका भी उत्तरोत्तर देवों में, यहाँ तक कि अन्त में समस्त देवों का एकमात्र देव प्राण में ही अन्तर्भाव है। यह समष्टि प्राण, यह विश्व व्यापक जीवन शक्ति वास्तव में ब्रह्म ही है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—

प्राणो हि प्रजापतिः ।

शत० ४ । ५ । ५ । १३

इसी प्रकार कौषीतकि ऋषि का कथन है कि प्राण ब्रह्म है ।

प्राणो ब्रह्म इति ह स्माह कौषीतकिः ।

कौ० उ० २ । १

अर्थव वेद के प्रसिद्ध प्राण सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

ऋषिः भार्गवो वैदर्भिः । देवता प्राणः ।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अथर्व ११ । ४ । १

(यस्य वशे इदं सर्वं) जिसके वश में, जिसके नियन्त्रण में यह सब जगत है, (यः सर्वस्य ईश्वरः भूतः) जो सबका ईश्वर है तथा (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्) जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है, स्थित है, उस (प्राणाय नमः) प्राण के लिये नमस्कार है ।

प्रश्नोपनिषद् में पाँच मुख्य प्राणों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है ।

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम् । मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे ।

॥ प्रश्न० । तृतीय प्रश्न । ३ ॥

(आत्मनः एषः प्राणः जायते) आत्मा से यह प्राण उसी प्रकार उत्पन्न होता है, (यथा एषा छाया पुरुषे) जिस प्रकार पुरुष के शरीर

से छाया उत्पन्न होती है (एतत् एतस्मिन् आततम्) यह प्राण इस आत्मा के साथ संलग्न रहता है अथवा उस पर आश्रित रहता है (मनोकृतेन अस्मिन् शरीरे आयाति) तथा मन के द्वारा किये गये संकल्प से आत्मा के साथ शरीर में प्रवेश करता है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते, एतान्
ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष
प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥

॥ प्रश्न० । ३ । ४ ॥

यथा सम्राट् एव अधिकृतान् विनियुङ्क्ते) जिस प्रकार सम्राट अधिकारियों को नियुक्त करता है और आदेश देता है कि (एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति) इन इन ग्रामों के तुम अधिष्ठाता बनो, (एवं एव एषः प्राणः) उसी प्रकार यह मुख्य प्राण (इतरान् प्राणान् पृथक् पृथक् एव संनिधत्ते) दूसरे प्राणों को पृथक् पृथक् नियुक्त करता है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।

प्रश्न० ४ । ३

(एतस्मिन् पुरे) इस शरीर में (प्राणाग्नयः एव जाग्रति) प्राण रूपी अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। (एषः अपानः ह वै गार्हपत्यः) निश्चय ही यह अपान गार्हपत्य अग्नि है (व्यानः अन्वाहार्य पचनः) व्यान दक्षिणाग्नि,पचन अग्नि है, (यत् गार्हपत्यात् प्रणीयते) तथा जो गार्हपत्य अग्नि से ले जाया जाता है, (प्राणः प्रणयनात्) वह प्राण, प्रणयन के कारण, ले जाये जाने क कारण (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि है।

शतपथ ब्राह्मण में भी प्राण का वर्णन उपर्युक्त तीनों अग्नियों के रूप में किया गया है।

ते वा एते प्राणा एव यदग्नयः। प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्चव्यानोऽन्वाहार्यपचनः।

शतपथ २।२।२।१८

वे वास्तव में ये प्राण ही हैं, जो आहवनीय, गार्हपत्य तथा अन्वाहार्यपचन नामक अग्नियाँ हैं। इसीलिये यज्ञ में निम्नाङ्कित आहुतियाँ दी जाती हैं।

भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

प्राणो वाऽग्निः।

शतपथ २।२।२।१५

तदग्निर्वै प्राणः।

जै० उप० ब्राह्मण ४।२२।११

प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम्।

शतपथ १०।२।६।१८

प्राण ही अमृत है और अग्नि रूप है।

वास्तव में शरीर में निरन्तर चलता हुआ यह प्राण यज्ञ ही शरीर को जीवित तथा पवित्र रखता है।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।

प्रश्नो।३।५

वह प्राण (पायूपस्थे अपानम्) गुदा और उपस्थ में अपान को

नियुक्त करता है तथा (मुखनासिकाभ्याम् चक्षुः श्रोत्रे प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते) मुख और नासिका से विचरता हुआ सम्राट की भाँति प्राण चक्षु और श्रोत्र में स्वयं स्थित रहता है। (मध्ये तु समानः) शरीर के मध्य भाग में समान रहता है। (हि एषः हुतम् अन्नम् समं नयति) निश्चय ही यह समान प्राणाग्नि में हवन किये हुये अन्न को यथा योग्य समभाव से समस्त शरीर में पहुँचाता है। (तस्मात् एताः सप्तार्चिषः भवन्ति) उसी प्राणाग्नि से (दो आँख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख) यह सात ज्ञानेन्द्रिय रूपी सप्त ज्वालायें अथवा सप्त ज्योतियाँ प्रकाशित होती हैं।

इस प्रकार यहाँ भी प्राण को ज्वालायें अथवा अग्नियाँ कहा गया है।

उक्त विवरण के अनुसार शरीर में प्राण के प्रमुख पाँच अङ्गों की स्थिति निम्न प्रकार होती है।

मुख्य प्राण—यह मुख तथा नासिका से विचरता हुआ चक्षु एवं श्रोत्र, इन ज्ञानेन्द्रियों में स्थित रहता है।

अपान—यह गुदा तथा उपस्थ अर्थात् जननेन्द्रिय के पास स्थित रहता है और मल, मूत्र, रज, वीर्य आदि को शरीर से बाहर निकालता है। इस प्रकार इसका मुख्य कार्य शरीर को शुद्ध रखना तथा प्रजनन क्रिया में सहायता करना है।

समान—यह शरीर के मध्य भाग अर्थात् नाभि के पास स्थित रहता है और अन्न के रस को सम्पूर्ण शरीर में समान रूप से पहुँचाता है, जिससे समस्त अवयव समान रूप से पुष्ट रहते हैं तथा दो कान, दो नाक, दो नेत्र एवं रसना अथवा वाणी रूपी सात ज्वालायें, ज्योतियाँ अथवा सप्तर्षि शरीर एवं जीवन को प्रकाशित करते हैं, ज्ञान से दीप्त करते हैं और शरीरकी रक्षा करते हैं।

प्राण के शेष दो अङ्गों व्यान एवं उदान के विषय में बताते हुये आगे कहा गया है—

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति। प्रश्न० ३। ६

(एषः हि आत्मा हृदि) यह प्रसिद्ध आत्मा हृदय में रहता है। (अत्र नाडीनाम् एकशतम्) यहाँ हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। (तासाम्) उनमें से (एकैकस्याम्) एक एक नाड़ी में (शतम् शतम्) सौ सौ शाखा नाड़ियाँ हैं, फिर (द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रति शाखा नाड़ीसहस्राणि भवन्ति) प्रत्येक शाखा नाड़ी में बहत्तर, बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ होती हैं। (आसु व्यानः चरति) इन करोड़ों नाड़ियों में से होकर व्यान समस्त शरीर में संचरण करता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं
नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्

प्रश्न० उप० ३। ७

(अथ एकया ऊर्ध्वः उदानः) इनमें से एक, सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर चलने वाला उदान जीवात्मा को (पुण्येन पुण्यं लोकं नयति) पुण्य कर्मों के द्वारा पुण्य लोक को ले जाता है और (पापेन पापं) पाप कर्मों के द्वारा पाप लोक को ले जाता है। (उभाभ्याम् एव मनुष्यलोकम्) तथा पाप-पुण्य दोनों के मिश्रित कर्मों द्वारा मनुष्य लोक को प्राप्त कराता है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः।

॥ प्रश्नोपनिषद्। ३। ८॥

(आदित्य ह वै बाह्यः प्राणः) निश्चय ही आदित्य बाह्य प्राण है, (एनं चाक्षुषं प्राणं अनुगृह्णानः हि एषः उदयति) यह सूर्य, नेत्र स्थित प्राण की सहायता करने के लिए, उस पर अनुग्रह करता हुआ ही उदय होता है, (या देवता पृथिव्यां) जो देवता पृथिवी में है, (सा एषा पुरुषस्य अपानं अवष्टभ्य) वह इस पुरुष के अपान को आकर्षित करके रखता है (यह पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण की ओर संकेत है) (यदाकाशः स समानः) द्युलोक तथा पृथिवी लोक के बीच में जो आकाश है, उसमें स्थित वायु को समान कहते हैं (यहाँ आकाश में स्थित वायु को उसी प्रकार आकाश कहा गया है जिस प्रकार मन्च पर स्थित व्यक्ति को मन्च कह दिया जाता है), शेष वायु व्यान है।

ब्रह्माण्ड के समान ही शरीर में प्राण और अपान के बीच में स्थित वायु को समान कहते हैं, शेष वायु को व्यान कहते हैं।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमान-महरहः ब्रह्म गमयति। प्रश्न ४। ४

(यत् एतौ उच्छ्वास निःश्वासौ) जो इन उच्छ्वास निःश्वास रूपी (आहुती समं नयति इति) आहुतियों को समता अथवा साम्यावस्था की ओर ले जाता है, (स ह समानः) वह निश्चय ही समान है। (मनः वाव यजमानः) मन ही यजमान है (उदानः एव इष्ट-फलम्) उदान ही इस प्राणयज्ञ का इष्ट फल है (एनं यजमानं अहः अहः ब्रह्म गमयति) यह उदान इस यजमान को प्रतिदिन ब्रह्म के पास ले जाता है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।

प्रश्न। ३। ९

(तेजः ह वै उदानः) जो तेज है निश्चय ही वह उदान है, (तस्माद् उपशान्त तेजाः) इसलिए जिसका तेज शान्त हो जाता है, शरीर ठंडा हो जाता है, अर्थात् जिसकी मृत्यु हो जाती है, वह (मनसि सम्पद्यमानैः इन्द्रियैः पुनर्भवम्) मन में लीन हुई इन्द्रियों के समेत पुनर्जन्म को प्राप्त करता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा
युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।

प्रश्नो०। ३। १०

(यच्चित्तः) चित्त में जो वासना होती है (तेन) उसके साथ (एषः) यह जीवात्मा (प्राणम् आयाति) मुख्य प्राण को प्राप्त होता है। (प्राणः तेजसा युक्तः) मुख्य प्राण, तेज अथवा उदान के साथ संयुक्त होकर (आत्मना सह) अपने साथ मन तथा इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा को (यथा संकल्पितम्) अर्थात् (पुण्यपापकर्मवशाद् यथा अभिप्रेतम्-स्वामी शङ्कराचार्यः) पुण्य कर्मों अथवा पाप कर्मों के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था के अन्तर्गत (लोकम्) लोकों में अथवा योनियों में (नयति) ले जाता है।

इस प्रकार जीवन में प्राण का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राण की इतनी महिमा है कि जब शाक्ल्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य से देवों की संख्या पूछी तो पहले उन्होंने बताया ३३०६। शाकल्य के दुबारा पूछने पर उन्होंने कहा–३३ और इसके बाद पुनः पूछने पर कहा–६। शाक्ल्य के चौथी बार पूछने पर बताया–३, पाँचवी बार पूछने पर कहा–२, छठी बार पूछने पर कहा डेढ़ तथा सातवीं बार पूछने पर कहा–१।

इस प्रकार देवों के महत्व को दृष्टि में रखते हुये संख्या में उत्तरोत्तर कमी होती गयी और अन्त में सबसे महत्वपूर्ण देव केवल एक ही बच गया।

शाकल्य—एक देव कौन है ?

याज्ञवल्क्य—प्राण। वह ब्रह्म है, उसी को त्यत् ऐसा कहते हैं।

इसीलिये 'प्रजापतिश्चरित गर्भे' इस मन्त्र में प्रजापति का अर्थ प्राण भी किया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है।

प्राणो उ वै प्रजापतिः

शतपथ ८।४।१।४

प्राणः प्रजापतिः

शतपथ ६।३।१।९

प्राण ही अमृत है और प्राण ही अर्क है, पूजनीय है।

प्राणो वा अर्कः

(शतपथ १०।४।१।२३)

जड़ शरीर को प्राण ही जीवित बनाता है। जब तक प्राण शरीर में रहता है, तब तक ही शरीर पूजनीय होता है, सुन्दर रहता है। प्राण के निकल जाने के बाद यह शरीर दुर्गन्ध युक्त हो जाता है, सड़ने लगता है।

प्राणाऽएवामृता आसुः शरीरं मर्त्यम्।

शतपथ १०।१।४।१

मर्त्य शरीर में प्राण ही अमृत है।

प्राण तथा अपान को ही अश्विनौ अथवा देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार कहा जाता है क्योंकि प्राण की साधना से ही, प्राणों के पुष्ट होने से शरीर नीरोग रहता है। प्राण ही शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में जाकर समस्त अवयवों को पुष्ट करता है और इस प्रकार प्राण ही

वास्तव में अङ्गों का रस है, आङ्गिरस है जिसके न रहने से अङ्ग निर्जीव हो जाते हैं और जिसके अपुष्ट होने से समस्त अवयव शिथिल तथा निर्बल हो जाते हैं।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाᳬ हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानाᳬ रसस्तस्माद्यस्मात्क-स्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाᳬ रसः।

बृहदा. १। ३। १९

वह प्राण (अयास्य) मुख में रहने वाला आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का रस (सार) है। प्राण ही अङ्गों का रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गों का रस है; क्योंकि जिस किसी अङ्ग से प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है, अतः यही अङ्गों का रस है।

इसीलिये प्राणायाम द्वारा प्राणों को पुष्ट करने का विधान किया गया है। गीता में कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

गीता ४। २९

कुछ योगी अपान में प्राण की आहुति देते हैं तथा कुछ अन्य प्राण में अपान की आहुति देते हैं और इस प्रकार प्राण तथा अपान की गति को रोककर प्राणायम करने वाले होते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ क्षपितकल्मषाः॥

गीता० ४। ३०

अन्य नियमित आहार करने वाले प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं और इस प्रकार यज्ञ द्वारा नाश हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे सभी पुरुष यज्ञविद् होते हैं।

वास्तव में पुरुष का जीवन ही एक यज्ञ है।

पुरुषो वै यज्ञः

गोपथ पू. । ४ । २४
शतपथ १ । ३ । २ । १
कौ. ब्राह्मण १७ । ७

अस्तु हमें ऐसा प्रयास करना चाहिये कि जिस प्रकार शरीर के अन्दर निरन्तर प्राण यज्ञ चलता रहता है उसी प्रकार हम अपने बाह्य जीवन में भी यज्ञ, दान, परोपकार, उपासना आदि श्रेष्ठ कर्म करके अपना जीवन यज्ञमय बनायें।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

।। यजु० ४० । ५ ।।

(तत् एजति) वह चलता है, (तत् न एजति) वह नहीं चलता है। (तत् दूरे तत् उ अन्तिके) वह दूर है और वह समीप है, (तत् अस्य सर्वस्य अन्तः) वह इस सब के अन्दर है, (तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः) और वह इस सबके बाहर भी है।

ब्रह्म की परस्पर विरोधी शक्तियों तथा गुणों का यह कैसा सुन्दर एवं आलंकारिक वर्णन है।

ब्रह्म सर्वव्यापक है, अस्तु वह हर वस्तु के अन्दर भी है और बाहर भी। उसके लिए स्थान और काल का बन्धन नहीं है, अस्तु वह चलायमान भी है और नहीं भी है, वह पास भी है और दूर भी है। वस्तुतः समय और स्थान एक देशीय जीव के लिए ही महत्व रखते हैं, सब काल में सर्वत्र सर्वव्यापक के लिए नहीं। ब्रह्म, जो सर्वव्यापी है और जिसके अन्दर ही काल और स्थान हैं, के लिये गतिशील होना या स्थिर होना अथवा पास होना या दूर होना कोई अर्थ नहीं रखता। इसीलिये वेद में इन परस्पर विरोधी भावों को दिखाकर ब्रह्म के स्वरूप का सच्चा निरूपण किया गया है जिससे किसी को इस विषय में कोई भ्रम न रहे।

परमात्मा के ध्रुव एवं अविचल स्वरूप का वर्णन चतुर्थ मन्त्र में 'अनेजदेकं' लिखकर पहले ही किया जा चुका है। इस मन्त्र में

"तदेजति तन्नैजति" लिखने का तात्पर्य यह बताना है कि सर्व शक्तिमान होने के कारण ईश्वर में समस्त परस्पर विरोधी शक्तियाँ भी निहित हैं और सर्वव्यापक होने के कारण वह हर समय हर स्थान पर पहुँचा हुआ रहता है, जिसके कारण आलंकारिक रूप में कहा जा सकता है कि वह चलता भी है।

इस भाव का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में निम्न प्रकार किया गया है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
॥ गीता । १३ । १५ ॥

परमात्मा समस्त प्राणियों के भीतर और बाहर स्थित है। वह चर भी है और अचर भी। अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है; वह दूर से दूर तथा पास से पास स्थान पर भी विद्यमान है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने भी 'एजति' का अर्थ 'चलति' अथवा चलता है, किया है किन्तु श्री पं० दामोदर सातवलेकर ने 'एजति' को 'एजयति' मानकर अर्थ किया है कि परमात्मा सबको चलाता है किन्तु स्वयं नहीं चलता, जबकि महात्मा नारायण स्वामी ने 'एजति' शब्द का ही अर्थ गति देता है, लिखा है।

स्वामी दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद भाष्य में लिखा है कि (तत् एजति) वह ब्रह्म मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता है, यद्यपि (तत् न एजति) अपने वास्तविक रूप में वह चलायमान नहीं है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस भाव को आलंकारिक ढंग से निम्न प्रकार कहा गया है:–

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।
श्वेताश्वतर । ३ । १९ ।।

(अपाणिपादः जवनः ग्रहीता) वह परमात्मा बिना पैरों के वेग से चलने वाला है, बिना हाथों के समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला है, (अचक्षुः पश्यति) बिना नेत्रों के देखने वाला है, (सः अकर्णः श्रृणोति) वह बिना कानों के सुनने वाला है, (सः वेद्यं वेत्ति) वह जानने योग्य सब कुछ जानता है, किन्तु (न च तस्य वेत्ता अस्ति) उसको जानने वाला कोई नहीं है, (तम् महान्तम् अग्र्यम् पुरुषं आहुः) उसी को महान् तथा सर्वश्रेष्ठ परम पुरुष कहते हैं। अथवा (अग्र्यम्) वही सबसे पहले था, उससे पूर्व कुछ नहीं था।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
नान्यत् किञ्चन मिषत् ।।
।। ऐतरेय । १ । १ । १ ।।

प्रारम्भ में निश्चय ही यह एक आत्मा (परमात्मा) ही था। आँख झपकाने वाला उसके सिवा अन्य कोई भी नहीं था।

रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है:-

बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु कर्म करइ विधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी ।
बिनु वानी वक्ता बड़ जोगी ।।

भगवान् सर्वशक्तिमान् होने के कारण बिना पग के चलता है,

बिना कान के सुनता है, और बिना हाथ के विविध प्रकार के कर्म करता है, बिना मुख के समस्त रसों का सेवन करने वाला है तथा बिना जिह्वा के बहुत बड़ा योग्य वक्ता है ।

स्वयं ध्रुव होते हुये भी ईश्वर समस्त विश्व को गति देता है । उसी के द्वारा प्रदत्त गति से ब्रह्माण्ड में अनन्त शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं और यह संसार चक्र सदैव चलता रहता है । गीता में कहा है--

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

।। गीता । १८ । ६१ ।।

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों को यन्त्र पर चढ़ाये हुये के समान अपनी माया से घुमाता हुआ, ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्हार अपने चाक पर मिट्टी को घुमाता है, उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया से समस्त प्राणियों को संसार चक्र में ऐसे घुमाता है जैसे कि वे किसी घूमने वाले यन्त्र पर चढ़ाकर घुमाये जा रहे हों ।

कठोपनिषद् में कहा गया है :--

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

।। कठ. । २ । ३ । २ ।।

जो कुछ भी यह जगत् है, वह सब (प्राणे) परमात्मा में ही गतिमान है अर्थात् उसी के द्वारा प्रदत्त शक्ति एवं गति से गतिशील है और उसी ब्रह्म से (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है । वह ब्रह्म (उद्यतम् वज्रम् इव) हाथ में वज्र उठाये हुये के समान महान् भय देने वाला है । उसी के भय से संसार का समस्त व्यापार, उसी के द्वारा निश्चित

नियमों के अनुसार सतत् चलता रहता है। (ये एतत् विदुः) जो यह अथवा इस रहस्य को जानते हैं अर्थात् जिन्हें ब्रह्म की, इस सबको नियंत्रित करने वाली शक्ति का ज्ञान हो जाता है (ते अमृताः भवन्ति) वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

तद्दूरे तद्वन्तिके

कठोपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वर सदैव आत्मा के समीप स्थित रहता है।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥

कठ०।२।१।५॥

(यः इमं मध्वदं जीवं अन्तिकात्) जो इस कर्मफल भोक्ता जीव के समीपवर्ती (भूतभव्यस्य ईशानं आत्मानं वेद) भूत भविष्य के स्वामी परमात्मा को जानता है, (ततः न विजुगुप्सते) वह उस ज्ञान के कारण किसी से घृणा नहीं करता, किसी से भयभीत नहीं होता (एतत् वै तत्) यह (भूत भविष्य का स्वामी) ही ब्रह्म है।

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'

इस सम्बन्ध में महाभारत का निम्नांकित श्लोक दृष्टव्य है।

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

महाभारत शान्ति. ४७।५४

समस्त जगत जिसमें स्थित है, जिससे सबकी उत्पत्ति होती है, जो सब कुछ है, जो समस्त स्थानों में सब ओर स्थित है, जो सर्वमय, विश्वरूप, नित्य तथा समस्त प्राणियों का आत्मा स्वरूप है, ऐसे परम पुरुष को नमस्कार है।"

भगवान् के समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में अन्तर्यामी रूप से स्थित होने का वर्णन गीता तथा उपनिषदों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से स्थान-स्थान पर किया गया है :—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

॥ गीता । १३ । १७ ॥

वह ज्योतियों का भी ज्योति तथा अज्ञान एवं अन्धकार से परे कहा जाता है । ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य तथा तत्व ज्ञान से प्राप्त होने वाला वह परमात्मा सबके हृदय में स्थित है ।

अणोरणीयान्महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

॥ कठ । १ । २ । २० ॥ — ॥ श्वेत । ३ । २०

(आत्मा) परमात्मा (अणोः अणीयान्) अणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और (महतः महीयान्) बड़े से भी बड़ा है, वह (अस्य जन्तोः गुहायाम् निहितः) इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है; (तम् आत्मनः महिमानम्) उस परमात्मा की महिमा को (धातुः प्रसादात्) बुद्धि के निर्मल होने से (वीतशोकः अक्रतुः पश्यति) शोक रहित तथा अक्रतु अर्थात् ज्ञान से दग्ध हो गये हैं कर्म तथा कामनाएं जिसकी, ऐसा आप्तकाम ज्ञानी पुरुष ही देखता है ।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥

॥ कठ । २ । १ । १२ ॥

(भूतभव्यस्य ईशानः) भूत, भविष्य तथा वर्तमान सबका स्वामी, (अंगुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला अथवा नाभि से आठ अंगुल ऊपर स्थित हृदय में रहने वाला, परम पुरुष (मध्य आत्मनि तिष्ठति) जीवात्मा के मध्य में रहता है, (ततः न विजुगुप्सते) उसका ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी पुरुष किसी से घृणा नहीं करता, उसे कोई ग्लानि, शोक अथवा मोह नहीं होता। (एतद् वै तत्) यही वह ब्रह्म है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

॥ श्वेता । ३ । ११ ॥

(सर्वाननशिरोग्रीवः) सब ओर उसके मुख हैं, सब ओर शिर हैं, और सब ओर ग्रीवा हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ है। इसका अर्थ यह भी है कि संसार के समस्त प्राणियों के जो मुख, शिर और ग्रीवा हैं, वे सब भगवान् के ही हैं। (सर्वभूत गुहाशयः) वह समस्त प्राणियों के हृदयाकाश में स्थित है, (स भगवान् सर्वव्यापी) अनन्त गुण, शोभा एवं ऐश्वर्य से विभूषित वह भगवान् सर्वव्यापी है, (तस्मात् सर्वगतः शिवः) और इस प्रकार वह सुख-स्वरूप एवं कल्याणकारी प्रभु पहले ही से सर्वत्र गया हुआ है, पहुँचा हुआ है, विराजमान है। (पूर्वमर्षत्—मन्त्र–४)

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥
हृदा मनीशो मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

॥ श्वेता० । ३ । १३ ॥

(अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः) अंगुष्ठमात्र आकार के हृदयाकाश में रहने वाला तथा सभी प्राणियों

का अन्तरात्मा, सदैव उनके हृदय में स्थित रहता है। वह परम पुरुष निर्मल हृदय, शुद्ध अन्तःकरण तथा पवित्र, संयमित एवं युक्तमन से जानने योग्य है। जो उस परमात्मा को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

॥ श्वेता। ६। ११

(एकः देवः सर्वभूतेषु गूढः) परमात्मा केवल एक है और वह समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में सूक्ष्म रूप से स्थित है। गूढ़ का तात्पर्य है कि वह सब भूतों में स्थित होते हुये भी देखा नहीं जा सकता। वह (सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा) सर्वव्यापी और सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है, (कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः) समस्त प्राणियों के कर्मों का फल देने वाला है और समस्त प्राणियों का आधार है, समस्त प्राणी उसी में निवास करते हैं, जिसके कारण उसे जगन्निवास कहा जाता है। (साक्षी चेता केवलो निर्गुणः च) वह सभी प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को तथा समस्त संसार के सम्पूर्ण व्यापार को देखने वाला है तथा स्वयं चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप होते हुये वह समस्त प्राणियों को चेतना, प्रेरणा एवं ज्ञान प्रदान करने वाला है और सत्व रज तथा तम इन तीनों गुणों से ऊपर है।

इसी भाव को निम्नाङ्कित श्लोक में अत्यन्त सरल शब्दों में कहा गया है।

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठे वह्निः पयोघृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः॥

॥ चाणक्य। ७। २१॥

जैसे पुष्प में गन्ध, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, दूध में घी और

ईख में गुड़ रहता है, इसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को ज्ञानपूर्वक देखना चाहिये।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
॥ कठ। १। २। १२॥

(धीरः) विद्वान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) अध्यात्म योग की प्राप्ति से (तं दुर्दर्शम्) अत्यन्त कठिनाई से जिसका दर्शन होता है, ऐसे उस (गूढम् अनुप्रविष्टम्) हृदय रूपी गुहा में स्थित तथा (गह्वरेष्ठम्) (गह्वरे विषमेऽनेकानर्थ संकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्) अर्थात् अनेक विषम संकटों से संकुलित दुर्गम स्थान में रहने वाले (तम् पुराणम् देवम्) उस पुरातन देव को (मत्वा) जानकर (हर्ष-शोकौ जहाति) हर्ष तथा शोक का परित्याग कर देता है। गूढं अनु-प्रविष्टम् का अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य जी ने 'गूढम्'=गहनम्, 'अनु-प्रविष्टम्'='प्राकृत-विषय विकारविज्ञानैः प्रच्छन्नं' किया है।

इस श्लोक में भगवान् को 'गह्वरेष्ठम्' कहने का तात्पर्य यह है कि उसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है और उसको प्राप्त करने का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है, जैसा कि कठोपनिषद् में ही कहा गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
॥ कठ। १। ३। १४॥

(उत्तिष्ठत जाग्रत) उठो, जागो (प्राप्य वरान्) प्राप्य उपगम्य वरान् प्रकृष्टान् आचार्यान्, श्रेष्ठ आचार्यों को प्राप्त करके, उनकी शरण में जाकर (निबोधत) ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करो। (तत् पथः) परमात्मा को प्राप्त करने के उस पथ को (कवयः) सूक्ष्मदर्शी विद्वान्

(क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा दुर्गं वदन्ति) छुरे की अत्यन्त तीक्ष्ण धार के समान अत्यन्त कठिन, दुस्तर, दुर्गम, विषम तथा संकट ग्रस्त कहते हैं।

'गूढम्' का सही अर्थ कठोपनिषद् के निम्न श्लोक से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

कठ १ । ३ । १२

(सर्वेषु भूतेषु) समस्त भूतों में गूढ रूप से स्थित (एषः आत्मा) यह परमात्मा प्रकाशित नहीं होता, दिखाई नहीं पड़ता। (तु सूक्ष्मदर्शिभिः अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्धया दृश्यते) बल्कि सूक्ष्म दर्शियों द्वारा तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है।

परमात्मा के अन्तर्यामी होने का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है।

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।

॥ बृहदा. । २ । ५ । १० ॥

(अयम् अकाशः सर्वेषाम् भूतानाम् मधु) यह आकाश समस्त प्राणियों का मधु है और (सर्वाणि भूतानि अस्य आकाशस्य मधु) समस्त प्राणी इस आकाश के मधु हैं। (च अस्मिन् आकाशे) और इस आकाश में (यः अयम् तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च अध्यात्मम्) और शरीर में (यः अयम्

हृद्याकाश: तेजोमय: अमृतमय: पुरुष:) जो यह हृदयाकाश में व्याप्त तेजोमय अमृतमय पुरुष है, (स: अयम् एव य: अयम् आत्मा) वह यही है जो यह सर्वव्यापी परमात्मा है। (इदम् अमृतम् इदम् ब्रह्म इदम् सर्वम्) यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।

बृहदा. । २ । ५ । १४

(अयम् आत्मा सर्वेषाम् भूतानाम् मधु) यह आत्मा समस्त प्राणियों का मधु है और (सर्वाणि भूतानि अस्य आत्मनः मधु) समस्त प्राणी इस आत्मा के मधु हैं। (च अस्मिन् आत्मानि) और इस आत्मा में (य: अयम् तेजोमय: अमृतमय: पुरुष:) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अयम् आत्मा तेजोमय: अमृतमय: पुरुष:) यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, (स: अयम् एव य: अयम् आत्मा) यह वही है जो यह परमात्मा है (इदम् अमृतम् इदम् ब्रह्म इदम् सर्वम्) यही अमृत है, यही ब्रह्म है यही सब कुछ है।

इस उपनिषद् वाक्य में न केवल यह कहा गया है कि परमात्मा आत्मा के अन्दर व्याप्त है बल्कि यह भी कहा गया है कि स्वरूप से आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, अर्थात् आत्मा, परमात्मा का ही अंश है।

कुछ विद्वानों ने वाक्य के प्रारम्भ में प्रयोग किये गये आत्मा शब्द से शरीर का अर्थ लिया है। ऐसा करने से इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ निम्न प्रकार होगा :—

यह शरीर सब प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी इस शरीर

के मधु हैं और इस शरीर में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह वही है जो यह आत्मा (परमात्मा) है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है यही सब कुछ है।

ब्रह्म के सर्वव्यापक होने तथा मनुष्य के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित होने का जो अत्यन्त मनोहारी एवं महत्वपूर्ण वर्णन अथर्व वेद के केनसूक्त में किया गया है; उसे प्रत्येक विद्वान् को जानना आवश्यक है।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः

सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

अथर्व । १० । २ । २८ (केनसूक्त)

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥

अथर्व । १० । २ । २९ (केनसूक्त)

(नु पुरुषः ऊर्ध्वः सृष्टाः) निश्चय ही पुरुष ऊपर फैला हुआ है, (तिर्यक् नु सृष्टाः) निश्चय ही तिरछा फैला हुआ है, (पुरुषः सर्वाः दिशः आवभूव) पुरुष सब दिशाओं में है। (यः बै ब्रह्मणः तां अमृतेन आवृतां पुरं वेद) जो निश्चय से ब्रह्म की उस अमृत से आवृत तथा परिपूर्ण नगरी को जानता है, (यस्याः पुरुष उच्यते) जिसके कारण उसे

अर्थात् ब्रह्म को (पुरिशय: इति पुरुष: पुरि में शयन करने वाला) पुरुष कहा जाता है, (तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मा: च चक्षु: प्राणं प्रजां ददु:) उसको ब्रह्म तथा ब्रह्मा आदि इतर देव चक्षु अर्थात् समस्त इन्द्रियाँ, प्राण और उत्तम सन्तान देते हैं।

यह ब्रह्म ज्ञान की महिमा तथा उसका फल है।

वेद के इस कथन से, कि ब्रह्मज्ञानी को श्रेष्ठ सन्तान प्राप्त होती है, यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मज्ञान युवावस्था में ही अर्जित कर लिया जाना चाहिये, उसके लिये वृद्धावस्था की प्रतीक्षा नहीं करना चाहिये। इससे कुछ भ्रान्त लोगों का यह मत कि ब्रह्मज्ञान वृद्धावस्था की ही वस्तु है, युवावस्था की नहीं, गलत सिद्ध हो जाता है।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

॥ अथर्व। १०। २। ३०॥ (केनसूक्त)

(वै तं जरस: पुरा न चक्षु: जहाति न प्राण:) निश्चय ही उसको वृद्धावस्था से पूर्व न तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ छोड़ती हैं और न प्राण, (य: ब्रह्मण: पुरं वेद) जो ब्रह्म की उस पुरी को जानता है (यस्या: पुरुष उच्यते) जिसके कारण उसे अर्थात् ब्रह्म को पुरुष कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा ज्ञानी पुरुष वृद्धावस्था तक पूर्ण आयु का स्वस्थ होकर उपभोग करता है और उसकी समस्त इन्द्रियाँ तथा प्राण बराबर पूर्णरुपेण बलवान रहकर अपना कार्य करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष की अकाल मृत्यु नहीं होती।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ।

अथर्व। १०। २। ३१। (केनसूक्त)

(अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या) आठ चक्र और नव द्वारों वाली देवों की पवित्र अयोध्या नगरी रूपी जो मानव शरीर है (तस्यां हिरण्ययः कोशः ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः) उसमें स्वर्ण के समान देदीप्यमान कोश है जो परम तेज से आवृत स्वर्ग है।

मनुष्य शरीर, जिसे वेद में देवों की पुरी अयोध्या कहा गया है, में आठ चक्र हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है:—

क्रम सं०	नाम	स्थान
१-	मूलाधार चक्र	गुदा के पास जहाँ पृष्ठवंश (रीढ़ की हड्डी) समाप्त होती है।
२-	स्वाधिष्ठान चक्र	गुदा तथा नाभि के बीच में
३-	मणिपूरक चक्र	नाभि स्थान में
४-	अनाहत चक्र	हृदय स्थान में
५-	विशुद्धि चक्र	कण्ठ स्थान में
६-	ललना चक्र	जिह्वा मूल में
७-	आज्ञा चक्र	दोनों भौहों के बीच में
८-	सहस्रार चक्र	मस्तिष्क में

योग में इन चक्रों का, जो शरीर के शक्ति केन्द्र हैं, अत्यन्त महत्व है। कुछ विद्वानों ने ललना चक्र के स्थान पर सूर्य चक्र का उल्लेख किया है, जो नाभि से कुछ ऊपर होता है।

शरीर के नव द्वार निम्न हैं---

दो आँख, दो कान, दो नाक, मुख, गुदा और शिश्न।

देवों की इस शरीर रूपी अयोध्या पुरी को हमें तिरस्कृत न करके इसे सुन्दर, स्वस्थ एवं पवित्र बनाने का प्रयास करना चाहिये। निरर्थक उपवास करके अथवा अन्य किसी प्रकार से इसे कष्ट देकर सुखाना नहीं चाहिये। जिसे हम लोग आजकल व्रत अथवा तप समझते हैं, वह वास्तव में न तो व्रत है, न तप और न उसका कोई धार्मिक अथवा आध्यात्मिक महत्व ही है। पूर्वोक्त यम एवं नियमों के पालन करने की प्रतिज्ञा करना ही सच्चा व्रत है और इनका वास्तविक पालन करना तप है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथर्व। १०। २। ३२।॥ (केनसूक्त)

(तस्मिन् हिरण्यये कोशे) उस तेजस्वी प्रकाशमय कोश में, (त्रिअरे त्रिप्रतिष्ठिते यत् आतमन्वत् यक्षं) सत्व रज तथा तम रूपी तीन अरों से युक्त तथा प्राण अपान व्यान रूपी तीन सतत् जागरुक रक्षकों अथवा अग्नियों से सेवित जो आत्मवान् यक्ष है (तद् वै ब्रह्मविदः विदुः) उसे निश्चय ही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

अथर्व। १०। २। ३३। (केनसूक्त)

(प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्) अत्यन्त तेजस्वी, दुःखों का हरण करने वाली, यश से परिपूर्ण (अपराजिताम् हिरण्ययीं पुरं ब्रह्म आ विवेश) उस अपराजित एवं अपराजेय तथा प्रकाश से देदीप्यमान पुरी में ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है।

यह उस हृदय रूपी ब्रह्मपुरी का वर्णन है जिसमें ब्रह्म का निवास है। पुरुष शरीर रूपी अयोध्या नगरी में स्थित हृदयरूपी यह ब्रह्मपुरी १- तेजोमयी है, २- दुःखों का हरण करने वाली है, ३- यश से परिपूर्ण है, ४- हिरण्ययी अर्थात् प्रकाश से देदीप्यमान है, और ५- सदैव अपराजिता है। यह है श्रेष्ठ मनुष्य के पवित्र, तेजस्वी हृदय एवं अन्तःकरण का वर्णन, जिसमें आत्मा तथा परमात्मा का निवास होता है।

यही भाव मुण्डकोपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योस्तिद्यदात्मविदो विदुः॥

॥ मुण्डक। २। २। ९॥

प्रकाशमय स्वर्णिम परम कोश में निर्मल, कला रहित (शुभ्र) पवित्र, ज्योतियों की भी ज्योति स्वरूप वह ब्रह्म स्थित है, जिसे आत्मज्ञानी जानते हैं।

हमें सदैव इसका ध्यान रखना चाहिए कि यह स्वर्णिम देदीप्यमान स्वर्ग जिसमें ब्रह्म स्वयं निवास करता है, हमारे हृदय में ही है और यह हर दशा में, हर स्थान में तथा हर काल में अपराजित और यश से संपरीवृत रहता है।

इन्हीं मन्त्रों के क्रम में अथर्ववेद का एक और महत्वपूर्ण मन्त्र द्रष्टव्य है :—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।

तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

॥ अथर्व । १० । ८ । ४३ ॥

(पुण्डरीकं नवद्वारं) नौ द्वारों वाले शरीर में स्थित हृदय कमल (त्रिभि: गुणेभि: आवृतम्) सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से आवृत है। (तस्मिन् यत् आत्मन्वत् यक्षम्) उस हृदय कमल में जो आत्म स्वरूप पूजनीय देव है, (तद् वै ब्रह्मविद: विदु:) उसे निश्चय ही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

हृदय की गुहा अथवा हृदयाकाश में स्थित ईश्वर को ब्रह्मज्ञानी भली प्रकार देखता है, इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन अथर्व वेद एवं यजुर्वेद में किया गया है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा

सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।

तस्मिन्निद७ं सं च वि चैति

सर्व७ंसऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

॥ यजु । ३२ । ८ ॥

(वेनः) ज्ञानी भक्त उस (सत्) परमात्मा को देखता है, जो हृदय की गुहा में स्थित रहता है और (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जहाँ यह सम्पूर्ण विश्व एक घोंसले के समान हो जाता है। (तस्मिन् इदं सं एति) उसमें, उस परमात्मा में (प्रलयावस्था में) यह विश्व मिल जाता है, लीन हो जाता है (च वि एति) और सृष्टि के उत्पन्न होने के समय उससे अलग हो जाता है। (स विभूः) वह सर्वज्ञ, व्यापक, वैभवशाली परमात्मा (प्रजासु ओतः प्रोतः च) प्रजाओं में ताने बाने की भाँति ओत प्रोत है।

एक घोंसले में एक प्रकार के ही पक्षी रहते हैं, अतः विश्व के एक घोंसले के समान हो जाने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा के समक्ष प्राणियों में कोई भेद नहीं होता, सभी प्राणी उसके पुत्र होने के कारण उसे उसी प्रकार प्रिय हैं जिस प्रकार पिता को अपने सभी पुत्र प्रिय होते हैं। भगवान् के यहाँ भिन्न-भिन्न रूपों वाला यह विश्व एक रूप हो जाता है। जिस प्रकार चार सगे भाइयों के बच्चे प्रत्येक भाई की दृष्टि में भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि कुछ उसके पुत्र हैं और शेष भतीजे अर्थात् उसके सगे भाई के पुत्र हैं किन्तु इन चारों भाइयों के पिता की दृष्टि में, उसके स्तर पर बच्चों में कोई भिन्नता नहीं है क्योंकि सभी उसके पौत्र हैं। इसी प्रकार परमात्मा के यहाँ समस्त प्राणी एक रूप हो जाते हैं, उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती क्योंकि सभी उस परम पिता के पुत्र हैं।

यही मन्त्र कुछ पाठ भेद के साथ अथर्व वेद में भी आया है, जिसमें उक्त भाव पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है।

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।

इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥

॥ अथर्व । २ । १ । १ ॥

(वेन: तत् परमं पश्यत्) ज्ञानी भक्त उस परमात्मा को देखता है (यत् गुहा) जो हृदय की गुहा में स्थित रहता है, (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जहाँ, जिसके समक्ष सम्पूर्ण विश्व एक रूप हो जाता है। (इदं प्रश्नि: जायमाना: अदुहत्) प्रकृति ने इसका दोहन करके अर्थात् इसकी अनन्य शक्तियों का उपयोग करके, इस जीवन धारण करने वाले, उत्पन्न होने वाले विविध जगत् का निर्माण किया है (स्वर्विद: व्रा: अभ्यनूषत्) प्रकाश को जानने वाले अथवा आत्मज्ञानी तथा व्रतों का, नियमों का पालन करने वाले विद्वान इसकी उपासना करते हैं।

वेन: का तात्पर्य ऐसे विद्वान् पुरुष से है, जो ज्ञानी होने के साथ साथ ईश्वर का अनन्य भक्त एवं उपासक भी हो क्योंकि भक्ति के बिना भगवान् का साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है।

परमात्मा के सर्वव्यापकत्व का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत।

॥ तैत्तिरीय। २। ६।

उसने कामना की, कि मैं बहुत रूपों वाला हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ। (इसके लिये) उसने तप किया।

स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च॥

॥ तैत्तिरीय। २। ६।

(स: तप: तप्त्वा) उसने तप करके, इदं सर्वं असृजत यदिदं किं च) इस सबको सृजित किया जो कुछ भी यह है।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चा-

भवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ।

॥ तैत्तिरीय । २ । ६ ।

(तत् सृष्ट्वा) उसको उत्पन्न करके वह उसी में सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो गया । प्रविष्ट होकर वह ब्रह्म (सत् च त्यत् च अभवत्) सत् और त्यत् अर्थात् मूर्त और अमूर्त हो गया, (निरुक्तं च अनिरुक्तं च) निर्वचनीय और अनिर्बचनीय, (निलयनं च अनिलयनं च) साधार और निराधार अर्थात् जिसका कोई आधार नहीं है (विज्ञानं च अविज्ञानं च) विज्ञान और अविज्ञान (सत्यं च अनृतं च) सत्य और असत्य हो गया । (सत्यम् अभवत्) यह सत्य ब्रह्म ही सबके रूप में प्रकट हुआ (यत् इदं किं च तत् सत्यं इति आचक्षते) अतः जो कुछ भी है उसे सत्य ही कहते हैं । तात्पर्य यह है कि यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म से प्रगट होने के कारण सत्य ही है, मिथ्या नहीं है ।

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानम् स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥

तैत्ति. २ । ७ । १

(अग्रे इदम् असत् वै आसीत्) सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले यह समस्त जगत् (असत्) अव्यक्त रूप अथवा अव्याकृत ब्रह्म रूप ही था । (ततः वै सत् अजायत) उसी से नाम रूपातमक व्यक्त जगत की उत्पत्ति हुई । (तत् आत्मानम् स्वयं अकुरुत) उसने, उस ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही इस रूप में वना दिया । (तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते) इसलिये अर्थात् ब्रह्म द्वारा स्वयं अपने आप को ही इस रूप में प्रकट कर देने के कारण, बना देने के कारण, वह (सुकृतं) अर्थात उत्तम बना हुआ कहा जाता है ।

ब्रह्म द्वारा स्व + कृत होने के कारण यह जगत् सु + कृत है, इसमें

कोई दोष नहीं है।

पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह विश्व भी पूर्ण है, इसमें कोई कमी अथवा न्यूनता नहीं है।

यहाँ सत् असत् शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु यहाँ इनका अर्थ 'सत् असत्' के प्रसिद्ध अर्थ में अभीष्ट नहीं है, बल्कि सत् का अर्थ है मूर्त अथवा व्यक्त और असत् का अर्थ है त्यत्, अमूर्त अथवा अव्यक्त।

सत् तथा त्यत् का यही अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् में भी स्पष्ट किया गया है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तं च मर्त्यञ्चामृतञ्च
स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च।

॥ बृहदा. । २ । ३ । १ ॥

(ब्रह्मणः द्वे वाव रुपे) पञ्चभूत समुदाय अथवा ब्रह्म से प्रकट हुए विश्व के दो ही रूप हैं। मूर्त तथा अमूर्त (मर्त्यम् च अमृतं च) मरणशील तथा अमर (स्थितं च यत् च) अचर और चर, (सत् च त्यत् च) व्यक्त एवं अव्यक्त। इनका विवरण देते हुये दूसरी कण्डिका में बताया गया है कि पञ्चमहाभूतों में वायु एवं आकाश अमूर्त, अमृत, गमनशील तथा त्यत् (अव्यक्त) हैं, और अग्नि, जल तथा पृथिवी, मूर्त, मर्त्य, अचर एवं सत् अर्थात व्यक्त हैं।

समस्त प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर परमात्मा उन्हीं उन्हीं प्राणियों के रूपवाला हो जाता है, इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्णन ऋग्वेद के इस प्रसिद्ध मन्त्र में किया गया है:—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ।।

बृहदा. २ । ५ । १९ ---- ।। ऋग । ६ । ४७ । १८ ।।

विश्व के समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्म उन्हीं उन्हीं प्राणियों एवं पदार्थों के रूपों के प्रतिरूप अथवा तुल्य रूप वाला हो जाता है। (तत् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय) उसका भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूपों के तुल्य बना हुआ यह प्रतिरूप, इन सभी भूतों में उसका प्रतिविम्ब देखने के लिए है अर्थात् हमें इस चराचर सृष्टि के सभी प्राणियों एवं पदार्थों में उस विश्वरूप ब्रह्म का दर्शन करना चाहिये। इन्द्र (परमात्मा) अपनी अनन्त माया से बहुत से रूपों को धारण करता है (अस्य शता दश हरयः युक्ता) इस इन्द्र (ब्रह्म) के साथ असंख्य जीवात्माएं संयुक्त हैं।

हरयः शब्द जो कि हरि का बहुवचन है किरणों, अश्वों तथा इन्द्रियों का वाचक है। विषयों का हरण करने के कारण इन्द्रियों को हरि कहते हैं। इन्द्रियों को शरीर रूपी रथ के अश्व कहा जाता है। इस प्रकार 'हरयः' अश्व का वाचक हुआ किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में इस मन्त्र का भाष्य करते हुये 'हरयः' को जीवात्मा कहा गया है और 'शता दश' का अर्थ असंख्य लिखा गया है—

अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च। तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्। बृहदा. २ । ५ । १९

(अयम् वै हरयः) यह जीवात्मा ही हरयः हैं। (अयं वै दश च

सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च) यह दश हैं, हजार हैं, बहुत से हैं, अनन्त हैं। (तत् एतद् ब्रह्म) वह यह ब्रह्म अपूर्व, अन् अपर, अन् अन्तर तथा अबाह्य है अर्थात् इसके पूर्व कुछ नहीं था, इसके तुल्य कोई अन्य नहीं है, इसके अन्दर कुछ नहीं है, इसमें कुछ व्याप्त नहीं है, बल्कि यही सबमें व्याप्त है, इसके बाहर कुछ नहीं है, बल्कि यही सबको सब ओर से आवृत किये हुये है। (अयं आत्मा ब्रह्म) यह आत्मा ब्रह्म है, (सर्वानुभूः) तथा सबको अनुभव करने वाला है। यही अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है।

यही भाव महाभारत के निम्न श्लोक में दिया गया है।

एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव च ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शत सहस्रधा ।।

महा. अनु. पर्व १४५ । ४०

वह परमात्मा ब्रह्म रूप से एक प्रकार का, ब्रह्म तथा जीव भेद से दो प्रकार का, तथा (प्रपञ्च) सृष्टि रूप से अनेक प्रकार, सैकड़ों प्रकार, हजारों प्रकार तथा लाखों प्रकार का अर्थात् अनन्त रूप वाला है।

उपरोक्त मन्त्र के भाव को कठोपनिषद् में निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

।। कठ । २ । २ । ९ ।।

[यथा एकः अग्निः) जिस प्रकार एक ही अग्नि [भुवनं प्रविष्टः] समस्त लोकों में व्याप्त होकर [रूपं रूपं प्रति रूपः बभूव]

प्रत्येक रूपवान् वस्तु के रूप के समान रूप-वाला हो जाता है (तथा) उसी प्रकार [एकः सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः च बहिः] एक अकेला परमात्मा सब प्राणियों का अन्तरात्मा होते हुये, उस प्राणी अथवा पदार्थ के रूप के तुल्य रूप वाला हो जाता है जिसमें वह अन्तर्यामी रूप से स्थित होता है और साथ ही वह समस्त प्राणियों एवं पदार्थों के बाहर भी उन्हें सब ओर से आवृत करके स्थित रहता है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

॥ कठ । २ । २ । १०

(यथा एकः वायुः भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव) जिस प्रकार एक ही वायु समस्त लोकों में व्याप्त होकर प्रत्येक वस्तु के रूप के समान रूप वाला हो जाता है, (तथा एकः सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः च बहिः) उसी प्रकार एक अकेला परमात्मा समस्त भूतों का अन्तरात्मा होते हुये उस प्राणी अथवा पदार्थ के रूप के तुल्यरूप वाला हो जाता है, जिसमें वह अन्तर्यामी रूप से स्थित होता है और साथ ही वह समस्त प्राणियों एवं पदार्थों के बाहर उन्हें सब ओर से आवृत करके स्थित रहता है।

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते ।।

।। यजु०। ४०। ६ ।।

वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता में 'विजुगुप्सते' के स्थान पर 'विचिकित्सति' पाठ आया है।

(यः सर्वाणि भूतानि) जो समस्त प्राणियों एवं अप्राणियों अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् को (आत्मनि एव अनुपश्यति) परमात्मा में ही स्थित देखता है तथा (सर्वभूतेषु आत्मानम्) समस्त भूतों में, समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में परमात्मा को देखता है, (ततः न विजुगुप्सते) वह उससे अर्थात् उस ज्ञान के कारण किसी से घृणा नहीं करता, किसी का तिरस्कार नहीं करता।

अथवा

(ततः न विचिकित्सति) वह इस ज्ञान दृष्टि को प्राप्त करने के उपरान्त, संशय नहीं करता अर्थात् वह समस्त प्रकार के संशयों और उनसे उत्पन्न होने वाले भय, शोक एवं मोह से मुक्त हो जाता है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार लिखा है:--

जो मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है अर्थात् उन्हें आत्मा से पृथक नहीं देखता तथा उन सम्पूर्ण भूतों में भी आत्मा को देखता है अर्थात् उन भूतों के आत्मा

को भी अपना ही आत्मा जानता है, वह उस आत्म दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता।

इस मन्त्र में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ विश्व प्रेम की भी शिक्षा दी गई है। यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि समस्त प्राणी ईश्वर में ही स्थित हैं और समस्त प्राणियों में परमात्मा स्वयं स्थित है तो हम उनसे घृणा करने के स्थान पर प्रेम करने लगेंगे। यही विश्व बन्धुत्व का वास्तविक आधार है।

इसी तत्व का वर्णन गीता में निम्न प्रकार किया गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
॥ गीता। ६। २६॥

सबको समभाव से देखने वाला योगयुक्त, समदर्शी ज्ञानी परमात्मा को समस्त भूतों में देखता है तथा समस्त प्राणियों एवं पदार्थों को परमात्मा में स्थित देखता है।

संसार के प्राणी एक दूसरे से कितने भिन्न हैं, कितने ही परस्पर एक दूसरे के विरोधी तथा शत्रु हैं किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में यह सभी प्राणी एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। इन सभी में भगवान का अंश जीवात्मा के रूप में विद्यमान है, जो माला के उस धागे की तरह है जिसमें ये सब पिरोये हुये हैं।

इसके अतिरिक्त वायु जो प्राण के रूप में आत्मा की सहचारिणी जीवन शक्ति है, इन सब प्राणियों को एक सूत्र में बाँधे हुये है। सभी प्राणी वायु के सहारे ही जीवित रहते हैं, उसी से श्वास एवं निःश्वास, प्राण एवं अपान की क्रिया करते हैं। इसी कारण वायु को सूत्रात्मा कहा जाता है।

इस मन्त्र के अनुसार परमात्मा तो जीवात्मा एवं वायु में भी व्याप्त है और ये भी परमात्मा में ही स्थित हैं, उसी पर आधारित हैं। वास्तव में वायु भी सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि अन्य महान देवों की भाँति मणियों की माला में पिरोया हुआ है और देवों की इस महान् माला का सूत्र, इसको पिराने वाला धागा निश्चय ही परमात्मा स्वयं है। इसीलिये परमात्मा को सूत्र का भी सूत्र कहते हैं, जैसा कि निम्नांकित मन्त्र में अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है:—

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

॥ अथर्व । १० । ८ । ३७ ॥

(यः विततं सूत्रं विद्यात्) जो उस सर्वत्र फैले हुये सूत्र को जानता है, (यस्मिन् इमाः प्रजाः प्रोताः) जिसमें ये प्रजायें पिरोई हुई हैं और (सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्) जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, (सः महत् ब्राह्मणं बिद्यात्) वह उस महान् ब्रह्म को जानता है।

लगभग यही भाव महाभारत तथा गीता के निम्नांकित श्लोकों में दिया गया है।

यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥

महा. शान्ति । ४७ । १२

जिस भूतेश्वर ब्रह्म में जगत के समस्त प्राणी स्थित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश करते हैं, उसमें, उस ब्रह्म में समस्त प्राणी एवं पदार्थ इस प्रकार पिरोये रहते हैं, जैसे माला के धागे में मणियाँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

।। गीता ७ । ७

हे धनंजय ! (मत्तःपरतरं) मुझ परमेश्वर से भिन्न (जगत का कारण) अन्य कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत मुझमें इस तरह पिरोया हुआ है जैसे सूत्र में मणियाँ।

इसी तत्व ज्ञान को और स्पष्ट करते हुये भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।

गीता ७ । ८

हे कौन्तेय ! जल में मैं रस हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश हूँ, समस्त वेदों में प्रणव अथवा ओ३म् हूँ, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्व भूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।

गीता ७ । ९

मैं पृथिवी में पवित्र गन्ध तथा अग्नि में तेज हूँ, समस्त भूतों में उनका जीवन हूँ, तथा तपस्वियों में तप हूँ।

पृथिवी में पवित्र गन्ध से तात्पर्य पृथिवी की तन्मात्रा से है। इसी प्रकार ईश्वर आकाश की तन्मात्रा शब्द, वायु की तन्मात्रा स्पर्श अग्नि की तन्मात्रा रूप तथा जल की तन्मात्रा रस है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।

गीता. ७ । १०

हे अर्जुन ! मुझे ही समस्त भूतों का सनातन कारण जान, मैं ही बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियों का तेज हूँ ।

इस प्रकार समस्त प्राणियों को एक सूत्र में बाँधने वाले परब्रह्म का ज्ञान जब पुरुष को हो जाता है तब उसे समस्त प्राणी अपने तुल्य ही दिखाई देने लगते हैं, और वह किसी से घृणा नहीं करता । ऐसे सात्विक ज्ञान वाला पुरुष ही परम पद को प्राप्त होता है ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

।। गीता । १३ । २७ ।।

(यः) जो पुरुष (विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु) नष्ट होते हुये समस्त चर-अचर भूतों में (अविनश्वरम्) अविनाशी परमेश्वर को (समम् तिष्ठन्तम् पश्यति) समान रूप से स्थित देखता है; (सः पश्यति) वही वास्तव में देखता है ।

समस्त प्राणियों में समभाव से परमात्मा का दर्शन करने वाले पुरुषों का ज्ञान ही सात्विक कहलाता है ।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।

।। गीता । १८ । २० ।।

(येन) जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष (विभक्तेषु सर्वभूतेषु) समस्त पृथक्-पृथक् भूतों में (एकम् अव्ययम् भावम्) एक अविनाशी परमात्मा को ही (अविभक्तम् ईक्षते) अविभक्त रूप में, समान रूप

में स्थित देखता है, (तत् ज्ञानम् सात्विकम् विद्धि) उसी ज्ञान को सात्विक अथवा सत्य एवं कल्याणकारी जानो।

सब प्राणियों में समता की दृष्टि रखने वाले विद्वानों का स्पष्ट वर्णन गीता में निम्न प्रकार किया गया है:—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

गीता ।। ५ । १८ ।।

(पण्डिताः) ज्ञानीजन (विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे) विद्या एवं विनय से युक्त ब्राह्मण में, (च) और (गवि) गौ में, (हस्तिनि) हाथी में, (शुनि) कुत्ते में, (च) तथा (श्वपाके) चाण्डाल में (समदर्शिनः एव) समदर्शी होते हैं अर्थात् उनमें अन्तर्यामी रूप से परमात्मा को स्थित जानकर तथा इन सभी प्राणियों को परमात्मा में स्थित जानकर सबके साथ समता का व्यवहार करते हैं और जैसा कि मन्त्र में कहा गया है, किसी से घृणा नहीं करते।

ऐसे लोग इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और अन्त में मोक्ष के भागी होते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

।। गीता । ५ । १९ ।।

(येषां मनः साम्ये स्थितम्) जिनका मन समत्व भाव में स्थित है अर्थात् जो समस्त प्राणियों को समान भाव से देखते हैं, (तैः इह एव सर्गः जितः) उनके द्वारा इस जीवन में ही समस्त संसार को जीत लिया जाता है। (हि ब्रह्म निर्दोषम् समम्) निश्चय ही ब्रह्म समस्त दोषों से रहित तथा समस्त प्राणियों में समान रूप से स्थित है, सभी को समान रूप से आधार देता है, (तस्मात् ते)

अतएव समता का व्यवहार करने वाले वे पुरुष (ब्रह्मणि स्थित:) ब्रह्म में ही स्थित हो जाते हैं, ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

ऐसे ज्ञानी पुरुष जहाँ एक ओर स्वयं पूर्णरूप से निर्भय होते हैं, वहीं दूसरी ओर उनसे भी किसी प्राणी को भय नहीं होता।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ।।

।। मनु० ६ । ४० ।।

जिस द्विज से प्राणियों को लेशमात्र भी भय नहीं होता, उसे अपना शरीर छोड़ने के बाद कोई भय नहीं होता अर्थात् वह अभय हो जाता है।

समस्त प्राणियों में परमात्मा का दर्शन करने के कारण जब इस मन्त्र के अनुसार ज्ञानी पुरुष 'न विजुगुप्सते न विचिकित्सति' न घृणा करता है और न संशय अर्थात् जब वह घृणा, संशय एवं भय से रहित होकर प्राणि मात्र के कल्याण में रत हो जाता है, तब वह आत्मोन्नति के चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा: ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता: ।।

।। गीता । ५ । २५ ।।

क्षीण हो गये हैं पाप तथा नष्ट हो गये हैं संशय जिनके ऐसे (सर्वभूतहिते रता:) समस्त प्राणियों के कल्याण में लगे हुये संयतेन्द्रिय तथा परमात्मा के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित ऋषि ब्रह्मनिर्वाण अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

एवं य: सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।।

।। मनु० । १२ । १२५ ।।

जो इस प्रकार (सर्वभूतेषु आत्मानं पश्यति) समस्त प्राणियों में परमात्मा को देखता है, (सः आत्मना सर्वसमताम् एत्य) वह सबमें समत्व भाव को प्राप्त होकर, अपने आत्मा के समान ही सबके आत्मा को देखकर ब्रह्म के परम पद को प्राप्त कर लेता है।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

॥ यजु० । ४० । ०७ ॥

(यस्मिन्) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेष ज्ञानी की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) समस्त प्राणी एवं पदार्थ (आत्मा एव अभूत्) परमात्मा ही हो गये, (तत्र) उस अवस्था में (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्व का अनुभव करने वाले उस ज्ञानी को (कः मोहः) कौन मोह ? (कः शोकः) कौन शोक ? अर्थात् उसे किसी प्रकार का मोह और शोक नहीं होता।

जिस अवस्था में ज्ञानी पुरुष के लिये समस्त चराचर जगत् परमात्मा ही हो जाता है अर्थात् परमात्मा का ही रूप हो जाता है, उस अवस्था में एकत्व का दर्शन करने वाले ऐसे योगी को न कोई मोह होता है और न शोक।

यह अद्वैत की अवस्था का वर्णन है। इसमें विशेष ज्ञान प्राप्त किये हुये सिद्ध पुरुष को परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं दिखाई देता। उसके लिये समस्त संसार परमात्मा ही हो जाता है और ऐसी अवस्था में उसे मोह और शोक से छुटकारा मिल जाता है।

इस मन्त्र में उल्लिखित अद्वैत की स्थिति का वर्णन पुरुष सूक्त के प्रसिद्ध मन्त्र में निम्न प्रकार किया गया है—

१२ ३२उ ३ २ ३२उ ३ १२
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

।। सामवेद पूर्वा. ६ । ४ । ५ ।। क्रम सं. ६१८ ।।

भूत वर्तमान तथा भविष्य में, जो कुछ था, है और होगा वह सब पुरुष ही है, ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म के केवल एक पाद से, एक अंश से समस्त चराचर सृष्टि का निर्माण हुआ है और उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप में स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की सत्ता इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़ी है और यह ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म का केवल एक अंशमात्र है।

यह मन्त्र 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कह कर अद्वैत की स्थिति का स्पष्ट रूप से वर्णन करता है। गीता में इसी स्थिति का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है:—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।

।। गीता । ४ । २४ ।।

ब्रह्म ही कर्म है जिसका ऐसे ब्रह्म कर्म में समाधिस्थ ब्रह्मवेत्ता योगी के लिए, हवि अर्पण करने वाले उपकरण, अग्नि में डाली जाने वाली हवि तथा अग्नि, सभी कुछ ब्रह्म है। स्वयं हवन करने वाला तथा हवन की क्रिया भी ब्रह्म है और ऐसे ब्रह्म कर्म समाधिस्थ योगी का गन्तव्य भी ब्रह्म है।

(ब्रह्म कर्मसमाधि:=ब्रह्म एव कर्म, ब्रह्म कर्म, तस्मिन् समाधि: यस्य स: ब्रह्मकर्मसमाधि:, तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना) वेद में जिसे विजानत: कहा गया है उसे ही गीता में ब्रह्मकर्मसमाविस्थ कहा है।

मुण्डकोपनिषद् में इस अवस्था का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है:—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

॥ मुण्डक । २ । २ । ११ ॥

यह अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाहिने और बायें; नीचे और ऊपर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत् है वह अत्यन्त श्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

छान्दोग्योपनिषद् में इस अवस्था का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है:—

अथात आत्माऽऽदेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्तेक्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ।

॥ छन्दोग्य । ७ । २५ । २ ॥

(अथ अतः आत्मादेशः एव) अब आत्मा का आदेश अर्थात् परमात्मा का उपदेश प्रारम्भ होता है। (आत्मा एव अधस्ताद्) आत्मा ही नीचे है। (आत्मा उपरिष्टाद्) आत्मा ही ऊपर है, (आत्मा पश्चात्) आत्मा ही पीछे है, (आत्मा पुरस्ताद्) आत्मा ही आगे है, (आत्मा दक्षिणतः) आत्मा ही दक्षिण में है, आत्मा उत्तरतः) आत्मा ही उत्तर में है, (आत्मा एव इदं सर्वम् इति) यह सब विश्व आत्मा (परमात्मा) ही है।

(स वै एषः एवं पश्यन्) निश्चय ही वह यह इस प्रकार देखता हुआ (एवं मन्वानः) ऐसा मनन करता हुआ और (एवं विजानन्) ऐसा जानता हुआ, (आत्मरतिः) परमात्मा में ही रमण करता है, (आत्मक्रीडः) परमात्मा में ही क्रीड़ा करता है, (आत्ममिथुनः) परमात्मा से युक्त होता है, (आत्मानन्दः) परमात्मा में ही आनन्द को प्राप्त होता है, (स स्वराड् भवति) वह सुख का राजा हो जाता है, (तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः भवति) उसकी सभी लोकों में स्वच्छन्द गति हो जाती है, (अथ) और (ये अतः अन्यथा विदुः) जो इससे विपरीत जानते हैं, वे (अन्य राजानः) अन्य राजा के वशवर्ती होते हैं, (ते क्षय्यलोकाः भवन्ति) वे विनश्वर लोक वाले होते हैं, (तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारः भवति) वे किसी भी लोक में इच्छानुसार विचरण करने के योग्य नहीं होते अर्थात् वे शक्ति हीन हो जाते हैं।

अद्वैत की इस स्थित का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है:--

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं श्रृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं श्रृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्।येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

॥ बृहदा० २।४।१४॥

(हि) निश्चय ही (यत्र द्वैतम् इव भवति) जहाँ द्वैत सा होता है, (तत्) वहाँ (इतरः इतरं जिघ्रति) दूसरा दूसरे को सूँघता है, (तत् इतरः इतरं पश्यति) वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है, (तत् इतरः इतरं श्रृणोति) वहाँ दूसरा दूसरे को सुनता है, (तत् इतरः इतरं

अभिवदति) वहाँ दूसरा दूसरे को कहता है, (तत् इतरः इतरं मनुते) वहाँ दूसरा दूसरे को मनन करता है, (तत् इतरः इतरं विजानाति) वहाँ दूसरा दूसरे को जानता है, परन्तु (यत्र वै) जहाँ निश्चय ही (अस्य सर्वम् एव आत्मा अभूत्) इस ब्रह्मविद् के लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया (तत् केन कम् जिघ्रेत्) तत्र किससे किसको सूँघे (तत् केन कं पश्येत्) तब किससे किसको देखे, (तत् केन कं शृणुयात्) तब किससे किसको सुने, (तत् केन कं अभिवदेत्) तब किससे कौन कहे, (तत् केन कं मन्वीत) तब किससे किसको मनन करे, (तत् केन कं विजानीयात्) तब किससे किसको जाने। (येन इदं सर्वं विजानाति) जिससे यह सब जाना जाता है, (तत् केन विजानीयात्) उसको किससे जाने, (अरे) हे मैत्रेयी ! (विज्ञातारम् केन विजानीयात् इति) सब कुछ जानने तथा जनाने वाले को किससे जाने।

स्वामी दयानन्द जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है:–

(यस्मिन्) जिस ज्ञान में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणिमात्र (विजानतः) विशेष ध्यान दृष्टि से देखते हुये को (आत्मा एव) अपने तुल्य ही (अभूत्) होते हैं, (तत्र) उस ज्ञान में (एकत्वम्) अद्वितीय भाव को (अनुपश्यतः) अनुकूल योगाभ्यास से देखते हुये योगी को कौन मोह और कौन शोक होता है अर्थात् कोई भी नहीं। अर्थात् जो विद्वान् प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के तुल्य जानते हैं उनको मोह और शोक नहीं होता।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्नप्रकार लिखा है– जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ?

श्री विनोबा भावे ने लिखा है 'आत्मा एव सर्वाणि भूतानि' और पहले मन्त्र का 'ईशावास्यं इदं सर्वम्' एक ही है। एक आत्मज्ञान

की भाषा है, दूसरी भक्ति की, इतना ही अन्तर है। उन्होंने लिखा है कि शोक और मोह सगे सहोदर हैं, संकुचित आत्मीयता से मोह उत्पन्न होता है और वही शोक का हेतु बनता है।

द्वैत-अद्वैत

द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक परस्पर विपरीत विचार धारायें विभिन्न आचार्यों ने गत लगभग दो हजार वर्षों में प्रतिपादित की हैं; जिनसे जन सामान्य पूर्णरूपेण भ्रमित हो गया है। स्वामी दयानन्द जी ने इसके विपरीत यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ब्रह्म, जीवात्मा तथा प्रकृति की अलग अलग स्वतन्त्र सत्ता है और जहाँ परमात्मा संसार का निमित्त कारण है वहीं प्रकृति उसका उपादान कारण होते हुये अपनी अलग सत्ता रखती है।

वेदों में इस सम्बन्ध में न तो कोई विवाद है और न विरोधाभास किन्तु अब हम वेद मन्त्रों के सही अर्थ समझने की क्षमता नहीं रखते, इसीलिए भिन्न-भिन्न विद्वान तथा आचार्य अपने पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर मंत्रों के ऐसे गलत अर्थ कर देते हैं जो उनके सिद्धांतों को प्रमाणित करें। इसी से सारा भ्रम एवं विवाद उत्पन्न होता है।

सामान्य सांसारिक व्यवहार में प्रकृति, आत्मा तथा परमात्मा का स्पष्ट रूप से अलग अलग अनुभव होता है जिसमें संशय का कोई स्थान नहीं है और इन तीनों के अलग अलग अस्तित्व का वेद में भी स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णन से सम्बन्धित अनेक मंत्रों में निम्नांकित दो मंत्र सुप्रसिद्ध तथा सुस्पष्ट हैं :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

अथर्व ९।९।२० ऋग्वेद । १ । १६४ । २०

श्वेता ४।६ मुण्डक ३।१।१

(द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले (सयुजा सखाया) साथ रहने वाले मित्र पक्षी (सखा = समान ख्यान, निरुक्त ७।३० । अर्थात समान नाम वाले।) आत्मा, परमात्मा का नाम एक समान होता है, दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्ष पर मिलकर रहते हैं (तयोः अन्यः) उनमें से एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) स्वादिष्ट मीठे फलों को खाता है किन्तु (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) केवल स्वप्रकाश से प्रकाशित होता है तथा सब ओर से भली प्रकार देखता हैं। अभिचाकशीति का अर्थ मुण्डकोपनिषद् के अपने भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्यजी ने 'पश्यत्येव केवलम्' केवल देखता हैं, किया है।

संसार का यह कैसा सुन्दर एवं वास्तविक चित्रण है, जिसमें जगत् मिथ्या' का विचार लेश मात्र भी नहीं है।

इस मंत्र में परमात्मा तथा आत्मा ही दो पक्षी हैं जो प्रकृति रूपी वृक्ष पर रहते हैं। इनमें से आत्मा कर्म करता है और संसार की वस्तुओं का उपभोग करता है जब कि परमात्मा केवल साक्षी रूप में देखता हुआ तथा स्वयं प्रकाशित होता हुआ समस्त संसार को प्रकाशित एवं नियमित करता है और उसे आधार एवं गति प्रदान करता है।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।

तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

अथर्व । ९ । ९ । २१ । ऋग्वेद । १ । १६४ । २२

(यस्मिन् विश्वे वृक्षे) जिस विश्व रूपी वृक्ष में (मध्वदः सुपर्णाः) मधुर फल खाने वाले सुन्दर पंखों से युक्त पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं और (अधि सुवते च) उस पर आधारित होकर अपनी सन्तान उत्पन्न करते हैं ; (तस्य इत् पिप्पलम् स्वादु आहुः) उस वृक्ष के अग्रभाग में लगने वाले फलों को स्वादिष्ट कहते हैं। (तत् न उत् नशत्) उन स्वादिष्ट फलों को वह पक्षी अर्थात् जीवात्मा प्राप्त नहीं कर पाते, (यः पितरं न वेद) जो परमात्मा रुपी अपने पिता को नहीं जानते।

तात्पर्य यह है कि जो परमात्मा को नहीं जानते अथवा जो उससे विमुख रहते हैं वह सुखों की इच्छा करते हुये भी केवल दुःखों में ही निमग्न रहते हैं क्योंकि भगवान को जाने विना दुःखों का अन्त सम्भव नहीं है जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में अत्यन्त आलंकारिक ढंग से कहा गया है :—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।

श्वेता । ६ ।२० ।

जब मनुष्य आकाश को चमड़े की भाँति लपेट लेंगे तभी परमात्मा को जाने बिना दुःखों का अन्त हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश को चमड़े की भांति लपेट लेना असम्भव है, उसी प्रकार परमात्मा को जाने बिना दुःखों का अन्त होना असम्भव है ।

परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति का वर्णन निम्नाङ्कित मन्त्रों में भी अत्यन्त आलंकारिक ढंग से किया गया है ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।।

।। ऋग्वेद । १ । १६४ । १ ।। अथर्व ९। ९ । १ ।।

(तस्य अस्य होतुः वामस्य पलितस्य) उस इस दानकर्ता अति सुन्दर (वृद्ध) पुरातन पुरुष का (मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) बीच का भाई बहुत खाने वाला है। (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) इसका तीसरा भाई अपनी पीठ पर घी आदि पुष्टिकारक पदार्थ धारण करने वाला है । (अत्र सप्तपुत्रं विश्पतिं अपश्यम्) यहाँ मैंने सातपुत्रों वाले प्रजापति को देखा है ।

इस मंत्र में परमात्मा, जीवत्मा तथा प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है। परमात्मा सब कुछ देने वाला, परम सुन्दर बड़ा भाई है। परमात्मा के अनादि एवं सनातन होने के कारण उसे वृद्ध कहा गया है यद्यपि वह सदैव तरुण रहता है। बीच का भाई जीवात्मा है जो भोगों में अत्यधिक लिप्त रहता है, जिसके कारण उसे बहुत खानेवाला कहा गया है प्रकृति को तीसरा भाई कहा गया है जो स्वयं भोग न करता हुआ जीवात्मा के लिये समस्त भोग्य पदार्थों को अपनी पीठ पर लिए रहता है। प्रकृति रूपी यह तीसरा भाई ही वास्तव में प्रजापति है क्योंकि इसी से सब प्रजाओं का पालन होता है। इस प्रकृति के महत्तत्व, अहंकार तथा पञ्च महाभूत-आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं प्रथिवी, ये सात पुत्र हैं, जिनसे समस्त प्रजाओं का पालन होता है अर्थात् जिन पर समस्त प्राणिमात्र का जीवन आधारित है।

इस मंत्र का निरुक्त में दिया हुआ अधिदैवत अर्थ निम्न प्रकार है :-

(तस्य अस्य वामस्य वननीयस्य) उस इस प्रशस्त (पलितस्य-

पालयितुः) पालन कर्ता (होतुः) ग्रहों, उपग्रहों आदि के आह्वान कर्ता अर्थात् आकर्षण-कर्ता (सूर्य का) (मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) बीच का भाई, मेघों के मध्य रहने वाला अशनि अर्थात विद्युत है। (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) और इसका तीसरा भाई घृतपृष्ठ है। अग्नि में घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं, अतः इसे घृतपृष्ठ कहा गया है। (अत्र सप्तपुत्रं विश्पतिं अपश्यम्) इन

तीन भाइयों में मैंने आदित्य को प्रजापालक देखा है। (विश् = विश्व = सर्व)

भ्राता भरतेः हरति कर्मणो, हरते भागं, भर्तव्यो भवति इति वा। भरणार्थक भृ धातु से तृन् प्रत्यय लगाकर भ्राता शब्द बनता है। भाई दायभाग का आहरण करता है अथवा भाई भाई आपस में एक दूसरे का भरण पोषण करते हैं।

सप्तपुत्रं, सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति।

निरुक्त में सप्तपुत्रम् के तीन भाव बताये गये हैं– १- सप्तपुत्रम् २- सप्तमपुत्रम् ३- सर्पणपुत्रम्।

१- सूर्य की किरणें सात रङ्गों वाली होती हैं, अतः सूर्य को सप्तपुत्र अथवा सात पुत्रों वाला कहते हैं। इसीलिये सूर्य का रथ सात घोड़ों वाला कहा जाता है।

२- सोम मंगल आदि दिनों में रविवार सातवाँ दिन होता है सम्भवतः इसलिए सूर्य को सप्तमपुत्र अथवा सातवाँ पुत्र कहा गया है।

३- सूर्य के रश्मि रूपी पुत्र सर्पणशील अथवा गतिशील होते हैं। अतः सूर्य को सर्पणपुत्र अथवा सप्तपुत्र कहा गया है।

प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हुये परमात्मा तथा आत्मा रूपी पक्षियों का वर्णन मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है:—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो–
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्
अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

॥ मुण्डक । ३ । १ । २ ॥ श्वेता. ४ । ७ ॥

परमात्मा के साथ एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ, विभिन्न प्रकार के भोगों में निमग्न जीवात्मा रूपी पक्षी मोह करता हुआ असमर्थता से दुःखी होता है किन्तु जब योगियों द्वारा सेवित अपने से भिन्न ईश्वर का और उसकी महिमा का दर्शन करता है तब वह शोक रहित हो जाता है ।

परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति से निर्मित शरीरों का वर्णन गीता में निम्न प्रकार दिया गया है:—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

॥ गीता । १५ । १६

संसार में ये दो प्रकार के पुरुष भाव हैं एक नाशवान् तथा दूसरा अविनाशी । समस्त प्राणियों के शरीरों को नाशवान् तथा इन शरीरों में अन्तर्निहित जीवात्मा को अविनाशी कहा जाता है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

॥ गीता । १५ । १७

किन्तु जिसे परमात्मा कहा जाता है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है तथा जो अविनाशी एवं सर्वेश्वर है वह उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष तो अन्य है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है:—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

श्वेता.। १। ८

क्षर-अक्षर, विनाशी-अविनाशी, व्यक्त-अव्यक्त, अथवा दृश्यमान प्रकृति तथा अदृश्य जीवात्मा से युक्त संसार का भरण पोषण ईश्वर द्वारा किया जाता है। विषयों के भोग की भावना में लिप्त होने के कारण जीवात्मा असमर्थ तथा पराधीन होकर सांसारिक बन्धनों में पड़ा रहता है किन्तु (देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते) परमेश्वर को जानकर वह सभी बन्धनों से छूट जाता है।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

॥ श्वेता.। ४। १०॥

प्रकृति को माया तथा महेश्वर को मायी अथवा माया का स्वामी समझो। उसी परमेश्वर की माया के अवयवों से अर्थात् भिन्न भिन्न रूपों से यह समस्त जगत् व्याप्त है।

ब्रह्म तथा जीवात्मा का वर्णन करने वाले कुछ प्रसिद्ध मन्त्र निम्न प्रकार हैं:—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः ।

स बुध्न्याऽउपमाऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥

सामः । पूर्वा० ३ । ९ । ९ ॥ ॥ यजु. । १३ । ३ ॥

अथर्व ४ । १ । १ तथा । ५ । ६ । १ ॥

(पुरस्तात् जज्ञानं प्रथमं) सृष्टि की आदि में सर्वजनक, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ तथा सबका धारण पोषण करने वाले (ब्रह्म वेनः सुरुचः सीमतः) ब्रह्म ने अपने ग्रहण करने योग्य तथा वाञ्छनीय परम तेज को सर्वत्र मर्यादा पूर्वक (वि + आवः = व्यावः व्यवृणोत्) फैलाया । (बुध्न्याः विष्ठाः अस्य उपमाः) आकाश में विविध स्थलों में स्थित सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह तथा नक्षत्रादि जिसकी उपमा स्वरूप हैं (सः) उस ब्रह्म ने (सतः च असतः च योनिम्) सत् और असत् अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म, व्यक्त एवं अव्यक्त पदार्थों की योनि अर्थात् उत्पत्ति की कारण भूत प्रकृति को (वि वः) विशेष रूप से विस्तृत किया अर्थात् अनेक रूपों में परिवर्तित करके उसका सर्वत्र विस्तार किया ।

सीमतः– निरुक्त में इसका अर्थ सर्वत्र अथवा मर्यादा पूर्वक लिखा गया है ।

सुरुचः– सु पूर्वक 'रुच् दीप्तौ' धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर सुरुचः शब्द बना है अतः इसका अर्थ है सुन्दर अथवा परम तेज ।

वेनः–वेन शब्द वेणृ = वेनृ धातु से बना है जिसके अर्थ गति, ज्ञान, चिन्ता, निशामन दर्शन, आलोचन, श्रवण वादित्र तथा ग्रहण करना होते हैं । इस प्रकार वेन शब्द अनेकार्थक है । इसका अर्थ ज्ञानी भी होता है । निघण्टु में वेन को यज्ञ का पर्यायवाची भी कहा गया है । महर्षि यास्काचार्य तथा महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के अर्थ में

'वेन:' शब्द का अर्थ ग्रहण करने योग्य अथवा वाञ्छनीय लिखा है जबकि श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने वेन: का अर्थ ज्ञानी किया है किन्तु वास्तव में निरुक्त का अर्थ ही सही प्रतीत होता है। अत: यहाँ 'वेन:' का अर्थ ग्रहण करने योग्य अथवा वाञ्छनीय ही किया गया है।

'बुध्न्या उपमा अस्य व्रिष्ठा:' का अर्थ है आकाश में विविध स्थानों में अथवा विशेष प्रकार से स्थित इसकी उपमायें। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अदृश्य, अगोचर एवं निराकार होने के कारण वास्तव में अवर्णनीय है। अत: इसके सम्बन्ध में आकाश में स्थित महान् तेजस्वी सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों एवं विशाल नक्षत्रों अथवा आकाशगंगा आदि को देखकर उसकी महानता, शक्ति, सामर्थ्य तथा उसके तेज के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है अथवा इन्हें उपमा मानते हुये कहा जा सकता है कि वह इन तेजस्वी सूर्य चन्द्र आदि का उत्पादक होने के कारण का भी सूर्य तथा चन्द्र का भी चन्द्र है और इनसे करोड़ों गु धिक तेजस्वी, पराक्रमी तथा महान् है।

मर्यादा पूर्वक अपना तेज फैलाने का तात्पर्य यह है कि जितना और जिस प्रकार का तेज जहाँ वांछनीय था, उतना और उसी प्रकार का तेज उसने भिन्न-भिन्न पदार्थों एवं स्थानों में फैलाया ताकि सृष्टि का सन्तुलन बना रहे और जीवन का चक्र चलता रहे अन्यथा यदि सूर्य अधिक गरम हो जाय अथवा उसकी उष्णता कम हो जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि का नाश अवश्यम्भावी है। यही स्थिति विद्युत तथा अग्नि आदि की है। इसीलिये भगवान् ने अपने तेज, पराक्रम तथा अपनी शक्तियों का अत्यन्त मर्यादित एवं वाँछनीय वितरण अथवा विभाजन भिन्न-भिन्न देवों में आवश्यकतानुसार किया है।

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्" का अर्थ श्री सातबलेकर जी ने किया है कि ब्रह्म पूर्वकाल से भी प्रथम प्रकट हुआ किन्तु उनका यह

अर्थ यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ब्रह्म के अनादि एवं अनन्त होने के कारण इस प्रकार के वाक्य का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है।

जहाँ एक देशीय, अल्पज्ञ, अल्प शक्ति सम्पन्न अनीश आत्मा कामनाओं से आसक्त होकर अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से कर्म करता है किन्तु परतन्त्र होकर अपने कर्मों के फलों का भोग करता है वहीं सृष्टि का उत्पादक, सर्वेश्वर, अकाम, अनन्त, स्वयम्भू, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान परमात्मा सम्पूर्ण जगत का आधार एवं नियामक तथा कर्म फल प्रदाता होकर अपने प्रकाश स्वरूप में ध्रुव होकर स्थित रहता है।

अथर्ववेद में परमात्मा का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।

तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।

अथर्व १०। ८। ४४

वह कामनारहित, धैर्यवान्, प्रज्ञावान, अमर, स्वयम्भू रस से तृप्त तथा किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण है। उस धीर, अजर तथा सदैव तरुण रहने वाले परमात्मा को जानकर ही मृत्यु का भय दूर होता है।

ईशावास्योपनिषद् के अनेक मन्त्रों में भी परमात्मा के गुणों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

मुण्डक। २। १। २॥

(हि दिव्यः अमूर्तः पुरुषः) निश्चय ही वह दिव्य, प्रकाशमान, निराकार पुरुष (बाह्याभ्यन्तरः) बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान है, सर्वव्यापक है। (अजः अप्राणः अमनाः) तथा निश्चय ही वह अजन्मा, अनादि अप्राण, अमन अर्थात् प्राण की क्रियाओं एवं मन तथा इन्द्रियों से रहित (शुभ्रः) पवित्र (परतः अक्षरात् परः) एवं अविनाशी तथा श्रेष्ठ आत्मा से भी कहीं अधिक सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

मुण्डक। २। १। ३

इस अविनाशी पुरुष से ही प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में परमात्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

वृहदा। २। ५ १५

(वै) निश्चय ही (सः अयम् आत्मा) वह यह आत्मा (परमात्मा) (सर्वेषाम् भूतानाम् अधिपतिः) समस्त प्राणियों का अधिपति और (सर्वेषाम् भूतानाम् राजा) समस्त भूतों का राजा है। (तद् यथा) जैसे (रथनाभौ च) रथ की नाभि और (रथनेमौ च) रथ की नेमि, अर्थात् पहिये के घेरे में (सर्वे अराः समर्पिताः) समस्त अरे जड़े होते हैं, (एवम् एव) उसी प्रकार (अस्मिन् आत्मनि)

इस परमात्मा में (सर्वाणि भूतानि) समस्त प्राणी एवं पदार्थ (सर्वे देवाः) समस्त देव (सर्वे लोकाः) समस्त लोक (सर्वे प्राणाः) समस्त प्राण तथा इन्द्रियां (सर्वे एते) तथा ये सभी (आत्मानः सर्मपिताः) जीवात्मायें सर्मपित हैं अर्थात् उसी के आश्रय से तथा उसी में स्थित हैं ।

इस भाव का वर्णन प्रश्नोपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है ।

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

प्रश्न । चतुर्थ प्रश्न । ७

(सोम्य) हे सौम्य (स यथा) वह जैसे (वयांसि) पक्षी (वासो-वृक्षम्) वसेरे के वृक्ष पर (सं प्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं, (ह वै) निश्चय ही (एवम्) उसी प्रकार (तत् सर्वम्) यह सब जगत् (परे आत्मनि) परमात्मा में ठहरता है ।

पृथिवी च पृथिवी मात्रा चाऽऽपश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ।

॥ प्रश्न । चतुर्थ प्रश्न । ८ ॥

(पृथ्वी च पृथिवीमात्रा च) पृथिवी और उसकी तन्मात्रा (गन्ध), (आपः च आपोमात्रा च) जल और उसकी तन्मात्रा, रस, (तेजः च तेजोमात्रा च) तेज और उसकी तन्मात्रा, रूप, (वायुः च

वायुमात्रा च) वायु और उसकी तन्मात्रा, स्पर्श, (आकाशः च आकाशमात्रा च) आकाश और उसकी तन्मात्रा, शब्द, (चक्षुः च द्रष्टव्यं च) आँख और देखने योग्य वस्तु, (श्रोत्रं च श्रोतव्यं च) कान और सुनने योग्य शब्द, (घ्राणं च घ्रातव्यं च) नाक और सूँघने योग्य गन्ध, (रसः च रसयितव्यं च) जीभ और चखने योग्य पदार्थ, (त्वक् च स्पर्शयितव्यं च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु, (वाक् च वक्तव्यं च) वाणी और बोलने योग्य वक्तव्य, (हस्तौ च आदातव्यं च) दो हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, (उपस्थः च आनन्दयितव्यं च) उपस्थ और उसके द्वारा होने वाला सुख (पायुः च विसर्जयितव्यं च) गुदा और उसके द्वारा त्यागे जाने वाला मल (पदौ च गन्तव्यं च) दो पैर और उनका कार्य चलना, (मनः च मन्तव्यं च) मन और मनन (बुद्धि च बोद्धव्यं च) बुद्धि और ज्ञान (अहङ्कारः च अहङ्कर्तव्यं च) अहंकार और अभिमान, ममता का नाता जोड़ने वाले पदार्थ, (चित्तं च चेतयितव्यञ्च) चित्त और चिन्तन (तेजः च विद्योत्तयितव्यं च) तेज और प्रकाश करने योग्य पदार्थ, (प्राणः च विधारयितव्यं च) प्राण और उसके द्वारा धारण किये जाने वाले पदार्थ ये सभी परमेश्वर में प्रतिष्ठित हैं, आश्रित हैं।

परमात्मा के समान आत्मा का वर्णन भी अनेक स्थानों पर किया गया है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के दो महत्वपूर्ण मन्त्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

अथर्व काण्ड ६। सूक्त १०। ८

(पस्त्यानां मध्ये) शरीर रूपी ग्रहों में (ध्रुवं एजत् जीवं) स्वयं चलने में असमर्थ शरीर को गति देने वाला जीवात्मा, (तुरगातु अनत् शये) तीव्र गति वाला है और प्राणशक्ति से परिपूर्ण होकर रहता है। (मृतस्य अमर्त्यः जीवः) मृत व्यक्ति का यह अमर जीवात्मा (मर्त्येन सयोनिः) (किसी अन्य) मरण धर्मा शरीर के साथ समान योनि में जन्म लेकर (स्वधाभिः चरति) अपनी धारक शक्तियों से चलता है।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य[illegible] न चिक्युरन्यम्॥

अथर्व। काण्ड ९। सूक्त १०। १६

(स्वधया गृभीतः) अपनी धारण शक्ति से युक्त होकर यह जीवात्मा (अपाङ् प्राङ् एति) ऊपर, नीचे, तिरछे अर्थात् सब ओर जाता है और (अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर होता हुआ भी यह जीवात्मा मरण धर्मा शरीर के साथ समान योनि में जन्म लेता है, अर्थात् जिस योनि के शरीर में प्रवेश करता है, उसी योनि का प्राणी बनकर रहता है, जैसे घोड़े के शरीर में प्रवेश करता है तो घोड़ा बन कर रहता है और मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है तो मनुष्य बन कर रहता है। (ताः) वे दोनों आत्मा और शरीर (शश्वद् गामिनौ) शश्वद् गामी हैं। जब तक आत्मा शरीर में रहता है तब तक शरीर को निरन्तर गतिमान रखता है क्योंकि आत्मा का गुण ही चलना, प्रयास करना तथा कर्म करना है।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में आत्मा का निर्वचन करते हुये लिखा है 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' जो सब जीवादि

जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है, वह आत्मा है।

उणादिकोष में सातिभ्यां मनिन्मनिणौ। (४।१५४) की व्याख्या में आपने लिखा है 'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति, व्याप्नोति वा स आत्मा' निरन्तर कर्मफल प्राप्त करने के कारण आत्मा शब्द का अर्थ जीवात्मा होता है तथा सर्वत्र व्यापक होने के कारण आत्मा शब्द का अर्थ परमात्मा होता है।

निरुक्त (३।१५) में आत्मा का निर्वचन निम्न प्रकार दिया गया है—

आत्माऽततेर्वा आप्तेर्वा अपि वा आप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तीभूत इति।

[क] आत्मा अतते – आत्मा सतत् गतिमान है, सक्रिय है।

[ख] आप्तः वा — परमात्मा सर्वव्यापक है।

[ग] आप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तीभूतः इति—यद्यपि जीवात्मा सर्वव्यापक नहीं है परन्तु जितना व्याप्तीभूत है उससे वह व्याप्त सा है। तात्पर्य यह है कि जीव जिस छोटे या बड़े शरीर में विद्यमान रहता है उस शरीर के रोम-रोम में जीवात्मा की शक्ति व्यापक रहती है।

आत्मा शब्द 'अत् सातत्यगमने' धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है। अतः आत्मा का शाब्दिक अर्थ है, सतत् गतिशील, प्रयत्नशील तथा ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा वाला क्योंकि गति के तीन प्रमुख अर्थ होते हैं गम्यते, ज्ञायते, प्राप्यते अर्थात् मार्ग में जाना या चलना, जानना, तथा प्राप्त करना।

(शश्वन्ता) संसार प्रवाह से सनातन चलने वाले, (विषूचीना, विश्व गामिनौ) सर्वत्र गमन करने वाले, (वियन्ता, बहुगामिनौ) नाना प्रकार से गमन करने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा तथा शरीर विश्व में भिन्न-भिन्नप्रकार से चलने वाले हैं, कोई प्राणी रेंगता है, कोई कूदता है, कोई फुदकता है, कोई उड़ता है। इसीलिए इन्हें बहुगामी कहा गया है। इसी

प्रकार कोई प्राणी आकाश में, कोई जल में, तथा कोई पृथ्वी पर चलता है, इसीलिए इन्हें विश्वगामी कहा गया है। (अन्यं निचिक्युः) इनमें से एक अर्थात् शरीर को लोग जानते हैं (अन्यम् न निचिक्युः) और दूसरे अर्थात् आत्मा को नहीं जानते हैं।

संक्षेप में मन्त्र का भावार्थ यह है, कि जीवात्मा अपनी धारण शक्ति से सर्वत्र गमन करता है और अपने कर्मों के फल के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों के नाशवान शरीरों में प्रवेश करके सम्बन्धित योनि के प्राणी के अनुसार व्यवहार करता है। शरीर तथा आत्मा मिलकर संसार प्रवाह के कारण शाश्वत गतिमान रहने वाले, सर्वत्र गमन करने वाले तथा नाना प्रकार से गमन करने वाले हैं।

कठोपनिषद् में आत्मा का वर्णन करते हुये इस भाव को निम्न प्रकार दिया गया है—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥

कठ २।२।२।

(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीव (शुचिषद्) शुद्ध देश में रहने वाला, (वसुः) विभिन्न योनियों में वास करने वाला, (अन्तरिक्षषद्) अन्तरिक्ष में रहने वाला, (होतः) यज्ञ-कर्ता, (वेदिषद्) स्थलचारी (अतिथिः) अतिथि के समान कुछ समय के लिए आने वाला (दुरोणसत्) कुटी में रहने वाला, (नृषद्) मनुष्य शरीर धारी, (वरसद्) श्रेष्ठ शरीर धारी, (ऋतसत्) सत्य नियमों में रहने वाला, (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला, (अब्जाः) जलचर, (गोजाः) पृथिवी में उत्पन्न होने वाला (वृक्षादि) (ऋतजाः)

सदा नियम से उत्पन्न होने वाला, (अद्रिजा:) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला, (ऋतम् बृहत्) महान् सत्य है, अर्थात् सत्य स्वरूप है।

'अमर्त्य: मर्त्येन सयोनि:' के भाव को श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न प्रकार वर्णित किया गया है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक: ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

श्वेता० । ५ । १०

यह जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष है और न ही यह नपुंसक है। जिस शरीर को यह प्राप्त करता है उसी के साथ युक्त होकर रहता है उसी की तरह व्यवहार करता है।

जिस प्रकार परमात्मा असीमित रूप से सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वश्रोता आदि है उसी प्रकार जीवात्मा अपने सीमित क्षेत्र में दृष्टा, श्रोता घ्राता, आदि है, जैसा कि प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष: । स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।

प्रश्न । चतुर्थ प्रश्न । ९

(हि) निश्चय ही (एष: पुरुष:) यह जीवात्मा (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला, (रसयिता) चखने वाला, (मन्ता) मनन करने वाला, (बोद्धा) जानने वाला, (कर्ता) कर्म करने वाला तथा (विज्ञानात्मा) ज्ञानस्वरूप है। (स:) वह (यह जीवात्मा) (परे अक्षरे आतमनि) अपने से भी सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ अविनाशी परमात्मा में (सम्प्रतिष्ठते) स्थित रहता है।

शरीर में रहता हुआ यह जीवात्मा मन तथा इन्द्रियों की सहायता से ही विषयों का भोग करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।

गीता १५ । ९

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, नासिका तथा मन को आश्रय बनाकर अर्थात् इनके माध्यम् से ही विषयों का सेवन करता है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जहाँ एक ओर परमात्मा तथा आत्मा के अनेक गुण भिन्न-भिन्न हैं, वहीं दूसरी ओर उनके कुछ गुण समान भी हैं और इन समान गुणों में केवल परिमाण अथवा मात्रा का भेद है। यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि परमात्मा तथा आत्मा में पिता - पुत्र का सम्बन्ध है और आत्मा, परमात्मा से पूर्णतया भिन्न कोई वस्तु अथवा तत्व नहीं है, बल्कि परमात्मा का ही अंश है, जैसा कि अनेक वेद मन्त्रों, उपनिषद वाक्यों तथा गीता आदि के श्लोकों से स्पष्ट है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।

गीता १५ । ७

(जीवलोके) इस शरीर में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही प्रकृति में स्थित मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को आकर्षित करता है अर्थात् आत्मा के साथ ही मन तथा इन्द्रियों की शक्तियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं और उसी के आश्रय से कार्य करती हुयी स्थित रहती हैं।

ऐतरेय उपनिषद् में इसका वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है,

जिसका उद्धरण पहले ही दिया जा चुका है।

भगवान ने समस्त देवों को शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में रहने के लिये नियुक्त कर दिया और यह देव तदनुसार शरीर में प्रविष्ट कर गये। अग्नि वाणी होकर मुख में प्रवेश कर गया, वायु प्राण होकर नासिका में प्रवेश कर गया आदि।

तब परमात्मा ने विचार किया कि मेरे बिना यह शरीर कैसे रह सकेगा, वाणी कैसे बोल सकेगी, प्राण कैसे प्राणित हो सकेगा, चक्षु कैसे देख सकेंगे, मन कैसे ध्यान कर सकेगा, अपान कैसे अन्न ग्रहण कर सकेगा, शिश्न कैसे त्याग कर सकेगा अर्थात् विभिन्न इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य कैसे कर सकेंगी? तब उसने अपने अंश को जीवा-आतमा के रूप में शरीर में प्रविष्ट करा दिया।

उस आत्मा ने मूर्धा अर्थात् सिर के ऊपरी भाग को विदीर्ण करके, उस छिद्र के द्वारा शरीर में प्रवेश किया। आत्मा के प्रवेश के इस द्वार को विदृति द्वार कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गर्भ में शरीर बन जाने के बाद ही आत्मा उस शरीर में प्रवेश करता है।

उक्त अत्यन्त सुन्दर आलंकारिक वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार समस्त देवों के अंश शरीर के भिन्न- भिन्न अवयवों में परमात्मा के शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय सत्य नियमों के अनुसार कार्य कर रहे हैं, उसी प्रकार भगवान ने इन सब अङ्गों को जीवन देने और उन पर नियंत्रण करने के लिए आत्मा रूपी अपने अंश को शरीर में प्रवेश कराया और स्वयं अपने सर्वव्यापकत्व से शरीर में व्याप्त होकर आत्मा को आधार प्रदान किया।

आत्मा के, परमात्मा से प्रकट होने का स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में निम्न प्रकार किया गया है।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।

तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ।।

अथर्व । ४ । १४ । १

(हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) निश्चय ही ब्रह्म के तेज से अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ । (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने सर्वप्रथम अपने उत्पन्न करने वाले परमपिता परमात्मा को देखा । (अग्रे तेन देवा देवतां आयन्) प्रारम्भ में उसी की महिमा से देव देवत्व को प्राप्त हुए । (तेन मेध्यासः रोहान् रूरुहुः) देव उसी से पवित्र बनकर उच्च स्थानों को प्राप्त होते हैं ।

परमात्मा तथा आत्मा की अभिन्नता के प्रमाण में वेद का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सुप्रसिद्ध निम्नांकित मंत्र विशेष रूप से विचारणीय है, जिसमें स्पष्टरूप से कहा गया है कि स्वयं परमात्मा ही गर्भ में प्रवेश करके अनेक रूपों में जन्म लेता है ।

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।

तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।

यजु ३१ । १९

(प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः) प्रजापति गर्भ के अन्दर प्रवेश करता है तथा (अजायमानो बहुधा विजायते] अजायमान होते हुए

भी बहुत प्रकार से जन्म लेता है । धीर पुरूष उसके स्वरूप को अच्छे प्रकार से देखते हैं। (तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा) उसी में समस्त लोक स्थित हैं ।

मंत्र के अन्तिम अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ प्रजापति का अर्थ परमात्मा है, प्राण अथवा जीवात्मा नहीं ।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥

अथर्व १० । ८ । १३

(प्रजापतिः अदृश्यमानः गर्भे अन्तः चरति) प्रजापति अदृश्य होता हुआ गर्भ के अन्दर सञ्चार करता है और [बहुधा विजायते] अनेक प्रकार से जन्म लेता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भाग से अर्थात् अपने एक अंश से ही वह सब भुवनों को उत्पन्न करता है। (यत् अस्य अर्ध सः कतमः केतुः) जो इसका दूसरा आधा भाग है उसका चिह्न क्या है ? अर्थात उसके विषय में कैसे जाना जा सकता है ?

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न गुणों वाला होते हुए भी वास्तव में उसी का छोटा रूप है उसी का पुत्र है, उसी का अंश है ।

प्रजापति का अर्थ प्राण करते हुये भी इस मन्त्र का अर्थ किया जाता है किन्तु ऐसा करने में भी प्राण वास्तव में ब्रह्म का ही बाचक होता है क्योंकि प्राण की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । शरीर में प्राण आत्मा पर आधारित है तथा ब्रह्माण्ड में समष्टि प्राण परमात्मा पर आधारित है, उसी की जीवनी शक्ति का प्रतिनिधित्व

करता है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स ऽउ गर्भे अन्तः ।

सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

यजु ३२। ४

(जनाः) हे पुरुषो ! (एषः ह देवः) यह प्रसिद्ध प्रकाशस्वरूप परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः अनु) समस्त दिशाओं में अनुकूलता से व्याप्त है, (सः ह पूर्वः जातः) वही सर्वप्रथम प्रकट हुआ था, (स उ गर्भे अन्तः) वही ब्रह्माण्ड रूपी गर्भ में अन्तर्यामी रूप से स्थित है, (स एव जातः)वही इस जगत के रूप में प्रकट हुआ है (स जनिष्ययाणः)और वही भविष्य में भी प्रकट होने वाला है अथवा वही पहले समस्त प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ था और वही भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है (सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति) सब ओर मुखवाला वह समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर स्थित है।

श्वेताश्वतर उपनिषद (२। १६) में यह मन्त्र कुछ पाठ भेद के साथ आया है। वहाँ 'जनोस्तिष्ठति' के स्थान पर 'जनास्तिष्ठति' आया है। अतः वहां इसका अर्थ है —

सब ओर मुखवाला यह परमात्मा समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। यही निष्कर्ष निम्नांकित मंत्र से भी निकलता है :—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।

श्वेता ४। ३ अथर्व १०। ८। २७

हे परमात्मन् ! आप ही स्त्री हैं, आप ही पुरुष हैं, आप ही कुमार हैं और आप ही कुमारी हैं। आप ही वृद्ध होने पर दण्ड के सहारे चलते हैं और आप ही अनेक प्रकार से संसार में उत्पन्न होते हैं अर्थात् संसार के समस्त प्राणी आप ही का रूप हैं।

यही कारण है कि वेदों तथा उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए एक ही प्रकार के शब्दों जैसे आत्मा तथा पुरुष का प्रयोग बहुधा होता है। इसी प्रकार इन्द्र, सुपर्ण, मातरिश्वा आदि शब्दों का प्रयोग भी दोनों के लिये होता है।

जो भगवान की उपासना करते हैं, वे उससे पवित्र होकर उच्च अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। परमात्मा के तेज से उत्पन्न होने के कारण यह जीवात्मा अमृत पुत्र है और अपने पिता के समान बनने की क्षमता रखता है। इसने उत्पन्न होते समय अपने पिता का दर्शन किया किन्तु बाद में संसार की स्वर्णमयी मायानगरी में फंसकर उससे विमुख हो गया।

पृथिवी लोक से ब्रह्मलोक को पहुँचना, सत् से सच्चिदानन्द होना यही आत्मा का लक्ष्य है। जीवात्मा का अर्थ ही है प्राण धारण करने वाला आत्मा जिसके स्वाभाविक गुण हैं, कर्म तथा ज्ञान। सांसारिक माया मोह में फंसा हुआ यह जीव अपने पिता के पास रहते हुए भी वास्तव में उससे बहुत दूर रहता है। इसी कारण इस द्वैत की स्थित से अद्वैत की ओर जाना ही प्रत्येक जीवात्मा का परम उद्देश्य है।

वेद में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है —

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् ।।

अथर्व ।४।१४।३

पृथिवी के पृष्ठ भाग अर्थात् पृथिवी से मैं अन्तरिक्ष लोक पर चढ़ गया (अन्तरिक्षात दिवं आरुहम्) अन्तरिक्ष से द्युलोक पर चढ़ गया, (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) सुखमय द्युलोक के पृष्ठभाग से (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने परमानन्द स्वरूप ज्योति को प्राप्त किया।

यह उच्चता स्थान से नहीं बल्कि अवस्था से है । आत्मा परमात्मा से ही प्रकट हुआ है । वह उसी का पुत्र है । अतः अपने परमपिता के पास पहुँचने और अपने पिता के समान बनने का उसका लक्ष्य न तो अस्वाभाविक है और न अप्राप्य, किन्तु ऐसा परमात्मा की कृपा से ही हो सकता है । ब्रह्म का दर्शन उसकी कृपा के बिना नहीं हो सकता ।

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

कठोपनिषद १ । २ । २३ मुण्डक ३ । २ । ३

यह आत्मा न प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत ज्ञानोपदेश सुनने से प्राप्त होता है प्रत्युत जिसे यह स्वीकार कर लेता है, चुन लेता है उसी को प्राप्त होता है; उसी के लिए यह अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है, उसी को दर्शन देता है ।

यजुर्वेद के अन्तिम मन्त्र में अद्वैत की स्थिति का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥

॥ यजु । ४० । १७ ॥

(सत्यस्य मुखम् हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितम्) सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढंका हुआ है, (यो असौ आदित्ये पुरुषः) जो वह आदित्य में पुरुष है अर्थात् पूर्ण परमात्मा है, (सः असौ अहम्) वही (असौ) प्राणों में रहने वाला मैं हूँ। (ओ३म खम् ब्रह्म) आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म ओ३म् है, अर्थात् ओ३म् पद वाच्य है।

इसी आधार पर योग दर्शन में कहा गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः

॥ योग दर्शन । समाधिपाद । २७ ॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि जो पुरुष अर्थात् ब्रह्म आदित्य में है, वही मैं हूँ। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा तात्विक रूप से परमात्मा से भिन्न नहीं है, बल्कि उसी का अंश है।

मन्त्र का भावार्थ यह है कि सत्य का मुख सांसारिक चकाचौंध तथा मायारूपी स्वर्णमयी ढक्कन से ढका हुआ है। जब तक यह ढक्कन नहीं हटता तब तक आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता किन्तु जब भगवान् की कृपा से माया मोह का

चकाचौंध करने वाला स्वर्णमयी ढक्कन हट जाता है तब पुरुष को आत्म स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाता हैं।

जब जीवात्मा ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, पुण्यकर्म एवं ज्ञान के द्वारा अपनी सतत् उन्नति करते हुये भगवान् की कृपा का पात्र हो जायेगा और जब भगवान् की कृपा से सत्य के ऊपर से सांसारिक वैभव, चकाचौंध और मायामोह का स्वर्णमयी आवरण हट जायेगा, तब जीवात्मा को परम सत्य का दर्शन हो सकेगा और तब आत्मा को ज्ञान होगा कि (यः असौ आदित्ये पुरुषः सः असौ अहम्) जो वह आदित्य में पुरुष है, सर्वव्यापक ब्रह्म है, वही प्राणों में वसने वाला मैं हूँ, मैं भी उसी का अंश हूँ।

आत्मा एवं परमात्मा की भिन्न भिन्न सत्ता होते हुये भी आत्मा जब अपनी उन्नति करते हुये परमात्मा, जो कि वास्तव में उसका पिता है, के समीप पहुँच जाता है तब यह द्वैत की स्थिति समाप्त होकर अद्वैत की स्थिति हो जाती है। इस प्रकार द्वैत एवं अद्वैत आत्मा की भिन्न भिन्न स्थितियों के परिचायक हैं किन्तु उक्त वास्तविकता को न समझ सकने के कारण हम लोग द्वैत तथा अद्वैत के विवाद में पड़े रहते हैं।

आत्मा की यह स्थिति चतुर्थ पाद में होती है जिसका वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

॥ माण्डूक्य उप०। ७॥

(न अन्तः प्रज्ञम्) न भीतर की ओर प्रज्ञा वाला (न बहिः

प्रज्ञम्) न बाहर की ओर प्रज्ञावाला, (न उभयतः प्रज्ञम्) न भीतर और बाहर दोनों ओर प्रज्ञा वाला, (न प्रज्ञानघनम्) न उत्कृष्ट प्रज्ञावाला, (न प्रज्ञम्) न प्रज्ञावाला, (न अप्रज्ञम्) न प्रज्ञा रहित, (अदृष्टम्) अदृष्ट, (अव्यवहार्यम्) व्यवहार में आने के अयोग्य, (अग्राह्यम्) अग्राह्य (अलक्षणम्) लक्षणों से रहित (अचिन्त्यम्) अचिन्तनीय, (अव्यपदेश्यम्) अनिर्वचनीय, (एकात्मप्रत्ययसारम्) एकात्म प्रत्ययसार अर्थात् वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है, (प्रपञ्चोपशमम्) प्रपञ्च अर्थात् जाग्रतादि अवस्थाएं जहाँ शान्त हो जाती हैं, (शान्तम्) शान्त, (शिवम्) कल्याणमय और आनन्दमय, (अद्वैतम्) अद्वैत, (चतुर्थम्) चौथा, तुरीयपाद (मन्यन्ते) मानते हैं; (स) (आत्मा) वह आत्मा है, और [सः विज्ञेयः] वही जानने के योग्य है।

इसीलिये माण्डूक्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही कह दिया गया है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

माण्डूक्य। २।

[हि] निश्चय ही [एतत् सर्वम् ब्रह्म] यह सब ब्रह्म ही है। [अयम् आत्मा ब्रह्म] यह आत्मा ब्रह्म है। [सः अयम् आत्मा चतुष्पात्] वह यह आत्मा चार पाद वाला है।

शान्तम् शिवम् अद्वैतम् की यह स्थिति आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है जिसमें उसका ब्रह्म से एकाकार हो जाता है, कोई द्वैत नहीं रहता।

माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा के पाद तथा ओंङ्कार की मात्राओं की एक रूपता दिखाते हुए कहा गया है:—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।

॥ माण्डूक्य उप० । ८ ॥

(सः अयम् आत्मा) वह यह आत्मा (अधि अक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है, वह अक्षर ओङ्कार है और वह ओङ्कार (अधिमात्रम्) मात्राओं में अधिष्ठित है। (पादाः मात्राः) पाद मात्राएं हैं, और (मात्राः पादाः) मात्राएं पाद हैं; ओङ्कार की मात्राएं (अकारः उकारः मकारः इति) अकार, उकार और मकार हैं।

आत्मा के पाद तथा ओङ्कार की मात्राओं आदि की एकरूपता का विवरण

आत्मा के पाद--	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद
१- अवस्था	जागृत अवस्था	स्वप्नावस्था	सुषुप्तावस्था	अव्यवहार्य
	बाह्य	मध्यम	आभ्यन्तर	प्रपञ्चोपशमं
२- नाम	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ	शिवं
३- सम्बन्धित वेद	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
४- ओङ्कार की मात्राएं	अकार	उकार	मकार	अमात्र
५- व्याहृतियाँ	भूः	भुवः	स्वः	महः
६- स्वरूप	सत्	चित्	आनन्द	सच्चिदानन्द
७- लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	ब्रह्मलोक
८- भाव	व्याप्ति	उत्कर्ष	मापना	अनिर्वचनीय
	आदिमत्व	उभयत्व	एकीभाव	अद्वैतम्

इसी चतुर्थ अवस्था अथवा मोक्ष का वर्णन करते हुये यजुर्वेद (३२।११) में कहा गया है (आत्मना आत्मानम् अभिसंविवेश) आत्मा से परमात्मा में प्रवेश करता है। यही अद्वैत एवं मोक्ष की स्थिति है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है--

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु।

॥ तैत्तिरीय उप०। भृगुवल्ली। अनु० १० ॥

(सः यः च अयम् पुरुषे यः च असौ आदित्ये) वह जो इस पुरुष (मनुष्य शरीर) में है और जो उस आदित्य में है, (सः एकः) वह एक ही है। (सः यः एवं वित्) वह जो ऐसा जानता है, (अस्मात्) लोकात् प्रेत्य) इस लोक से मर कर (एतम् अन्नमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य) इस अन्नमय कोश से आगे बढ़कर, (एतम् प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य) इस प्राणमय कोश से आगे बढ़कर, एतम् मनोमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य) इस मनोमय कोश से आगे बढ़कर, (एतम् विज्ञानमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य) इस विज्ञानमय कोश से आगे बढ़कर, (एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य) इस आनन्दमय कोश से आगे बढ़कर, (इमान् लोकान् कामन्नी कामरूपी अनुसंचरन्) कामना के अनुसार अन्न प्राप्त करता हुआ, इच्छा के अनुसार रूप धारण करता हुआ इन लोकों में विचरता हुआ (एतत् साम गायन् आस्ते) यह सामगान करता हुआ जहाँ चाहे रहता है। (हा३वु, हा३वु, हा३वु) अहो तेरी रचना, अहो तेरी महिमा, अहो

तेरी अलौकिकता। अथवा अहा कितना आनन्द है! अहा कैसा आनन्द है! अहा कैसा आनन्द है! तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है।

मोक्ष की स्थिति का वर्णन मुण्डकोपनिद् में निम्न प्रकार दिया गया है--

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

॥ तृतीय मुण्डक। द्वितीय खण्ड। ८॥

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से बिमुक्त होकर परात्पर पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

कठ० २।१।१५

(गौतम) हे नचिकेता! (यथा शुद्धे आसिक्तम् शुद्धं उदकम्) जिस प्रकार निर्मल जल में, मेघों द्वारा बरसाया गया शुद्ध जल अथवा किसी अन्य प्रकार से डाला गया शुद्ध जल मिलकर (तादृक् एव भवति) उसी प्रकार का हो जाता है, निर्मल जल के साथ एक रूप हो जाता है, (एवं विजानतः मुनेः आत्मा भवति) उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी मुनि का आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है, तादात्म्य को प्राप्त करके ब्रह्म में तल्लीन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे शुद्ध जल में शुद्ध जल मिल जाता है उसी प्रकार मुक्त आत्मा

ब्रह्म में मिल जाता है ।

ब्रह्म साक्षात्कार का फल:-

इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन मुण्डकोपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

॥ मुण्डक । २ । २ । ८ ।

उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं और इस जीवात्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है ।

ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है इसका वर्णन यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है:—

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ।

॥ यजु० । ३२ । १२

द्युलोक और पृथिवी लोक में सब ओर से प्राप्त होकर अथवा सब ओर घूमकर, लोकों और दिशाओं को सब ओर से देखकर, (परि स्वः) आत्म स्वरूप को भली प्रकार जानकर तथा सत्य के चारो ओर फैले हुये ब्रह्म रूपी धागे को भली प्रकार जानकर सुधी भक्त ने (तदपश्यत्) ब्रह्म का दर्शन किया और ऐसा करने पर वह आत्मा

(तदभवत्) वही हो गया (तदासीत्) जो वह पहले था।

इस प्रकार इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा पहले ब्रह्म ही था और ब्रह्म का अंश होकर संसार में उत्पन्न हुआ था तथा फिर ब्रह्म का दर्शन करके ब्रह्म ही हो गया।

मन्त्र का भाव यह है कि जब ज्ञानी पुरुष यथाशक्ति सब दिशाओं, सब लोकों तथा सब स्थानों में घूमकर ब्रह्म की अनन्त महिमा, उसके भिन्न भिन्न रूप तथा उसके द्वारा बनाया गया यह विस्तृत जगत् देखता है, तो उसे यह ज्ञान होता है कि ब्रह्म रूपी तन्तु अथवा सूत्र सर्वत्र फैला हुआ है, और वही सब प्राणियों, पदार्थों, लोकों, कलाओं तथा शक्तियों आदि को एक सूत्र में पिरोकर, समन्वित कर इस कालचक्र एवं संसार चक्र को व्यवस्थित रूप से चला रहा है। जब इस ज्ञानी को ब्रह्म की कृपा से उसके दर्शन हो जाते हैं, तो वह ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, ब्रह्म ही हो जाता है। तब आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता, द्वैत समाप्त हो जाता है।

इस तथ्य को मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा कहा गया है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।

मुण्डक ३। २। ९

निश्चय ही वह जो उस ब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने निम्न प्रकार कहा है:—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई;
जानत तुम्हहिं तुमहिं होइ जाई।

रा. मानस. अयोध्याकाण्ड १२६। ३

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

॥ यजु० । ४० । ८ ॥

(सः परि अगात्) वह सर्वव्यापक, (शुक्रम्) वीर्यवान्, सर्वशक्तिमान्, तेजस्वी (अकायम्) शरीर रहित, निराकार, (अव्रणम्) किसी प्रकार के घाव अथवा छिद्र आदि से रहित, अक्षत, (अस्नाविरम्) स्नायु-तन्तु आदि से रहित, (शुद्धम्) पवित्र, निर्मल (अपापविद्धम्) पाप रहित, (कविः) क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, त्रिकालदृष्टा, (मनीषी) मन पर शासन करने वाला, समस्त प्राणियों के मन की वृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) सर्वोपरि, सर्व नियन्ता, (स्वयम्भूः) स्वयं ही प्रकट होने वाला, स्वयं अपनी ही सत्ता तथा शक्ति से स्थित रहने वाला (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत रूप से अनादि काल से (याथातथ्यतः) ठीक ठीक, यथायोग्य, यथार्थ भाव से (अर्थान् व्यदधात्) समस्त पदार्थों अथवा कार्यों की व्यवस्था करता है।

अथवा (अर्थान् व्यदधात्) जीवों के कर्मफलों का विधान करता है।

भगवान् के गुणों का वर्णन करने वाला यह अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्र है। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परम तेजस्वी, निराकार, शरीर से सम्बन्धित कोई घाव अथवा छिद्र आदि दोषों से रहित, स्नायु-तन्तु आदि से रहित, पवित्र, पापरहित क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, मनीषी, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता एवं स्वयम्भू है तथा समस्त पदार्थों एवं कार्यों की यथायोग्य ठीक ठीक व्यवस्था करता है

अथवा समस्त जीवों के कर्मफलों का यथायोग्य समुचित विधान करता है।

वह अपनी अनन्त सम्पदा का समस्त प्राणियों में यथोचित विभाजन एवं वितरण करता है, जैसा कि यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में कहा गया है।

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।

सवितारं नृचक्षसम्॥

॥ यजु० । ३० । ४ ॥

(वसोः) समस्त संसार जिनमें और जिनके आधार पर वसता है, ऐसे जगन्निवास, (चित्रस्य राधसः विभक्तारम्) भिन्न भिन्न प्रकार के विचित्र धनों एवं अन्य समस्त पदार्थों का यथोचित विभाग करने वाले तथा समस्त जीवों को उनके कर्मों का यथायोग्य फल देने वाले (सवितारं) समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले तथा उनका पालन पोषण करने वाले (नृचक्षसम्) सर्वदृष्टाप्रभु की हम (हवामहे) प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं, उपासना करते हैं।

भगवान् की सम्पदा विविध प्रकार की है और अनन्त है। धन का अर्थ केवल रुपया पैसा अथवा सोना चाँदी ही नहीं है। भगवान् के सहस्रों दानों में, नीरोगता, स्वास्थ्य, आयु, सुख, मित्र, जीवन-साथी सन्तान, यश, कीर्ति, तेज, ज्ञान आदि तथा वायु, जल, अग्नि आदि अगणित पदार्थ हैं जिनका यथा योग्य विभाजन तथा प्रबन्ध भगवान् के शाश्वत अपरिवर्तनीय सत्य नियमों के अनुसार होता है। वह हर कार्य की व्यवस्था ठीक ठीक करता है, शरीर में कहाँ नाक होनी चाहिये और कहाँ आँख। सूर्य, चन्द्र आदि कब और कैसे उदय हों, वायु कैसी और किस प्रकार चले, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि कैसे अपने

अपने स्थान पर अपना कार्य करें, संसार में जीवन कैसे रहे, विभिन्न प्राणियों तथा वृक्षों, नदियों, पर्वतों समुद्रों आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों के लिए किस वस्तु की आवयकता है, उसकी सही सही व्यवस्था करना, यह उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक सर्वेश्वर ब्रह्म का ही स्वाभाविक सामर्थ्य है जिसका वर्णन उपनिषद् के इस मन्त्र में किया गया है।

स पर्यगात्–परितः सर्वतः अगात् गतवान्, प्राप्तवान् अस्ति। अर्थात् वह ब्रह्म सर्वव्यापक है, वह जगत् के कण-कण में, प्रत्येक परमाणु तथा उससे भी सूक्ष्म कण में बसा हुआ है। उससे न कुछ बाहर है और न अव्याप्त, जैसा कि निम्नांकित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है:—

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति

यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।

प्रजापतिःप्रजया स ꣳरराणस्त्रीणि

ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥

॥ यजु०। ८। ३६॥

(यस्मात् परः अन्यः जातः न अस्ति) जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई उत्पन्न नहीं हुआ है, (य आविवेश भुवनानि विश्वा) जो समस्त भुवनों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर व्याप्त है, (स षोडशी प्रजापतिः प्रजया संरराण) ऐसे उस सोलह कलाओं से युक्त समस्त जगत् के पालन कर्ता, रक्षक तथा स्वामी ने सभी प्राणियों को अत्यन्त सुख

प्रदान करते हुए (त्रीणि ज्योतींषि सचते) सूर्य, विद्युत तथा अग्नि रूपी तीन ज्योतियों को रचकर, प्रजा को प्रकाश तथा जीवन देने के लिये संसार के साथ संयुक्त किया है।

प्रश्नोपनिषद् में इन सोलह कलाओं का विवरण निम्न प्रकार दिया गया है—

स प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।

॥ प्रश्न। ६।४॥

उसने १- प्राण को उत्पन्न किया, और क्रमशः प्राण से श्रद्धा ३- आकाश, ४- वायु, ५- अग्नि, ६- जल, ७- पृथिवी ८- इन्द्रिय ९- मन १०- अन्न ११- अन्न से वीर्य १२- तप १३- मन्त्र १४- कर्म १५- लोक तथा लोकों में १६- नाम उत्पन्न किया।

शुक्रम्

ईश्वर, शुक्र अर्थात् वीर्यवान् तथा शुद्ध है। इस विषय में एक अत्यन्त सुन्दर प्रार्थना मन्त्र पाठकों द्वारा स्मरण किये जाने के लिए दिया जा रहा है।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता

भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्।

॥ अथर्व। १७।१।२०॥

हे प्रभो! (शुक्रः असि भ्राजः असि) आप वीर्यवान्, प्रकाशमान्

शुद्ध तथा तेजस्वी हैं। हे प्रभो! (स यथा त्वं भ्राजता भ्राजः असि) जैसे आप परम तेज से देदीप्यमान होते हैं, (एव अहम्) उसी प्रकार मैं (भ्राजता भ्राज्यासम्) तेज से तेजस्वी बनूँ, प्रकाशमान् बनूँ, मेरा जीवन ज्योतिर्मय हो।

'अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्'

परमात्मा शरीर रहित, निराकार है। शरीर न होने के कारण उसमें व्रण आदि विकार नहीं हो सकते और न उसमें कोई स्नायु आदि ही सम्भव हैं।

यह भाव अनेक श्लोकों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

।। कठ । १ । ३ । १५ ।।

(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अरसम् तथा च अगन्धवत्) शब्द रहित होने के कारण कान से नहीं सुना जा सकता, शरीर रहित होने के कारण स्पर्श नहीं किया जा सकता, रूप रहित अर्थात् निराकार होने के कारण देखा नहीं जा सकता, जिह्वा से चखा नहीं जा सकता और नाक से सूँघा नहीं जा सकता, (अव्ययम् नित्यम् अनादि अनन्तम्) तथा जो अविनाशी, नित्य, एकरस, अनादि अनन्त (महतः परं ध्रुवम्) महानतम श्रेष्ठ तथा ध्रुव है अथवा महत्तत्व से भी सूक्ष्म श्रेष्ठ एवं अचल है, (तम् निचाय्य) उसे निश्चयात्मक रूप से जानकर (मृत्युमुखात् प्रमुच्यते) पुरुष मृत्यु के मुख से अथवा जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।

।। गीता । १३ । १४ ।।

परमात्मा में समस्त इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है अर्थात् वह इन्द्रियों से सम्बन्धित समस्त कार्य करने में सक्षम है किन्तु उसमें कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह आसक्ति से रहित (निर्गुणम् एव) निर्गुण अथवा गुणों से अतीत होता हुआ भी (सर्वभृत् गुणभोक्तृ च) सबका पालन पोषण करने वाला तथा सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का उपभोग अथवा उपयोग करने वाला है। उसी ने इन तीनों गुणों को उत्पन्न करके तथा उन्हें प्रकृति के साथ संयुक्त करके समस्त सृष्टि का निर्माण किया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह श्लोक निम्न प्रकार आया है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।।

।। श्वेता । उप० । ३ । १७ ।।

समस्त इन्द्रियों की शक्तियों से युक्त होते हुए भी परमात्मा इन्द्रियों से सर्वथा रहित हैं। वह समस्त चराचर जगत् का नियामक एवं स्वामी है तथा समस्त भूतों एवं लोकों आदि का अत्यन्त महान आश्रय एवं शरण देने वाला है।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।

श्वेता. ३ । १९

बिना हाथ पैर होते हुये भी वह समस्त वस्तुओं का ग्रहण करने वाला तथा (जवनः) वेग पूर्वक सर्वत्र गमन करने वाला है; वह चक्षु के बिना ही सब कुछ देखता है, कानों के बिना ही सब कुछ सुनता है, (सः वेद्यं वेत्ति) जो कुछ भी जानने योग्य है, उसे वह जानता है, किन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है, (तम् महान्तम् अग्र्यम् पुरुषम् आहुः) उसे महान, अग्रणी, सर्वश्रेष्ठ पुरुष कहते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

॥ श्वेता। ६। ८॥

उस ईश्वर के (कार्य तथा करण) शरीर तथा इन्द्रियाँ नहीं हैं, न कोई उसके समतुल्य है और न कोई उससे श्रेष्ठ है; उसकी अनेक प्रकार की दिव्य एवं अनन्त शक्तियों तथा स्वाभाविक ज्ञान, बल एवं क्रिया के सम्बन्ध में (विद्वानों से अथवा वेद शास्त्र से) सुना जाता है।

यहाँ यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि भगवान् का ज्ञान तथा बल और उसकी समस्त क्रियायें स्वाभाविक हैं, उनके लिए किसी प्रयास अथवा चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती।

मुण्कोपनिषद् में इस भाव का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है :—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

मुण्डक १। १। ६॥

(यत् तत् अद्रेश्यम्) वह जो अदृश्य तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति से परे है, (अग्राह्यम्) जो पकड़ा न जा सके, (अगोत्रम् अवर्णम्) जिसका कोई गोत्र नहीं है, कोई वर्ण अथवा रंग नहीं है, (अचक्षुःश्रोत्रम्) जिसके नेत्र, कान आदि इन्द्रियाँ नहीं है (अपाणिपादम्) जो बिना हाथ पैर के है, (सर्वगतम् सुसूक्ष्मम्) जो सर्वत्र व्यापक तथा अत्यन्त सूक्ष्म है, (तद् अव्ययम् नित्यम् विभुम्) उस अविनाशी, नित्य, व्यापक तथा (भूतयोनिम्) समस्त संसार की उत्पत्ति के कारण उस (ब्रह्म धीराः परिपश्यन्ति) ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में यह वर्णन निम्न प्रकार आया है :-

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाका-शमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमु-खममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥

बृहदा। ३। ८। ८॥

(स ह उवाच) वह प्रसिद्ध याज्ञवाल्क्य बोले (गार्गि) हे गार्गी ! ब्राह्मणाः) (एतद् वै तद् अक्षरं अभिवदन्ति) ब्रह्मवेत्ता निश्चय ही उसको अविनाशी कहते है, वह (अस्थूलम्) न स्थूल है, (अनणु) न सूक्ष्म है, (अह्रस्वम्) न छोटा है (अदीर्घम्) न बड़ा है, (अलोहितम्) वह लाल अथवा अन्य किसी रंग वाला नहीं है, वह (अस्नेहम्) स्नेह रहित, (अच्छायम्) छाया रहित (अतमः) तथा अन्धकार रहित है, (अवायु) वह वायु नहीं है (अनाकाशम) आकाश नहीं है, (असङ्गम्) वह सङ्ग रहित, (अरसम्) रस रहित (अगन्धम्) गन्धरहित (अचक्षुष्कम्) नेत्ररहित, [अश्रोत्रम्] श्रोत्र रहित, [अवाक्] वाणी

रहित [अमनः] मन रहित [अतेजस्कः] तेज रहित, [अप्राणम्] प्राण रहित, [अमुखम्] मुख रहित [अमात्रम्] तथा मात्रा रहित है, [अनन्तरम् अबाह्यम्] उसके न कुछ अन्दर है और न बाहर [तद् न किञ्चन अश्नाति] न वह कुछ खाता है [कश्चन तद् न अश्नाति] और न उसे कोई खाता है।

ईश्वर का कोई शरीर, रूप अथवा आकार नहीं है अतः उसकी कोई मूर्ति अथवा प्रतिमा नहीं हो सकती, जैसा कि निम्नांकित मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है :–

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।

हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः॥

यजु। ३२। ३

जिसका नाम स्मरण ही महान यश देने वाला है अथवा जिसके नाम का महान यश सर्वत्र फैला हुआ है तथा जिसका वर्णन 'हिरण्य-गर्भः' आदि, 'मा मा हिंसीद' आदि एवं 'यस्मान्न जातः' आदि मन्त्रों में किया गया है, उस ब्रह्म की कोई प्रतिमा, मूर्ति, प्रतिकृति अथवा आकृति नहीं है और न कोई उसके सदृश ही है।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का सन्दर्भ निम्न प्रकार है :–

हिरयगर्भः आदि	यजु०। २५। १०
यस्मान्न जातः आदि	यजु० ८। ३६
मा मा हिंसीद आदि	यजु। १२। १०२

प्रथम दो मन्त्र पूर्व ही दिये जा चुके हैं, तीसरा मन्त्र निम्न प्रकार है।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या

यो वा दिवंसत्यधर्मा व्यानट्।

यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु १२।१०२

[यः सत्यधर्मा] जो सत्यधर्मा प्रभु [पृथिव्याः जनिता] पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है, [वा यः दिवम् च अपः च चन्द्राः जजान व्यानट्] तथा जो द्यु लोक अथवा सूर्य, जल एवं वायु तथा चन्द्रमा को उत्पन्न करके उनमें व्याप्त होने वाला है, [प्रथमः मा मा हिंसीत्] ऐसा वह सर्वश्रेष्ठ परमात्मा मुझे किसी प्रकार भी दण्डित न करे मुझे किसी प्रकार की वेदना अथवा कष्ट न दे, [कस्मै देवाय हविषा विधेम] ऐसे सुख स्वरूप परमात्मा की हम भक्ति पूर्वक अपने अन्तःकरण से उपासना करें।

भगवान की प्रतिमा न होने का भाव श्वेताश्वतर उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥

श्वेता ४।१९

(निराकार होने के कारण) परमात्मा को कोई न ऊपर, न तिरछे, और न बीच से ही पकड़ सकता है। जिसका नाम महान् यश है अर्थात् जो स्वयं परम यशस्वी है, जिसके नाम का यश समस्त जगत् में फैला हुआ है और जिसके नाम का स्मरण, जप तथा संकीर्तन महान् यश देने वाला है, उस प्रभु की कोई प्रतिमा, मूर्ति, प्रतिकृति अथवा आकृति नहीं है।

अपापविद्धम्---प्राणियों के शरीरों तथा संसार के कण-कण में व्याप्त होने पर भी परमात्मा पाप से लिप्त नहीं होता। इस भाव को गीता तथा उपनिषदों में निम्न प्रकार दिया है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

॥ गीता। १३। ३१॥

हे कौन्तेय! अनादि तथा गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होते हुये भी न कोई कर्म करता है और न किसी प्रकार लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

॥ गीता। १३। ३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वत्र व्यापक होकर भी आकाश लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीरों में स्थित होता हुआ भी परमात्मा लिप्त नहीं होता।

कठोपनिषद् में यह भाव निम्न प्रकार दिया गया है:--

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।

।। कठ० २ । २ । ११ ।।

जैसे सूर्य समस्त संसार की चक्षु है, (क्योंकि समस्त प्राणा उसी की सहायता से देखते हैं) परन्तु वह नेत्रों के बाहरी दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समस्त भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित एकमात्र अद्वितीय परमात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता उनसे (बाह्यः) सर्वथा पृथक रहता है ।

कवि--परमात्मा सर्वज्ञ अथवा क्रान्तदर्शी है । इस भाव को गीता के इस अत्यन्त सुन्दर श्लोक में निम्न प्रकार कहा गया है:–

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।

।। गीता । ८ । ९ ।।

जो (कविं पुराणम् अनुशासितारम्) सर्वज्ञ, पुरातन, अथवा अनादि, सबका नियन्ता तथा शासक, (अणोः अणीयासम्) सूक्ष्मतर, सबका धारण-पोषण करने वाले तथा सब प्राणियों को अलग अलग उनके कर्मों का फल देने वाले, अचिन्त्यस्वरूप अर्थात् जिसके स्वरूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता, सूर्य के समान वर्ण वाले अर्थात् नित्यमेव प्रकामय वर्ण वाले, अज्ञान रूप अन्धकार से सर्वथा परे, परमात्मा का स्मरण करता है, वह उसी को प्राप्त होता है ।

वेद में कहा गया है—

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया

धीरतरो वरुण स्वधावन् ।

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ

स चिन्नु त्वज्जनो मायी विभाय ।।

अथर्व ५ । ११ । ४

(हे स्वधावान् वरुण) अपनी धारण शक्ति से युक्त हे श्रेष्ठ देव ! (त्वत् अन्यः कवितरः न) तुझसे अधिक अन्य कोई ज्ञानी नहीं है, (मेधया धीरतरः न) और न बुद्धि में कोई तुमसे अधिक धीर है । (त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ) तुम उन सब भुवनों को जानते हो, तुम सर्वज्ञ हो, अतः (सः मायी जनः) वह कपटी मनुष्य (त्वत् चित् नु विभाय) निश्चय ही तुमसे भयभीत रहता है ।

भगवान् के लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है, वह सर्वज्ञ, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होने के कारण सब लोगों के गुण दोषों को यथावत् जानता है । इसलिए कपटी तथा कुटिल उससे भयभीत रहते हैं ।

परिभूः—परमात्मा सब के ऊपर है अर्थात् सब से श्रेष्ठ है । इस गुण का वर्णन उपनिषदों में निम्न प्रकार किया गया है ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं

तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परमं परस्ताद्

विदाम देवं भुवनेशमीड्यम ।।

श्वेता. ६ । ७

ईश्वरों के भी परम ईश्वर अथवा महेश्वर, देवताओं के भी परम देवता, रक्षकों के भी परम रक्षक तथा समस्त भुवनों के स्वामी, उस स्तुति करने योग्य पूजनीय देव को ही हम श्रेष्ठ जानते हैं, अर्थात् उससे श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं है।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।

श्वेता० ६ । ९

संसार में कोई भी उस परमात्मा का स्वामी नहीं है (न च ईशिता) और न उसका कोई शासक है, उसका कोई विशेष चिह्न भी नहीं है। वह सबका परम कारण तथा समस्त उपकरणों, माध्यमों इन्द्रियों आदि के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है, उसका न तो कोई जनक है और न (अधिपः) स्वामी।

समस्त देव उस परमेश्वर के ही अधीन हैं, उसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता जैसा कि अथर्ववेद में अत्यन्त सुन्दर ढंग से कहा गया है :—

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।

तदेव मन्येऽहंज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ।।

अथर्व १० । ८ । १६

(यतः सूर्यः उदेति) जहाँ से सूर्य उदय होता है, (यत्र च अस्तं गच्छति) और जहाँ अस्त होकर जाता है, अर्थात् जो सूर्य

को उत्पन्न करता है और प्रलयकाल में सूर्य जिसमें लय हो जाता है, (तत् एव अहं ज्येष्ठं मन्ये) उसी को मैं ज्येष्ठ अर्थात् सबसे महान मानता हूँ, (तत् किंचन न अति एति) उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

इसी भाव को कठोपनिषद् में निम्न प्रकार कहा गया है :–

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।। एतद्वै तत् ।।

कठ० २ । १ । ९

सूर्य जहाँ से उदय होता है और अस्त होकर जहाँ जाता है अर्थात् जो सूर्य को उत्पन्न करता है और प्रलयकाल में सूर्य जिसमें विलीन हो जाता है, उसके प्रति सारे देव समर्पित हैं और (तत्-कश्चन न अत्येति) कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है।

ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, सभी देव उसी के आश्रय से तथा उसी के नियन्त्रण में कार्य करते हैं। इसका वर्णन अथर्ववेद में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है :–

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।

यत्राग्निश्चान्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।

अथर्व० १० । ७ । १२

(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः अन्तरिक्षं, द्यौः) पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक (अध्याहिता) आधारित हैं और (यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यः वाताः) जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य तथा वायु (अर्पिताः तिष्ठति) आश्रित होकर रहते हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि सः कतमः स्वित् एव) उस सर्वाधार के विषय में बता कि वह कौन सा है अथवा (ब्रूहि कतमः स्वित् एव सः) कहो वह कौन है ? उत्तर (तं स्कम्भं) उसे सर्वाधार कहते हैं ।

(शाश्वतीभ्यः समाभ्यः अर्थान् याथातथ्यतो व्यदधात्) ।

वह अनादिकाल से समस्त कार्यों, क्रियाओं एवं पदार्थों की ठीक-ठीक यथोचित व्यवस्था करता है । संसार कैसे उत्पन्न हो, कैसे जीवित रहे और कब तथा कैसे उसी में लय हो यह सब ठीक ठीक व्यवस्था ईश्वर द्वारा ही की जाती है । माँ के गर्भ में बच्चे के शरीर का निर्माण होना, बढ़ना और फिर जन्म लेना तथा बीज से अंकुर का निकलना आदि क्रियाओं से लेकर सम्पूर्ण जीवनचक्र, वर्षा चक्र आदि अनेकानेक क्रियाओं का नियन्त्रण करना, सूक्ष्म अणुओं से लेकर नक्षत्रों आदि को अपनी सही स्थिति, गति चक्र, आदि में रखना यह सब उसी की परम सामर्थ्य है । इसमें कभी लेशमात्र भी त्रुटि, विलम्ब अथवा प्रमाद नहीं होता अन्यथा समस्त ब्रह्माण्ड क्षण भर में ही नष्ट हो जाय । कैसी विलक्षण सामर्थ्य वाला नियन्त्रक प्रशासक, व्यस्थापक तथा रक्षक है वह ।

(अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) का अर्थ स्वामी दयानन्द जी ने निम्न प्रकार किया है ।

परमात्मा ने सृष्टि की आदि में सनातन जीव रूप अपनी प्रजा के कल्याणार्थ यथावत रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब सत्य अर्थों का, सत्य विद्याओं का उपदेश किया है । इसी प्रकार जब-जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है: तब तब प्रजा के हित के लिए सृष्टि के आदि में सब क्रियाओं से युक्त वेदों का उपदेश करता है और जब जब सृष्टि का प्रलय होता है, तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे

उनको सदैव नित्य मानना चाहिए।

स्वयम्भ्- यः स्वयं भवति स स्वयम्भू जो अपने आप से ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं होता वह परमात्मा स्वयम्भू है।

स्वयम्भू का अर्थ है स्वयं अपनी सत्ता पर स्थित रहने वाला। भगवान् अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहता है, उसे अन्य किसी आधार, सहायता, अथवा कारण की अपेक्षा नहीं है बल्कि वही सबका कारण तथा धर्ता एवं विधर्ता है।

भगवान को स्वयम्भू कहते हुए की गई निम्नांकित प्रर्थना कितनी सुन्दर है –

स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो

मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥

यजु० २। २६

हे परमेश्वर! (स्वयम्भूः श्रेष्ठः रश्मिः असि) आप स्वयम्भू, श्रेष्ठ तथा प्रकाशमान हैं, (वर्चोदा असि) आप ज्ञान एवं प्रकाश देने वाले है (मे वर्चः देहि) मुझे ज्ञान और प्रकाश दीजिये, मैं (सूर्यस्य आवृतं अन्वावर्ते) चराचर जगत के आत्मारूप सूर्य के नियमों को स्वीकार करता हूँ, उनका पालन करता हूँ। सूर्य के नियमो को पालन करने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य जगत् का कल्याण करने, प्राणिमात्र को जीवन एवं प्रकाश देने तथा सभी ग्रहों को अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें यथा स्थान रखने के अपने शाश्वत धर्म का पालन करता है, उसी प्रकार मैं भी जगत का कल्याण करने और यथा शक्ति सबको ज्ञान, सुख, प्रसन्नता एवं प्रेम देने का व्रत लेता हूँ।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्याया छंरताः ॥

बृहदा. । ४ । ४ । १० ॥ —— ॥ यजु० । ४० । १२ ॥

(ये अविद्यां उपासते) जो अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् जो अविद्या में रत रहते हैं, वे (अन्धं तमः प्रविशन्ति) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। (ततो उ भूय इव ते तमः) किन्तु वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं (ये विद्यायां रताः) जो केवल विद्या अर्थात् आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या ही में रत रहते हैं।

वेद का यह चौंकाने वाला आश्चर्यजनक मन्त्र वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसकी उपेक्षा करने से अथवा जिसे सही सही न समझ पाने के कारण देश की इतनी दुर्गति हुई है।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ समझने के लिए पहले विद्या तथा अविद्या का सही अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है।

'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वह है जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके। यह अर्थ इस उपनिषद् के इसी प्रकरण के तीसरे मन्त्र से भी स्पष्ट है, जिसमें कहा गया है 'विद्ययामृतमश्नुते।' अर्थात् विद्या से अमृत, अमरत्व अथवा मोक्ष प्राप्त होता है।

विद्या का उपरिलिखित अर्थ स्पष्ट हो जाने से यह भी स्पष्ट हो

जाता है कि ब्रह्मविद्या से भिन्न जो अन्य विद्याएं हैं, जैसे गणित, आधुनिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि वह सब अविद्या हैं।

इसको एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। संसार में केवल तीन प्रमुख तत्व हैं, परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति इन्हीं तीन तत्वों से होती है। अतः स्पष्ट है कि समस्त विद्यायें तथा समस्त ज्ञान भी इन्हीं तीनों से सम्बन्धित होगा किन्तु परमात्मा तथा आत्मा मूलतः एक ही हैं अतः समस्त ज्ञान तथा समस्त प्रकार की विद्याओं के निम्नांकित दो वर्ग हुये।

विद्या अथवा पराविद्या—जो परमात्मा तथा जीवात्मा के ज्ञान से तथा ब्रह्म की प्राप्ति से सम्वन्धित है।

अविद्या अथवा अपराविद्या—जो प्रकृति तथा संसार के भिन्न भिन्न क्रिया-कलापों से सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार ब्रह्म विद्या को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की विद्यायें जैसे ज्योतिष, नक्षत्र विज्ञान, टेक्नॉलाजी, एलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर साइन्स, अर्थशास्त्र आदि सभी अविद्या अथवा अपराविद्या हैं।

अब देखिये मन्त्र का अर्थ कितना सत्य एवं सुन्दर तथा सभी युगों, देशों एवं परिस्थितयों के लिए कितना वास्तविक है। (अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां उपासते) जो लोग केवल अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् जो ब्रह्मविद्या को छोड़कर केवल अन्य प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करते हैं, वे घोर अन्धकार में जाते हैं क्योंकि उन्हें सब प्रकार का सांसारिक ज्ञान, तथा प्रचुर धन, सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त होते हुये भी सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता और अन्त में उनका जीवन अकल्याणकारी तथा विनाशकारी मार्गों की ओर चल पड़ता है। आधुनिक विज्ञान तथा टेक्नॉलाजी में

अत्यन्त उन्नत देशों की आज यही स्थिति है। यह मन्त्र इन लोगों पर पूर्ण रूपेण चरितार्थ होता है तथा इनका सही चित्रण करता है। सभी ऐश्वर्यों के होते हुये भी ऐसे देशों के निवासियों का अथवा इन देशों के ऐसे लोगों का, जो नास्तिक हैं, तथा जो केवल भौतिक ऐश्वर्य तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में रत हैं, जीवन कितना अन्धकारमय है, कितना दु:खमय है, यह किसी से छिपा नहीं है। सुख तथा शान्ति की खोज में ये लोग तरह तरह के मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं तथा अनेक प्रकार के अनैतिक कार्यों में लिप्त रहकर अपना जीवन घोर अन्धकारमय बनाते हैं। अपने भारत देश में भी पाश्चात्य सभ्यता के दीवाने अधिकांश लोगों की भी आज यही दशा है, यद्यपि हम लोग आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में अभी बहुत पीछे हैं।

अब मन्त्र का दूसरा भाग देखिये:—

'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता:' वे लोग उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो केवल विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या में रत हैं।

इस कथन की सत्यता अपने देश की दुर्दशा से पूर्ण-रूपेण सिद्ध हो जाती है। हम लोग सदैव ब्रह्मविद्या तथा अध्यातम विद्या की बात करते रहे और हमलोगों ने आधुनिक विज्ञान, टेक्नॉलाजी, गणित, अर्थशास्त्र आदि विषयों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम इतना भयंकर निकला कि हम लोग शक्ति हीन, परतन्त्र तथा परमुखापेक्षी हो गये और पूरा देश मूर्खता, दरिद्रता तथा दासता की क्रूर एवं कठोर शृंखलाओं में जकड़ गया किन्तु फिर भी आज हम केवल 'राम राम' या 'कृष्ण कृष्ण' कहकर अपने कल्याण की आशा करते हैं, जो असम्भव है क्योंकि यह आचरण वेद विरुद्ध है। यह स्पष्ट है कि हम लोगों से तो पाश्चात्य देशों के निवासी कहीं अधिक सम्पन्न एवं सुखी हैं। वास्तव में हमारा कल्याण तभी सम्भव होगा जब हम

ब्रह्मविद्या के साथ-साथ प्रकृति सम्बन्धी विज्ञान, टेक्नॉलाजी आदि का अध्ययन करके अपनी सांसारिक उन्नति करें, बल वैभव तथा ऐश्वर्य प्राप्त करें और केवल आध्यात्मिक ज्ञान की उपयोगिता की शत-प्रतिशत भ्रामक बात कहकर अपने को धोखा न दें।

इस सम्बन्ध में वेद का निर्देश स्पष्ट है। अविद्या में रत लोग घोर अन्धकार में जाते हैं किन्तु केवल विद्या में रत लोग उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं क्योंकि उन्हें तो भरपेट भोजन तथा जीवन के लिए अत्यावश्यक साधन एवं सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हो पातीं और उनका पूरा जीवन दरिद्रता की घोर पीड़ा तथा यातना में बीत जाता है, जैसा कि आज अधिकांश भारतवासियों के साथ हो रहा है।

अन्य विद्वानों में श्री पं० दामोदर सातवलेकर द्वारा विद्या-अविद्या का उपर्युक्त अर्थ ही किया गया है। उन्होंने इसे निम्न प्रकार लिखा है—

प्रथम मन्त्र में "ईशावास्यमिदं सर्वम्" ऐसा वाक्य है। इसमें ईश और इदम् ये दो पदार्थ ज्ञातव्य हैं और ये एक दूसरे से भिन्न हैं। इनका ज्ञानक्षेत्र निम्न प्रकार है:—

ईश	**इदम्**
ईश	जगत्
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
आत्म-विद्या	अनात्मविद्या
विद्या	अविद्या

इस प्रकार ये शब्द प्रथम मन्त्र के अनुरोध से बनते हैं। ये ही

विद्या-अविद्या प्रकरण में क्रमशः आत्मज्ञान और जगत् का विज्ञान) इस अर्थ में आये हैं।

उन्होंने लिखा है कि सांसारिक विद्या अथवा अविद्या में लगे हुये लोग इसकी सहायता से अपने लिए सुख और भोग के विपुल साधन तो एकत्रित कर लेंगे किन्तु कालान्तर में उनकी स्वार्थी भोग तृष्णा बढ़ने से वे अपने सुखों के लिए दूसरों की बलि लेने का प्रयास करेंगे जिससे संसार में दुख तथा अशान्ति बढ़ेंगे। इसीलिए वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं' ऐसा यहाँ कहा है।

किन्तु जो लोग केवल आत्म विद्या में रमते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करते, वे उनसे भी अधिक गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं क्योंकि उन्हें तो जीवनयापन के लिये सामान्य सुख साधन भी प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार 'न प्रपंच और न परमार्थ' ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है। अतः इनकी अवस्था उनसे कहीं अधिक हीन होती है जो अविद्या की सहायता से ऐश्वर्य प्राप्त करके कुछ तो सुख चैन की सांस लेते हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में कही गई बात एक शाश्वत् सत्य है जिसकी उपेक्षा किसी भी दशा में नहीं की जानी चाहिये।

विद्या अविद्या का उक्त अर्थ अथर्व वेद के निम्नांकित मन्त्र से भी सही सिद्ध होता है।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।

शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥

॥ अथर्व। ११। ८। २३॥

(विद्याः च अविद्याः च) विद्या तथा अविद्या (यत् च अन्यत् उपदेश्यम्) और जो कुछ अन्य उपदेश करने योग्य है, वह (ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा ब्रह्मवेद के ज्ञान के रूप में शरीर में प्रविष्ट हुआ है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद में विद्या तथा अविद्या दोनों का समावेश है क्योंकि जीवन के लिए दोनों परमावश्यक हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या भी विद्या की तरह ही उपदेश करने योग्य है, सीखने योग्य है और जीवन के लिए परमावश्यक है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है:—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

॥ श्वेता. । ५ । १ ॥

(क्षरं तु अविद्या हि अमृतं तु विद्या) जो नाशवान् है, वह अविद्या है और जो अमृत है, अविनाशी है, वह विद्या है; (यत्राक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते द्वे विद्याविद्ये निहिते गूढे) किन्तु ज्ञान से भी परे, जिस अविनाशी तथा अनन्त ब्रह्म में विद्या तथा अविद्या दोनों गूढरूप से निहित हैं तथा (यस्तु ईशते सोऽन्यः) जो इन दोनों पर ईशन एवं नियमन करता है, वह अन्य है अर्थात् इन दोनों से भिन्न है। यहाँ क्षर अर्थात् नाशवान् को अविद्या तथा अमृत अर्थात् अविनाशी को विद्या कहा गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नाशवान् संसार से सम्बन्धित ज्ञान अविद्या है, और अविनाशी आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित ज्ञान विद्या है।

केवल अविद्या से मनुष्य किस प्रकार अन्धकार में प्रवेश करता है इसका वर्णन करते हुये कठोपनिषद् में कहा गया है:—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

॥ मुण्डक । १ । २ । ८ ॥ —— ॥ कठ । १ । २ । ५ ॥

(अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः मूढाः) केवल अविद्या में वर्तमान् अर्थात् केवल अविद्या को जानने वाले मूर्ख लोग, (स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः) अपने को धीर और विद्वान मानते हुये, (दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति) दम्भ से भरे हुये तथा विपरीत मार्ग पर चलते हुये इधर उधर इस प्रकार घूमते हैं (यथा अन्धन नीयमानाः अन्धाः) जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये गये अन्धे ।

पाश्चात्य सभ्यता का लबादा ओढ़े हुये दम्भी मूर्खों का यह कैसा सुन्दर चित्रण है ।

इस प्रकरण में यम ने नचिकेता से कहा—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

॥ कठ । १ । २ । ६ ॥

(वित्तमोहेन मूढम् प्रमाद्यन्तं बालम्) धन के मोह से मूढ हुए, प्रमाद करने वाले बच्चों के समान अविवेकी पुरुष को (साम्परायः न

प्रतिभाति) परलोक की बात अच्छी नहीं लगती। (अयं लोकः परः न अस्ति) यही लोक है, परलोक नहीं है (इति मानी) ऐसा मानते हुये (पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते) वह फिर फिर मेरे वश में आता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या से इस लोक में उत्कर्ष होता है और विद्या से परलोक में। इस प्रकार अविद्या एवं विद्या, प्रेय एवं श्रेय दोनों की आवश्यकता एवं उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो भेद 'परा और अपरा' किये गये हैं। इसमें अपरा विद्या वह है जिससे संसारिक ऐश्वर्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म का ज्ञान होता है।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते

॥ मुण्डक। १। १। ५॥

परा विद्या वह है जिससे वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा प्राप्त किया जाता है। स्पष्ट है कि यहाँ विद्या तथा अविद्या को ही परा एवं अपरा कहा गया है।

विद्या के सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न वर्णन आया है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति।

॥ बृहदा. । १। ५। १६॥

(अथ त्रय: वाव लोका:) तीन ही लोक हैं, (मनुष्य लोक: पितृ-लोक: देवलोक: इति) मनुष्यलोक, पितृलोक तथा देवलोक। (सोऽयं मनुष्यलोक:) यह जो मनुष्यलोक है वह (पुत्रेण एव जय्य:) पुत्र से ही जीता जा सकता है, (अन्येन कर्मणा न) अन्य किसी कर्म से नहीं, (पितृलोक: कर्मणा) पितृलोक को कर्म से तथा (देवलोक: विद्यया) देवलोक को विद्या से जीता जा सकता है। (देवलोक: वै लोकानां श्रेष्ठ:) देवलोक निश्चय ही सभी लोकों में श्रेष्ठ है, (तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति) इसीलिए विद्या की प्रशंसा करते हैं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने अविद्या का अर्थ कर्म किया है। उन्होंने लिखा है "अज्ञान रूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कौन? जो अविद्या-विद्या से अन्य अविद्या अर्थात् कर्म-केवल अग्निहोत्रादि रूप अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् तत्पर होकर कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं।" "विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थ:, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्।" कर्म विद्या के विरोधी है अत: उन्हें अविद्या कहा गया है। तथा उस अन्धकार से भी कहीं अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, कौन? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या अर्थात् देवता ज्ञान में ही रत हैं, अभिरत हैं।"

अपने ईशावास्योपनिषद् भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य जी ने विद्या को देवता ज्ञान कहा है किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिखा है:—

अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, कौन? जो विद्या में अर्थात् अविद्या रूप वस्तु का प्रतिपादन करने वाली कर्मार्था त्रयीविद्या में रत यानी अभिनिविष्ट हैं अर्थात् जो ऐसा समझकर कि वेद तो विधि-प्रतिषेधपरक है, उससे भिन्न नहीं है, उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले हैं।"

इन दो स्थानों पर किये गये अर्थ न केवल भिन्न हैं, बल्कि अस्पष्ट भी हैं। वस्तुतः मन्त्र में प्रयोग किये गये शब्दों के वास्तविक अर्थों को नकारने का यह एक असफल प्रयास मात्र है।

यद्यपि सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानन्द जी ने अविद्या का अर्थ कर्मोपासना लिखा है, उन्होंने यजुर्वेद भाष्य में अविद्या का अर्थ योगदर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान लिखकर मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है:—

जो मनुष्य (अविद्या) अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा, शरीरादि में आत्म बुद्धिरूप अविद्या की अर्थात् परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की उपासना करते हैं, वे अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को प्राप्त होते हैं और जो (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में रमण करते हैं वे उससे भी अधिक अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

दुर्भाग्य से उक्त अर्थ न तो स्पष्ट है और न उचित।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकरण में अविद्या का उक्त अर्थ, जो योगदर्शन में एक विशेष दृष्टि अथवा उद्देश्य से प्रयोग किया गया है, लागू नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकरण में अविद्या की उपयोगिता तथा आवश्यकता बताते हुये तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि पुरुष अविद्या से मृत्यु को पार करता है।

वास्तव में अविद्या के मिथ्या ज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान यह अर्थ बहुत बाद में प्रचलित हुये हैं और सम्भवतः योगदर्शन से प्रारम्भ हुये हैं, जिसमें अविद्या को पञ्चक्लेशों में एक क्लेश बताया गया है और अविद्या की परिभाषा निम्न प्रकार की गयी है:—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

योगदर्शन साधन । सू० ५

अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि रखना, अपवित्र पदार्थों एवं कार्यों में पवित्र बुद्धि रखना, विषय सेवन आदि दुःख देने वाले कार्यों में सुख बुद्धि रखना तथा अनात्म में आत्म बुद्धि रखना, यह चार प्रकार का मिथ्या ज्ञान अविद्या कहा जाता है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी के मतानुसार यह मन्त्र केवल कर्मनिष्ठों के लिए ही है, ज्ञानियों के लिए नहीं तथा यहाँ पर विद्या से केवल देवता सम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, ब्रह्मज्ञान का नहीं। उन्होंने लिखा है "यहाँ 'ईशावास्यमिदं सर्वं...मा गृधः कस्यस्विद्-धनम्) इस प्रथम मन्त्र द्वारा सम्पूर्ण एषणाओं के परित्याग के साथ ज्ञान निष्ठा का वर्णन किया है, यही वेद का प्रथम अर्थ है। तथा जो अज्ञानी और जीवित रहने की इच्छा वाले हैं उनके लिए ज्ञाननिष्ठा असम्भव होने पर 'कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेत्'। इत्यादि मन्त्र से कर्मनिष्ठा कही है। यह दूसरा वेदार्थ है।"

"जो ज्ञाननिष्ठ सन्यासी हैं उन्हें ही 'असुर्यानाम ते लोकाः' यहाँ से लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादि तक के मन्त्रों से अज्ञानी की निन्दा करते हुए आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश किया है। इस आत्म-निष्ठा में उन्हीं का अधिकार है, सकाम पुरूषों का नहीं। इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी "ऋषिसमूह से भली प्रकार सेवित इस परम पवित्र आत्मज्ञान का उत्तम (सन्यास) आश्रम वालों को उपदेश किया" (श्वेत० उप० ६ । २१) इत्यादि रूप से इसका पृथक् उपदेश किया है:—

जो कर्मनिष्ठ कर्मठ लोग कर्म करते हुये ही जीवित रहना चाहते हैं, उनसे यह कहा जाता है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।"
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥

ईशा० । ९ ॥

हम अत्यन्त विनम्रता से निवेदन करना चाहते हैं कि पूज्य आचार्य का उक्त मत तर्क संगत नहीं है। ज्ञान तथा कर्म में केवल भिन्नता है, विरोध नहीं जबकि उन्होंने लिखा है 'ज्ञाकमर्णोविरोधं पर्वतवदकम्प्यं'। ज्ञान तथा कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है। यदि अविद्या का अर्थ कर्म लिया जाता है तो इस प्रकरण में निश्चय ही कर्म एवं ज्ञान का समुच्चय अभीष्ट है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि यह मन्त्र ज्ञानियों के लिये नहीं है, केवल कर्मनिष्ठ लोगों के लिये है।

अधिकतर विद्वानों ने अविद्या का अर्थ कर्म किया है। अविद्या के विषय में श्री नारायण स्वामी जी ने लिखा है कि अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं एक पारिभाषिक, दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः अविद्या का पारिभाषिक अर्थ, 'मिथ्या ज्ञान' लिया जाता है परन्तु अविद्या का यौगिक अर्थ है 'विद्या से भिन्न'। 'अविद्या', जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। इन मन्त्रों का देवता आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ही हैं। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रिय आत्मा के ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिये हैं। ज्ञान से भिन्न का नाम मन्त्र में अविद्या प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इस लिये स्पष्ट हो गया कि अविद्या का अर्थ कर्म ही है।

तब इस मन्त्र का अर्थ होगा–जो मनुष्य (ज्ञान की उपेक्षा करके) केवल कर्म की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो (कर्म की उपेक्षा करके) केवल ज्ञान में ही रत रहते हैं, वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अतः मनुष्य को ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय करना चाहिये। केवल एक से ही उसका जीवन सफल नहीं हो सकता। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कर्म के रूप में परिणित करना ही मनुष्य जीवन की सफलता की कुन्जी है। सत्कर्मों से ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है और वह सत्कर्म तभी कर सकता है जब उसे ज्ञान हो। ज्ञान-पूर्वक शुभ कर्म करते हुये ही मनुष्य अपनी इतनी उन्नति कर सकता है कि वह मृत्यु को पार कर सके और अन्ततोगत्वा ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर सके। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है और कर्म के बिना ज्ञान लंगड़ा है।

इसी भाव को छान्दोग्योपनिषद् (१।१।१०) में निम्न प्रकार कहा गया है:—

नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।

(नाना तु विद्या च अविद्या) विद्या तथा अविद्या भिन्न भिन्न हैं। (यदेव विद्यया श्रद्धया उपनिषदा करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति) पुरुष जो कार्य विद्या, श्रद्धा तथा उपनिषद् की शिक्षा के अनुसार अर्थात् ज्ञानपूर्वक करता है, वही अत्यधिक फलदायी होता है, उसी से कर्ता को वास्तविक सफलता प्राप्त होती है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि मन्त्र के अनुसार जो लोग कर्म की उपेक्षा करके केवल ज्ञान में ही रत रहते हैं वे उनसे अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं। इसीलिये दूसरे मन्त्र में कर्म करते हुये ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करने का आदेश दिया गया है।

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। १० ।।

।। वाज. यजु० । ४० । १३ ।।

वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता में विद्यया के स्थान पर विद्यायाः शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(विद्यया अन्यद् एव आहुः) विद्या का फल भिन्न ही कहा जाता है और (अविद्यया अन्यद् आहुः) अविद्या का फल उससे भिन्न कहा जाता है । (इति धीराणां शुश्रुम) ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है (ये नः तद् विचचक्षिरे) जिन्होंने हमें उस विषय में विशेष रूप से बताया है, उपदेश दिया है ।

विद्या का और ही फल कहते हैं तथा अविद्या का और ही अर्थात् उससे भिन्न फल कहते हैं । ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसका उपदेश किया है । विद्या अर्थात् परमात्म-ज्ञान से भिन्न फल होता है । इससे मनुष्य की आत्मशक्ति का विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और उसे अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है, जबकि अविद्या अर्थात् सृष्टि-विज्ञान का फल भिन्न होता है । इसके ज्ञान तथा प्रयोग से ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुख, समृद्धि एवं उपभोग के साधन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं, जिससे मनुष्य इस जीवन में

सुखी होता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् (१।१।१०) का निम्नाङ्कित वाक्य पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।

विद्या और अविद्या भिन्न भिन्न हैं। जो कर्म विद्या अर्थात् ज्ञान तथा श्रद्धा से उपनिषद् की शिक्षा के अनुसार अथवा श्रेष्ठ एवं योग्य आचार्य के निर्देशों के अनुसार किया जाता है वही श्रेष्ठफलदायक होता है।

विद्या तथा अविद्या की भिन्नता का उल्लेख कठोपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥

कठ०।१।२।४॥

अविद्या तथा विद्या के नाम से जो जानी जाती हैं वे परस्पर एक दूसरे के विपरीत हैं तथा भिन्न फल देने वाली हैं। तुम(नचिकेता)को विद्या का चाहने वाला मानता हूँ क्योंकि तुमको बहुत सी कामनायें प्रलोभित नहीं करतीं।

यहाँ पर विद्वानों ने विद्या और अविद्या का श्रेय एवं प्रेय अथवा निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्ग कहकर अर्थ किया है किन्तु वास्तव में यहाँ भी विद्या और अविद्या का वही अर्थ है जो ईशोपनिषद् के इस मन्त्र में है। नचिकेता को केवल आत्मज्ञान की इच्छा थी और वह समस्त भोगों की कामनाओं से विरक्त था। सांसारिक सुख एवं

ऐश्वर्य के प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं था; अतः यम ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसे उस ज्ञान की इच्छा नहीं है जिससे सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या वास्तव में उस ज्ञान को कहते हैं, जिससे सांसारिक प्रगति का पथ प्रशस्त होता है जैसा कि आधुनिक विज्ञान तथा टेक्नॉलाजी आदि के अध्ययन एवं उपयोग से होता है।

श्री विनोबा भावे ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार लिखा है--

आत्म तत्व को विद्या से भिन्न ही कहा है और अविद्या से भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है। उनके अनुसार यहाँ आत्मतत्व को, ब्रह्म को, तत् कहा है जो 'तत् त्वं असि' महावाक्य का प्रथम पद है।

किन्तु श्री विनोबा जी का उक्त अर्थ प्रकरण की दृष्टि से उचित नहीं है तथा यह तीनों मन्त्रों में ठीक भी नहीं बैठता।

वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता में यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ निम्न प्रकार आया है:--

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

॥ यजु० ४० । १३ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

॥ वाज. यजु० । ४० । १४ ॥

(यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद) जो विद्या तथा अविद्या इन दोनों को साथ-साथ जानता है अर्थात् दोनों का साथ-साथ ज्ञान रखता है; (वह) (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा) अविद्या से, प्रकृति विज्ञान से मृत्यु को तैरकर अर्थात् इस मृत्यु लोक में सुखपूर्वक जीवन बिताकर (विद्यया अमृतं अश्नुते) विद्या से, ब्रह्मज्ञान से, अथवा आतम ज्ञान से अमरत्व को, मोक्ष को प्राप्त करता है ।

जो मनुष्य विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से परमात्मा को अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

मनुष्य कर्म करके, पुरुषार्थ करके तथा भौतिक एवं सांसारिक ज्ञान का अर्जन करके अपना सांसारिक जीवन सफल बनाता है और ब्रह्म ज्ञान से, परमात्मा को प्राप्त होता है । इसके विपरीत जो लोग सांसारिक ज्ञान तथा कर्मों को अनावश्यक अथवा भारस्वरूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं, वे अपना मानव जीवन प्रमाद में नष्ट कर देते हैं और मृत्यु के पश्चात् घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, उनका न तो यह लोक सफल होता है और न परलोक । आधुनिक भारत में प्रायः

सर्वत्र घूमते हुये मूर्ख, अशिक्षित, अज्ञानी एवं अनेक मामलों में दुराचारी तथा मद्य आदि का सेवन करने वाले तथा-कथित साधुओं, बाबाओं तथा छद्म सन्यास वेष धारियों की यही दुर्दशा है, यद्यपि वे अपने को भगवान की भक्ति में लगा हुआ समझते हैं।

कुछ लोग इस भ्रामक एवं वेदविरुद्ध धारणा का प्रचार करते हैं कि नाशवान संसार से विमुख हो जाना ही कल्याण का मार्ग है। इसमें सन्देह नहीं कि जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।' इस विनाश शील शरीर तथा सभी उत्पन्न हुए पदार्थों का मरण एवं नाश अनिवार्य है किन्तु नाशवान सांसारिक पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने से तथा उनके गुणावगुण को ध्यान में रखते हुए उनका सदुपयोग करने से हम नाना प्रकार की मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों से बच जाते हैं; अनेक कष्टों एवं रोगों से मुक्ति पा लेते हैं, अकालमृत्यु से बच जाते हैं तथा सुविधापूर्वक जीवन यापन करते हुये और सुख, समृद्धि एवं वैभव का उपभोग करते हुये इस मृत्यु लोक को सुखपूर्वक तैर जाते हैं, पार कर जाते हैं।

जिस प्रकार सांसारिक अथवा भौतिक विज्ञान के अविष्कारों का उपयोग करके संसार सागर से सुविधापूर्वक पार हुआ जा सकता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान एवं ब्रह्मविद्या से मोक्ष, अमृतत्व अथवा ब्रह्म के परम पद को प्राप्त किया जा सकता है। अतएव इस मन्त्र में इन दोनों प्रकार के ज्ञानों, जिन्हें विद्या तथा अविद्या के नाम से अभिहित किया गया है, के समुच्चय पर, उनके साथ-साथ जानने पर बल दिया गया है जिससे पुरुष का जीवन एकाङ्गी न हो जाय प्रत्युत उसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो सके।

यह है वैदिक ज्ञान की महिमा, एवं उसकी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक उपयोगिता।

केनोपनिषद् में कहा है —

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।
।। केन. । २ । ४ ।।

(हि प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं विन्दते) निश्चय ही प्रतिबोध अर्थात् आत्मा द्वारा प्राप्त हुये ज्ञान से अमृतत्व प्राप्त होता है। (आत्मना वीर्यं विन्दते) पुरुषार्थ अर्थात् श्रेष्ठ कर्मों से बल प्राप्त होता है (विद्यया अमृतं विन्दते) तथा विद्या अथवा ब्रह्मज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है।

इस श्लोक का अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य जी ने निम्न प्रकार किया है:—

प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रतिविदितम्। बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान् प्रति बुध्यते।—

बोध का अर्थ है बुद्धिगत प्रतीति। प्रतिबोधविदितम् अर्थात् जो बोध बोध के प्रति बिदित होता है। यहाँ बोध शब्द से बुद्धि से होने वाली प्रतीतियों का कथन किया गया है। अतः समस्त प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं, वह आत्मा समस्त बोधों के समय जाना है। आत्मा सम्पूर्ण बोधों का बोद्धा है।

अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तदा तन्मतं तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः।

अतः जिस समय ब्रह्म को प्रतीतियों के अन्तःसाक्षी स्वरूप से जाना जाता है, उसी समय वह ज्ञात होता है अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है।

(मतम् अमृतत्वम् हि विन्दते) उपर्युक्त प्रतिबोध से अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्यय में होने वाले आत्मज्ञान से (मुमुक्षु) अमृतत्व प्राप्त करता है। (आत्मना विन्दते वीर्यम्) आत्मा अपने स्वरूप के ज्ञान से वीर्य अथवा अमृतत्व प्राप्ति का सामर्थ्य प्राप्त करता है, तथा (विद्यया विन्दते अमृतम्) आत्म सम्बन्धिनी विद्या से अमृतत्व प्राप्त करता है।

यदि अविद्या का अर्थ कर्म लिया जाय, जैसा कि अनेक आचार्यों ने किया है, तो इस मन्त्र का अर्थ होगा:—

जो ज्ञान एवं कर्म को साथ साथ जानते हैं, अर्थात् जो ज्ञानपूर्वक कर्म करते हैं और जो कर्म करते हुये ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं, वे श्रेष्ठ कर्मों से मृत्यु को तैरकर अर्थात् मृत्युलोक में सुख एवं वैभव का आनन्द लेकर ज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जीवन की सफलता के लिये ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय का उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है।

मनुस्मृति में कहा गया है:—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

॥ मनु० । १२ । १०४ ॥

तप और विद्या ब्राह्मण के लिए परम कल्याणकारी हैं क्योंकि वह तप से पाप का नाश करता है और विद्या से अमृतत्व अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है।

मृत्युं तीर्त्वा—

कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ मृत्यु के भय से मुक्त होना लिखा है।

जो मनुष्य सत्कर्म करता है वह जीवन के अन्तिम क्षणों में दुःख एवं मृत्यु की विभीषिका से भयभीत नहीं होता। उसके लिये मृत्यु

केवल शरीर परिवर्तन मात्र होती है जैसा कि गीता में कहा गया है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥

॥ गीता । २ । २२ ॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने जीर्ण बस्त्रों को छोड़ कर अन्य नये बस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में चला जाता है ।

विद्यया अमृतं अश्नुते--विद्या से अमृत प्राप्त करता है । स्वामी शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि 'विद्या' शब्द से मुख्य परमार्थ विद्या तथा 'अमृत' शब्द से अमृतत्व अर्थ यहाँ इसलिये नहीं लिये जा सकते कि परमार्थ विद्या तथा कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण उनका समुच्चय नहीं हो सकता और इन दोनों का साथ रहना सम्भव नहीं है । यहाँ जो कहा गया है कि अमृत को प्राप्त होता है, उसे आपेक्षिक अमृत समझना चाहिये । यहाँ उपासना के साथ ही कर्म का समुच्चय किया गया है; परमात्मज्ञान के साथ नहीं ।

अतः उन्होंने विद्या का अर्थ देवता ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म करते हुए लिखा है–"अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु, यानी मृत्यु शब्द बाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान इन दोनों को तरकर पार करके विद्या अर्थात् देबता ज्ञान से अमृत यानी देवतात्म भाव को प्राप्त हो जाता है, देवतात्म भाव को जो प्राप्त होता है, बही अमृत कहा जाता है ।

उपर्युक्त बिवरण से स्पष्ट है कि पूज्य आचार्य ने मन्त्र में प्रयुक्त

शब्दों के वास्तविक अर्थ न लेकर अपने पूर्वाग्रह के कारण उनके काल्पनिक एवं अस्पष्ट अर्थ किये हैं क्योंकि उन्हें कर्म एवं ज्ञान का समुच्चय किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं है।

इस प्रकार वेद मन्त्रों के सीधे साधे अर्थों को विभिन्न आचार्यों द्वारा किस प्रकार तोड़ मरोड़ दिया गया है, यह विचारणीय है। इस दुःखद प्रक्रिया से जहाँ एक ओर अर्थ का अनर्थ होता है, वहीं वेदमन्त्रों की वास्तविक सुन्दरता, उपयोगिता तथा शक्ति भी प्रकट नहीं हो पाती और जनमानस भ्रमित हो जाता है तथा वह वेद की उपेक्षा करके निरर्थक तथा असत्य कथन करने वाली पुस्तकों की ओर झुक जाता है।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है:—

"जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही जानता है वह अविद्या और कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

अविद्या का लक्षण—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या

(योग दर्शन। साधनपाद। सू० ५)

यह योगसूत्र का वचन है—जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्यजगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्रयादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्म

बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है।

वेत्ति यथावत्तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यंश्चिनोति साऽविद्या।

जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है। अर्थात् कर्म और उपासना अविद्या इसलिए है कि वह वाह्य और अन्तर क्रिया विशेष नाम है ज्ञान विशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा गया है बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता।"

यहाँ पहले अविद्या को मिथ्या अथवा विपरीत ज्ञान बताकर बाद में कर्म और उपासना को बिना किसी उचित कारण के अविद्या बता दिया गया है, जबकि कर्म और उपासना का मिथ्या ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अविद्या की जो परिभाषा योग दर्शन में दी गई है वह इस मन्त्र में अभीष्ट नहीं है क्योंकि जीवन की सफलता के लिये मिथ्याज्ञान अथवा विरीत ज्ञान कभी भी आवश्यक नहीं हो सकता और न मिथ्याज्ञान से मृत्यु को पार किया जा सकता है। योगदर्शन वेदों की अपेक्षा बहुत बाद में लिखा गया है और उसमें अविद्या की जो परिभाषा दी गई है वह योग से सम्बन्धित है तथा उसका सन्दर्भ इस वेद मन्त्र से सर्वथा भिन्न है। अतः उसकी परिभाषा इस मन्त्र में प्रयुक्त नहीं की जा सकती।

———

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय ऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याᳬरताः॥ १२॥
वा. यजु। ४०। ९॥

(ये असम्भूतिं उपासते) जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं, उसमें रत रहते हैं, वे (अन्धं तमः प्रविशन्ति) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु वे लोग (ततो भूय इव ते तमः) उससे भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ये उ सम्भूत्याम् रताः) जो केवल सम्भूति में रत रहते हैं।

मेरे पूज्य पिता पं० उमादत्त जी त्रिवेदी के अनुसार सम्भूति तथा असम्भूति का अर्थ इसी उपनिषद् के चौदहवें मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है जिसमें असम्भूति के लिए विनाश शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार असम्भूति का अर्थ विनाश अथवा नाशवान पदार्थ, नाशवान संसार हुआ और इसके विपरीत शब्द सम्भूति का अर्थ नित्य, अविनाशी तत्व आत्मा एवं परमात्मा हुआ।

यह अर्थ इसी प्रकरण के वेदमन्त्र पर आधारित होने के कारण इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है, जबकि अनेक अन्य विद्वानों द्वारा किये गये अर्थ जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा, मनमाने हैं तथा प्रकरण के तीनों मन्त्रों में ठीक नहीं बैठते, जिसके कारण इन विद्वानों को या तो शब्दों में या फिर उनके अर्थों में अनुचित रूप से तोड़ मरोड़ करनी पड़ी है। अतः इन अवास्तविक अर्थों को किसी भी

दशा में ठीक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के अर्थों से मन्त्रों की गरिमा तथा महत्ता का ह्रास होता है और पाठक वृन्द शब्दों के आडम्बर में फँसकर वेद के ज्ञानामृत से वञ्चित हो जाते हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ हुआ, जो मनुष्य केवल (असम्भूति) विनाशशील पदार्थों अर्थात् प्रकृति एवं अन्य सांसारिक वस्तुओं की ही उपासना करते हैं, उन्हीं में रमे रहते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, परन्तु जो केवल अविनाशी नित्य तत्व की ही उपासना करते हैं और संसार की उपेक्षा करते हैं वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

जो लोग नाशवान सांसारिक पदार्थों के माया जाल में फँसकर केवल उनके उपार्जन तथा भोगों में लिप्त रहते हैं, उनका घोर अन्धकार में प्रवेश करना तो स्पष्ट ही है। ऐसे लोग कभी न शान्त होने वाली कामनाओं के दलदल में अपने को फँसाते जाते हैं और अन्त में घोर निराशा तथा दुःख को प्राप्त होते हैं क्योंकि धन सम्पत्ति आदि से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

कठोपनिषद् १।१।२६

कामनायें कभी तृप्त अथवा शान्त नहीं होतीं बल्कि इनसे मनुष्य की तृष्णा और अधिक बढ़ती है जैसा कि मनुस्मृति तथा महाभारत के निम्नाङ्कित श्लोक में कहा गया हैः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥

॥ महाभारत–७५। १९॥ —— ॥ मनु०। २। ९४॥

मनुष्य की कामनायें भोग करने से शान्त अथवा तृप्त नहीं

होतीं बल्कि भोग करने से उसी प्रकार और बढ़ती हैं जिस प्रकार घृत की आहुति डालने से अग्नि की ज्वालायें और अधिक प्रज्ज्वलित होती हैं।

सांसारिक भोगों में लिप्त ऐसे व्यक्तियों के घोर अन्धकार में प्रवेश करने की बात गीता में निम्न प्रकार कही गई है:--

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

॥ गीता । १६ । १६ ॥

अनेक कामनाओं तथा उनसे सम्बन्धित समस्याओं से भ्रान्तचित्त हुए और मोहजाल में फँसे हुये तथा विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त हुये व्यक्ति अपवित्र नरक में गिरते हैं।

इस मन्त्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण किन्तु चौंकाने वाली बात यह कही गई है कि जो व्यक्ति केवल अविनाशी आत्मा अथवा परमात्मा की उपासना में ही रत रहते हैं, वे उनसे, अर्थात् सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहने वाले व्यक्तियों से भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं।

यद्यपि यह कथन प्रथम-दृष्ट्या अत्यन्त असत्य प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह पूर्ण-रूपेण सत्य, व्यावहारिक एवं वास्तविक है। जिस प्रकार विद्या अविद्या प्रकरण में केवल विद्या अथवा ब्रह्मज्ञान में रत लोगों के अधिक घोर अन्धकार में जाने की बात कही गई है उसी प्रकार इस मन्त्र में केवल भगवान की उपासना में ही लगे हुये लोगों के और अधिक घोर अन्धकार में जाने की बात कही गई है।

वेद का उपदेश, निर्देश एवं आशय यह है कि मनुष्य को अपना जीवन सन्तुलित रखना चाहिये। यदि सब लोग केवल भगवान की

उपासना में ही लग जायँ और अन्य सब कार्य बन्द कर दें तो क्या समाज अथवा राष्ट्र का कार्य चल सकेगा या लोग जीवित भी रह सकेंगे क्योंकि ऐसी दशा में न तो कोई अन्न उपजायेगा, न वस्त्र बनायेगा और न जीवन के लिये अन्य आवश्यक सामग्रियों का प्रबन्ध करेगा।

मनुष्य के जीवित रहने के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है अन्न। बिना अन्न के कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीर-मन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।

॥ तैत्तिरीय उप० । भृगुवल्ली । १ । ७ ॥

(अन्नं न निन्द्यात्) अन्न की निन्दा न करें, (तद् व्रतम्) यह व्रत है। (प्राणः वै अन्नम्) प्राण ही अन्न है। (शरीरं अन्नादम्) शरीर अन्न खाने वाला है। (प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्) प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है; (शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः) शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। (तद् एतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्) वह इस प्रकार अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है।

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्।

॥ तैत्तिरीय । भृगु । ३ । ८ ॥

अन्न को अनादर की दृष्टि से न देखें। यह व्रत है।

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्।

॥ तैत्तिरीय । भृगु । ३ । ९ ॥

अन्न बहुत अधिक उपजायें। यह व्रत है।

वास्तव में अन्न की महत्ता के विषय में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणी इसकी महत्ता से परिचित है किन्तु एक साधारण बात होने के कारण इसे हम तब भूल जाते हैं जब आध्यात्मिक ज्ञान की बातें करते हैं और सोचने लगते हैं कि भगवान् की उपासना से ही व्यक्ति जीवित रह सकता है, किन्तु यह केवल एक भ्रम है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाच।

॥ छान्दोग्य। १। ८। ४॥

(प्राणस्य का गतिः इति) प्राण की गति अथवा आश्रय कौन है ? (अन्नम् इति ह उवाच) अन्न है, उन्होंने कहा।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्।

॥ बृहदा०। ५। १२। १॥

अन्न के बिना निश्चय ही प्राण सूख जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अन्न की महत्ता समझाने के लिए श्वेतकेतु के पिता ने उसे निर्देश दिया कि पन्द्रह दिन तक अन्न ग्रहण मत करो, केवल जल पियो। पन्द्रह दिन तक भोजन न करने के बाद श्वेतकेतु जब पिता के पास आया तो पिता ने कहा ऋग् यजुः तथा साम को कहो। तब श्वेतकेतु ने कहा कि मेरे मन में कुछ भी भासित नहीं होता है, अर्थात् मुझे कुछ भी स्मरण नहीं हो पा रहा है, मैं कोई भी मन्त्र कहने की स्थिति में नहीं हूँ। तब पिता ने कहा कि षोडश कलाओं में तुम्हारी केवल क कला शेष रह गई है इसलिए तुम वेदों को स्मरण नहीं कर पा रहे हो, जाओ भोजन करो। अनन्तर उसने

भोजन किया और फिर उसके पिता ने जो पूछा, उसका उत्तर दिया।

तब पिता ने उसे समझाया कि—

अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग् इति ।

॥ छान्दोग्य । ६ । ७ । ६ ॥

हे सौम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, तथा वाणी तेजोमयी है।

इसीलिये हमारे महर्षियों ने उपनिषदों में अन्न की महत्ता का उल्लेख किया है ताकि लोग भूल से कहीं इसकी उपेक्षा करके दरिद्र न हो जायँ, भूखों न मरने लगें। अन्न की इतनी महिमा एवं महत्ता तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में बताई गई है कि ब्रह्म की खोज करने पर वरुण के पुत्र भृगु को पहले यही समझ में आया कि अन्न ही ब्रह्म है।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

॥ तैत्तिरीय । ३ । २ ॥

(अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्) अन्न ब्रह्म है ऐसा उसने जाना क्योंकि (अन्नात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते) अन्न से ही समस्त भूत उत्पन्न होते हैं (जातानि अन्नानि जीवन्ति) उत्पन्न होकर अन्न से ही जीवित रहते हैं और (प्रयन्ति अन्नं अभिसंविशन्ति इति) अन्त में यहाँ से प्रयाण करते हुये अन्न ही में विलीन हो जाते हैं।

अन्य उपनिषदों में भी अन्न की महत्ता का वर्णन किया गया है।

अतः न केवल एक व्यक्ति के जीवन के लिये बल्कि समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सब लोग

केवल परमात्मा की उपासना में ही न लगे रहें, अन्य सामान्य कार्य भी करें। केवल यह समझना कि आत्मज्ञान ही सब कुछ है और परमात्मा का दर्शन करना ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, बड़ी भारी भूल है। इसी भूल से अतीत काल में हमारे देश की इतनी बड़ी हानि हुई है और हम दरिद्रता के दलदल में फँस गये हैं।

पतनोन्मुख समाज में वैदिक ज्ञान के लुप्त प्राय हो जाने के कारण अथवा विद्वानों द्वारा मन्त्रों के उल्टे-सीधे मनमाने अर्थ करके जन-साधारण को भ्रमित कर देने के कारण ही अनेक अवैदिक अथवा बेद विरुद्ध मत-मतान्तर इस देश में उत्पन्न हुये जिनसे देश एवं समाज की इतनी बड़ी हानि हुई।

बौद्ध धर्मावलम्बियों ने 'बुद्धं शरणं गच्छामि' तथा 'धम्मं शरणं गच्छामि' के भ्रामक नारे देकर सहस्रों नर नारियों को भिक्षुक बना कर उन्हें जीवन की मुख्य धारा से अलग कर दिया जिससे देश पतन के गर्त में चला गया और अन्त में विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा पद-दलित किया गया किन्तु दुर्भाग्य से आज भी हम उसी के गुण गान कर रहे हैं। ऐसी गलत विचारधाराओं से हमें सदैव दूर रहना चाहिये।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः उसमें किसी अव्यावहारिक, असत्य अथवा पाखण्डपूर्ण बात होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वेद की सारी शिक्षायें न केवल वैयक्तिक बलिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की व्यावहारिकता को दृष्टि में रखते हुये दी गई हैं ताकि मानव जीवन वास्तव में सुखी एवं समृद्ध हो।

इसीलिए इस मन्त्र में यह स्पष्ट शिक्षा दी गई है कि मनुष्य को संसार से विमुख होकर पलायनवादी बनकर और झूठ-मूठ सन्यासी का वेष धारण करके केवल परलोक की बात ही नहीं करनी चाहिए, उससे उसका कल्याण नहीं होगा बल्कि वह अत्यन्त घोर अन्धकार में

प्रवेश करेगा और अधोगति को प्राप्त करेगा। अस्तु प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह संसार में अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये सत्कर्म करके सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्त करे और साथ ही साथ ईश्वर की उपासना करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति करे।

विभिन्न विद्वानों द्वारा सम्भूति तथा असम्भूति के अर्थ निम्न प्रकार किये गये हैं—

	सम्भूति	असम्भूति
१- स्वामी शङ्कराचार्य	हिरण्यगर्भ नामक कार्य ब्रह्म	अव्याकृत नाम वाली प्रकृति-कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्या।
२- स्वामी दयानन्द	महदादि रूप से परिणित सृष्टि	अनादि, अनुत्पन्न मूल प्रकृति रूप सत्व-रज तमोगुणमय जड़ पदार्थ कारण प्रकृति।
३- श्री रामानुजाचार्य	समाधि	समाधि के अंगभूत निषिद्ध कर्म से निवृत्ति।
४- श्रीमध्वाचार्य	श्री हरि का जगत्-कर्तृत्व	श्री हरि का जगत का संहार करने का धर्म।
५- श्री नारायण स्वामी	कार्य प्रकृति (स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर	कारण प्रकृति (कारण शरीर)
६- पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	समष्टि, संघ, जाति	व्यष्टि, एक व्यक्ति
७- श्री विनोबा भावे	असद् वृत्तियों का निरोध	सद् वृत्तियों का विकास

८- श्री पं० उमादत्त जी त्रिवेदी तथा अन्य विद्वान	अविनाशी नित्य-तत्व	अनित्य, नाशवान् पदार्थ
९- श्री हरिकृष्ण दास गोयन्दका (गीता प्रेस)	अविनाशी परमेश्वर	विनाश शील देव, पितर, मनुष्य

स्वामी दयानन्द जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

(अन्धं तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये) जो (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्व रज और तमोगुण-मय प्रकृति रूप जड़ पदार्थ, कारण प्रकृति की (उपासते) उपासना करते हैं।

और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रत हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूयः इव) और अधिक (तमः) अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

जो लोग अनादि, अनुत्पन्न सत्व, रज और तमोगुणमय प्रकृति रूप जड़ वस्तु की अर्थात् कारण प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो महत्तत्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में रमण करते हैं, वे उससे भी अधिक घोर अविद्या रूपी अन्धकार को प्राप्त होते हैं।"

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इसका अर्थ निम्न प्रकार किया है–सम्भवन का अर्थ है उत्पन्न होना, वह जिस कार्य का धर्म है उसे सम्भूति कहते हैं तथा उससे अन्य असम्भूति-प्रकृति-कारण अथवा अव्याकृत नाम से अविद्या।

उस असम्भूति अर्थात् अव्याकृत नाम वाली प्रकृति कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्या की, जो कि कामना और कर्म की बीज है, जो लोग उपासना करते हैं, वे उसके अनुरूप ही अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो सम्भूति यानी हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म में रत हैं वे तो उससे भी अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।

इस प्रकार उन्होंने असम्भूति का अर्थ अव्याकृत प्रकृति और सम्भूति का अर्थ कार्य ब्रह्म किया है ।

श्री शङ्कराचार्य द्वारा किये गये अर्थ के विषय में यह कहना आवश्यक है कि उनका अर्थ चौदहवें मन्त्र में ठीक नहीं बैठता जिसके कारण उस मन्त्र के भाष्य में उन्हें लिखना पड़ा, कि सम्भूति को असम्भूति पढ़ा जाना चाहिये ।

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्राऽवर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ।

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पद समूह में प्रकृतिलय रूप फल बताने वाली श्रुति के अनुरोध से अवर्ण के लोप का निर्देश देखना चाहिये अर्थात् सम्भूति के स्थान पर असम्भूति समझना चाहिये । किन्तु यह कल्पना व्याकरण के अनुरूप न होने के कारण मान्य नहीं है । वास्तव में मन्त्रों को तोड़ मरोड़ कर उनका मनमाने ढंग से अर्थ करना उचित प्रतीत नहीं होता । अस्तु यह स्पष्ट है कि श्री शङ्कराचार्य जी द्वारा किया गया अर्थ जो तीनों मन्त्रों में समान रूप से ठीक नहीं बैठता, उचित नहीं है ।

महात्मा नारायण स्वामी जी ने इसका अर्थ एक अन्य प्रकार से किया है । उनके अनुसार असम्भूति का अर्थ कारण प्रकृति है और सम्भूति का अर्थ कार्य प्रकृति है । परन्तु उन्होंने कहा है कि

जब ये शब्द आत्मा से सम्बन्धित होते हैं तब इनके अर्थ कारण शरीर और कार्य शरीर होते हैं। कारण शरीर की कल्पना घटाकाश मठाकाश वत् है। जगत् में व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण-शरीर है। कार्य शरीर दो हैं–सूक्ष्म और स्थूल।

सूक्ष्म शरीर–यह निम्न १७ वस्तुओं का समुदाय है।

५- ज्ञानेन्द्रियाँ

५- सूक्ष्म विषय अथवा तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध)

५- प्राण–(प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान)

१- मन

१- बुद्धि

———

१७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से पुरुष की बौद्धिक एवं मानसिक उन्नति होती है, जिससे वह सांसारिक जीवन में सफलता एवं उच्च पद प्राप्त करता है, जबकि कारण शरीर विकसित होने से मनुष्य में ईशप्रेम उत्पन्न होता है और वह भक्त तथा योगी बनता है।

अस्तु श्री नारायण स्वामी के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ है–जो स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं किन्तु वे जो कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की उन्नति चाहते हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि श्री नारायण स्वामी जी ने अपने उपर्युक्त विचार एवं कारण तथा कार्य शरीर की उपर्युक्त परि-

भाषा तथा उनके भिन्न भिन्न गुण एवं स्वरूप के विषय में कोई शास्त्र सम्मत प्रमाण नहीं दिया है।

साथ ही उपरोक्त तीनों अर्थों में यह समस्या है कि चौदहवें मन्त्र में असम्भूति को विनाश कहा है, जबकि कारण प्रकृति नाशवान नहीं है बल्कि इसके विपरीत यह संसार अथवा कार्यब्रह्म या स्थूल शरीर ही नाशवान है, जिसे ये विद्वान सम्भूति कहते हैं। अतः मजबूरी में श्री नारायण स्वामी जी ने विनाश शब्द का अर्थ ही बदल दिया है और लिखा है कि विनाश का अर्थ है विगत नाश अर्थात् जिसका नाश नहीं होता। वास्तविक अर्थ न समझकर मनमाने अर्थ करने के लिये शब्दों को तोड़ने मरोड़ने का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

श्री रामानुजाचार्य तथा श्री मध्वाचार्य जी द्वारा किये गये अर्थों का वास्तव में कोई आधार नहीं है और वह तीनों मन्त्रों में सुसंगत भी नहीं हैं।

श्री सातवलेकर जी ने सम्भूति तथा असम्भूति का अर्थ निम्न प्रकार किया है–(सं + भू) = मिलना। एक होना, सम्बन्धित होना।

संभूत = मिला हुआ।

संभूति = सम्मेलन, मिलना, एक होना, संघटना, अर्थात् संघ भाव की कल्पना। संघ बनाकर रहना, कार्य करना।

असंभूति = व्यक्ति भाव की भावना, असंघटित (असंगठित) अवस्था

अपने अर्थ को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने सम्भूय शब्द का निम्न प्रयोग उद्धृत किया है:–

वणिक् प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते।
तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥ नारद स्मृति ॥

जहाँ वैश्य आदि लोग मिलकर (संभूय) सहकारिता के साथ व्यवहार करते हैं, उस व्यवहार को संभूय समुत्थान कहते हैं। संभूय समुत्थान अर्थात् संघ बनाकर सहकारिता द्वारा कार्य करके उन्नति करना। उन्होंने सम्भूति, असम्भूति की अपनी कल्पना को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है:—

सृष्टि	एक पदार्थ
समूह	एक व्यक्ति
समष्टि	व्यष्टि
संघ, जाति	एक व्यक्ति
मानव जाति	एक मनुष्य
संभूति	असंभूति

अतः उन्होंने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

जो केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य के भक्त होते हैं, वे गिरते हैं, परन्तु जो केवल संघशक्ति में ही रमते हैं, वे उनसे भी अधिक गिरते हैं। जो असम्भूति (असंघभावना) व्यक्ति सत्ता, अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ के उपासक हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं क्योंकि उनका कार्य बहुजनहिताय न होकर केवल अपने लाभ के लिए होता है और उससे दूसरों का शोषण होता है किन्तु जो केवल (सम्भूति) संघभाव, समाज अथवा राज्य के उपासक हैं वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं क्योंकि वे व्यक्ति स्वातंत्र्य को नष्ट करके मनुष्य का जीवन नारकीय बना देते हैं जैसा कि कम्युनिस्ट देशों में होता है।

किन्तु वास्तव में श्री सातवलेकर जी का अर्थ भी चौदहवें मन्त्र की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात।

इति शुश्रुम धीराणाँ ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

॥ वाज० यजु० । ४० । १० ॥

(सम्भवाद् अन्यद् एव आहुः) अविनाशी तत्व की उपासना से दूसरा ही फल कहते हैं; (असम्भवाद् अन्यद् आहुः) तथा नाशवान् पदार्थों की उपासना से दूसरा अर्थात् भिन्न फल कहते हैं। (इति शुश्रुम धीराणाम्) ऐसा हमने उन धीर पुरुषों से सुना है (ये नः तत् विचचक्षिरे) जिन्होंने हमें उस विषय में उपदेश दिया है, जिन्होंने हमारे लिये उसकी व्याख्या की है।

नाशवान सांसारिक पदार्थों की उपासना से अर्थात् उनमें रत रहने से, उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करने से, उनका सेवन करने से मनुष्य को शारीरिक सुख तथा अस्थायी आनन्द का अनुभव होता है जबकि आत्मा तथा परमात्मा की उपासना में रत रहने से मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है और अन्त में परमात्मा की कृपा से उसे परम पद प्राप्त होता है, जो मनुष्य जीवन का अन्तिम तथा श्रेष्ठतम लक्ष्य है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का निम्न अर्थ किया है:—

(सम्भवात्) कार्यब्रह्म की उपासना से और ही फल बताया गया है तथा (असम्भवात्) अव्यक्तोपासना अथवा अव्याकृत प्रकृति

की उपासना से और ही फल बताया है। ऐसा हमने उन बुद्धिमानों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसकी व्याख्या की थी।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार इसका अर्थ निम्न प्रकार है--

(सम्भवात्) संयोगजन्य कार्य से (अन्यद् एव) अन्य ही कार्य फल (आहुः) कहते हैं और (असम्भवात्) उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) दूसरा फल (आहुः) कहते हैं। (इति) यह हमने उन (धीराणाम्) बुद्धिमानों से सुना है (ये) जिन्होंने (नः) हमारे लिये (तत्) उसकी (बिचचक्षिरे) व्याख्या की थी।

श्री नारायण स्वामी जी ने लिखा है--

(सम्भवात्) कार्य प्रकृति अथवा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का और ही फल कहते हैं तथा (असम्भवात्) कारण प्रकृति अथवा कारण शरीर से और ही फल कहते हैं।

पं० श्री पाद दामोदर सातबलेकर के मतानुसार (सम्भवात्) संघ में रहने से, समाज की शक्ति बढ़ाकर रहने से भिन्न ही फल कहते हैं और (असम्भवात्) असंघ भाव से, व्यक्तिभाव से, व्यक्तित्वबाद अथवा व्यक्ति स्वातन्त्र्य से अन्य फल कहते हैं ऐसा हम ज्ञानियों के उपदेश से सुनते आये हैं। संघभाव से समाज को बलवान् बनाकर रहने में संघशक्ति का अद्भुत फल मिलता है और ऐसा सुसंगठित समाज संसार में विलक्षण कर्म करने के योग्य हो जाता है। इसके विपरीत व्यक्ति स्वातन्त्र्य बढ़ाकर अन्य ही फल मिलता है और प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति के उन्नत होने से समाज स्वयं ही उन्नत हो जाता है। किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों में कमी है, पहले में व्यक्ति का विकास रुक जाता है, उसका जीवन नारकीय हो जाता है और वह यन्त्रवत् अथवा पशुवत् हो जाता है, जबकि दूसरे

प्रकार के समाज में मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी होकर दूसरों का शोषण करने लगता है तथा संघशक्ति न बढ़ने से समाज की अथवा देश की हानि होती है।

श्री विनोबा जी ने असम्भूति का अर्थ 'असद् वृत्तियों का निरोध' और सम्भूति का अर्थ 'सद् वृत्तियों का विकास' किया है किन्तु उन्होंने इस अर्थ के लिए कोई शास्त्र सम्मत तर्क नहीं दिया है। फिर यह भी स्पष्ट नहीं है कि असद् वृत्तियों के निरोध से कोई घोर अन्धकार में क्यों प्रवेश करेगा और सद् वृत्तियों के विकास से उससे भी अधिक घोर अन्धकार में कैसे प्रवेश करेगा।

श्री विनोबा जी ने इस मन्त्र का अर्थ किया है—"आत्मतत्व को विकास से भिन्न ही कहा है और निरोध से भिन्न ही कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

सम्भूति का अर्थ, जिसका जन्म होता है, वह कार्यब्रह्म तथा असम्भूति का अर्थ जिसका जन्म नहीं होता, वह कारण ब्रह्म दिखाते हुये स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के ईशावास्य प्रवचन में लिखा गया है कि सम्भूति या कार्यब्रह्म की उपासना का फल दूसरा है। यह व्यक्त जगत के विषयों में लगता है। इससे जड़ता प्राप्त होगी। असम्भूति या करण ब्रह्म की उपासना का फल दूसरा है। इससे मनोराज्य तथा बौद्धिक तर्कवादिता बढ़ेगी।

यद्यपि पहले स्वयं उन्होंने ही कहा है कि जो दृश्य है जो उत्पन्न होता है, वह नाशवान है, चतुर्दश मन्त्र में उन्हें विनाश का अर्थ उलटना पड़ा और वहाँ उनके अनुसार विनाश का अर्थ है विनाशप्राय अवस्था कारण ब्रह्म, असम्भूति। शब्दों के साथ यह कैसी स्वेच्छाचारिता, कैसा दुष्प्रयास है?

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।
गान्धारः स्वरः ।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।। १४ ।।

।। वाज० यजु० ४० । ११ ।।

(यः सम्भूतिं च विनाशं च) जो अविनाशी परमात्मा तथा नाशवान् संसार (तत् उभयं सह वेद) इन दोनों को साथ साथ जानता है, (विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा) वह नाशवान् धन सम्पत्ति आदि सांसारिक ऐश्वर्य से मृत्यु को तैर कर अर्थात इस लोक में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करके (सम्भूत्या अमृतं अश्नुते) अविनाशी परमेश्वर की भक्ति से, उपासना से अमरत्व को, मोक्ष को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार इस मन्त्र में यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इस समग्र पुरुषार्थ चतुष्टय के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, इनमें से केवल एक या दो के लिए नहीं । उसे धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन करना चाहिए तथा सीमित एवं उचित कामनाओं की पूर्ति करके संसार में धन, ऐश्वर्य, सन्तान, कीर्ति तथा यश प्राप्त करना चाहिये और साथ ही भगवान की भक्तिपूर्वक उपासना करके मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए अन्यथा उसका जीवन एकाङ्गी होकर दुःखमय हो जायेगा ।

सामान्य धर्म का पालन करने के लिए भी मनुष्य को धन की आवश्यकता होती है । "धनाद्धर्मस्ततः सुखम्" । अतः अन्न का

उत्पादन करना तथा धनोपार्जन करना भी उतना ही आवश्यक है जितना भगवान् का पूजन, अर्चन।

इसीलिए वेद में मनुष्यों के कल्याण के लिए यह अनुपम व्यावहारिक शिक्षा दी गई है।

वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

।। वैशेषिक सूत्र । १ । २ ।।

जिससे इस लोक में अभ्युदय अर्थात् सर्वतोमुखी उन्नति हो सके तथा साथ ही निःश्रेयस अर्थात् पारलौकिक उन्नति भी हो सके, उसे धर्म कहते हैं। यही वेद का सत्य सिद्धान्त है।

इस लोक में अभ्युदय, तथा समृद्धि प्राप्त करना पाप नहीं, पुण्य है, गौण कर्म नहीं, बल्कि प्रमुख कर्तव्य है क्योंकि सांसारिक कर्तव्य, धन के बिना पूर्ण नहीं होते परन्तु यह समृद्धि धर्मानुकूल साधनों द्वारा ही प्राप्त की जाय, अनुचित रूप से नहीं और यह ध्यान रखा जाय कि समृद्धि को प्राप्त करने के लिए कोई ऐसा साधन न प्रयोग किया जाय जो निःश्रेयस में बाधक बने।

भारत के महर्षियों ने इस विनाशशील संसार में लौकिक विभूति तथा ऐश्वर्य प्राप्त करने और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने में कोई विरोध नहीं माना है बल्कि दोनों को परमावश्यक तथा एक दूसरे का पूरक माना है। यह बात इस महत्वपूर्ण मन्त्र में भली भाँति स्पष्ट कर दी गई है।

यह सिद्धान्त निश्चित एवं सर्वमान्य है कि मनुष्य का लक्ष्य अमृत की प्राप्ति है। अमृत का अर्थ दुःख से रहित परमानन्द की प्राप्ति, ब्रह्म की प्राप्ति अथवा मोक्ष है। किन्तु इसके पूर्व उसे मृत्यु को तैरना

है, पार करना है अर्थात् इस मृत्युलोक के अपने जीवन को सुखमय बनाना है। दुःखी एवं दरिद्र व्यक्ति की मृत्यु तो प्रतिदिन ही होती है जबकि सुखी एवं समृद्ध व्यक्ति को जीवन में दुःख, कष्ट एवं मृत्यु का आभास अथवा अनुभव नहीं होता अथवा बहुत कम होता है। इसीलिये मृत्यु को तैरने का अर्थ है, संसार में धन, समृद्धि एवं वैभव प्राप्त करना।

मनुष्य के लिये सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना तथा अन्त में ब्रह्म अथवा अमृतत्व को प्राप्त करना दोनों ही परम कर्तव्य हैं। इसीलिए वेद के सैकड़ों मन्त्रों में धन, ऐश्वर्य, सुख, समृद्धि, सन्तान एवं यश की कामना की गई है।

यही नहीं, वैदिक धर्म में उपासना एवं जप के लिए जिस सर्वश्रेष्ठ गायत्री मन्त्र का विधान किया गया है, उसका फल भी केवल मोक्ष नहीं बताया गया है, बल्कि पहले सांसारिक जीवन के लिए परम आवश्यक आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति होना बताया गया है, और अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताया गया है, जैसा कि निम्नाङ्कित मन्त्र से स्पष्ट है।

स्तुता मया वरदा वेदमाता

प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।

मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

॥ अर्थव। १९। ७१। १॥

(मया वरदा प्रचोदयन्तां द्विजानाम् पावमानी वेदमाता स्तुता) मेरे द्वारा, वर देने वाली, प्रेरणा देने वाली तथा द्विजों को पवित्र करने वाली उस (वेदमाता) ज्ञान की माँ की स्तुति की गई, जिसके अन्त में 'प्रचोदयात्' शब्द है। यह माँ (मह्यं आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसं दत्वा ब्रह्मलोकं व्रजत) मुझे जीवन में पूर्ण आयु, स्वस्थ एवं शक्तिशाली प्राण तथा इन्द्रियां, उत्तम सन्तान, पशु, धन, कीर्ति एवं ब्रह्मतेज देकर अन्त में ब्रह्मलोक को ले जाती है।

अनेक विद्वानों ने 'प्रचोदयन्ताम्' का अर्थ प्रेरणा देने वाली लिखा है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है वह मन्त्र जिसके अन्त में 'प्रचोदयात्' शब्द है। वास्तव में 'प्रचोदयन्ताम्' शब्द ही यह इंगित करता है कि यह मन्त्र गायत्री की महिमा का वर्णन कर रहा है। इसीलिये ऋषियों द्वारा इस मन्त्र का देवता 'गायत्री' लिखा गया है।

यहाँ 'व्रजत' में 'णिच्' का लोप छांदस है। अतः व्रजत=व्रजयते का अर्थ ले जाती है, हुआ। (प्रचोदयन्ताम्=प्रचोदयन्ती)

नीति में कहा गया है—

अजरामरवत्प्राज्ञः विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मनुष्य को चाहिये कि अजर और अमर होने की भाँति विद्या तथा धन का सञ्चय करे किन्तु साथ ही धर्म का आचरण इस प्रकार करे मानो कि मृत्यु ने चोटी पकड़ रखी हो अर्थात् मृत्यु अत्यन्त सन्निकट हो।

किन्तु वेद मन्त्र के उपर्युक्त स्पष्ट अर्थ के विपरीत अधिकांश भाष्यकारों ने कृत्रिम, अवास्तविक एवं असत्य अर्थ किये हैं जिन्हें पढ़कर कोई यह नहीं समझ सकता कि मन्त्र का वास्तविक उद्देश्य क्या है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस प्रकरण में सम्भूति का अर्थ कार्य-ब्रह्म तथा असम्भूति का अर्थ अव्याकृत नामवाली प्रकृति अथवा अव्यक्त प्रकृति किया है किन्तु उनके द्वारा किये गये ये अर्थ इस मन्त्र में ठीक नहीं बैठते। अतः उन्होंने इस मन्त्र में आये सम्भूति शब्द को असम्भूति मानकर अर्थ किया है, जो किसी भी प्रकार उचित नहीं है और जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा किये गये सम्भूति तथा असम्भूति के अर्थ सही नहीं हैं। उन्होंने लिखा है—

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात्।

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पद समूह में प्रकृतिलय फलरूप बतलाने वाली श्रुति के अनुरोध से असम्भूति में से अवर्ण का लोपपूर्वक निर्देश हुआ समझना चाहिये अर्थात् मन्त्र में उल्लिखित सम्भूति शब्द को असम्भूति पढ़ना चाहिए। इस प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का निम्नाङ्कित अर्थ किया है—

जिसके कार्य का धर्म विनाश है और उस धर्म से अभेद होने के कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है, वह कार्य ब्रह्म हुआ। जो असम्भूति और कार्यब्रह्म इन दोनों को साथ साथ जानता है वह कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके, असम्भूति के द्वारा प्रकृति-लय रूप अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

(यः) जो (सम्भूतिं) जिसमें सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्य रूप सृष्टि (च) और उसके गुण कर्म स्वभावों को तथा (विनाशं) जिसमें पदार्थ नष्ट होते हैं उस कारणरूप जगत (च) और उसके गुण, कर्म, स्वभावों (तत् उभयम्) उन दोनों को (सह वेद)

एक साथ जानता है, वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप जाने हुये कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार होकर (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न हुई कार्य रूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

किन्तु वास्तव में उपर्युक्त अर्थ स्पष्ट नहीं है।

श्री नारायण स्वामी ने विनाश का अर्थ किया है जिसका नाश न हो क्योंकि उनके अनुसार 'वि' उपसर्ग हाँ और नहीं दोनों अर्थों में आता है। उन्होंने विनाश का यह अर्थ इसलिये किया है क्योंकि उनके अनुसार असम्भूति कारण प्रकृति है, जो नाशवान नहीं है, जबकि मन्त्र में असम्भूति का अर्थ विनाश लिखा गया है। अतः उन्हें विवश होकर विनाश का अर्थ ही उलटा करना पड़ा। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये विद्वान लोग हठपूर्वक मन्त्र के उल्टे अथवा अवास्तविक अर्थ कर रहे हैं।

उनके अनुसार मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार हुआ-जो (सम्भूतिम्) कार्य रूप प्रकृति अथवा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति अथवा कारण शरीर, इन दोनों को साथ साथ जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से मृत्यु को तैर कर (सम्भूत्या) कार्य शरीर से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है। किन्तु नारायण स्वामी जी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि कारण शरीर से कैसे मृत्यु को तैरकर कार्य शरीर से कैसे अमरता को प्राप्त होता है। उन्होंने केवल यह तर्क दिया है कि जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों का सम्बन्ध एक दूसरे से टूट जाता है और मनुष्य को सुख होता है उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का आपस में सम्बन्ध टूट जाने से अर्थात् मृत्यु हो जाने से मनुष्य को अवश्य सुख होगा, दुःख नहीं। किन्तु इससे मन्त्र

का अर्थ लेशमात्र भी स्पष्ट नहीं होता । इसके अतिरिक्त मृत्यु, जो कि दुःख का पर्यायवाची है, को सुख मानना स्पष्टतया अनुचित है ।

श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका द्वारा लिखित तथा गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित भाष्य में असम्भूति का अर्थ विनाशशील देव, पितर मनुष्यादि लिया गया है और सम्भूति का अर्थ अविनाशी परमेश्वर, किया गया है । इस प्रकार उनके अनुसार इस मन्त्र का अर्थ हुआ–जो अविनाशी परमेश्वर और विनाशशील देवादि को साथ साथ जानता है, वह विनाशशील देवादि की उपासना से मृत्यु को पार करके अविनाशी परमेश्वर की उपासना से अमृत को भोगता है अर्थात् परब्रह्म को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने लिखा है कि विनाश शब्द के दो परस्पर विरोधी अर्थ हैं 'विगतः नाशः यस्मात्' जिससे नाश विगत है अर्थात् जिसका नाश नहीं होता और विशेषेण नाशः जिसका विशेष नाश होता है । अस्तु, चूंकि मनुष्य नश्वर है, नाशवान् है, इस लिए विनाश का अर्थ एक व्यक्ति, असम्भूति हुआ जबकि इसके विपरीत सम्भूति, संघ अथवा समाज अमर है क्योंकि यह सदा जीवित रहता है ।

अस्तु उनके अनुसार इस मन्त्र का अर्थ हुआ-जो संघशक्ति, समाज निष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा एवं व्यक्तिस्वातन्त्र्य अथवा वैयक्तिक विकास दोनों के लिए एक साथ प्रयास करता है, वह व्यक्तिगत विकास एवं उन्नति से सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुखों को प्राप्त करता है तथा संघभाव से अमरत्व प्राप्त करता है ।

किन्तु मन्त्र में 'अमृतम्' अथवा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है और संघभाव से कोई पुरुष अमरत्व, अमृतत्व अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता अतः यह अर्थ भी स्पष्ट रूप से अवास्तविक है ।

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

बृहदा०। ५। १५। १

(हिरण्मयेन पात्रेण) सोने के पात्र से (सत्यस्य मुखम् आपिहितम्) सत्य का मुख ढंका हुआ है। (पूषन) हे पालन पोषण करने वाले वाले प्रभो! (सत्यधर्माय दृष्टये) सत्य धर्म को देखने के लिए (तत् त्वं अपावृणु) उसे आप हटा दीजिये। वाजसनेयि संहिता में यह मन्त्र इस रूप में नहीं है, उसमें दूसरी पंक्ति भिन्न है।

यह अत्यन्त सुन्दर मन्त्र न केवल आध्यात्मिक तत्व का निरूपण करता है प्रत्युत दैनिक जीवन के व्यवहार का भी अत्यन्त आलंकारिक ढंग से चित्रण करता है। सत्य को ढंकने के लिये, छिपाने के लिये, किस तरह उस पर सोने का, धन का, चमकीला ढक्कन ढांक दिया जाता है, बड़े बड़े अपराधों को भी धन की सुनहरी चमक से किस प्रकार आच्छादित कर दिया जाता है, यह सर्व विदित है। भ्रष्टाचार का इससे अधिक सुन्दर चित्रण और क्या हो सकता है।

इस मन्त्र में भगवान से प्रार्थना की गई है कि मेरे द्वारा सत्य का दर्शन करने के लिये सत्य के ऊपर पड़ा हुआ स्वर्णमय आवरण हटा दें अर्थात् मुझे इतनी शक्ति दें कि मैं धन और सांसारिक ऐश्वर्य के मोह से ऊपर उठकर सत्य के दर्शन कर सकूं। संसार में हम नित्य प्रति देखते हैं कि सत्य को दबाने के लिये धन का उपयोग किया जाता

है। स्वर्ण के, धन के इस ढक्कन को हटाये बिना हम कभी सत्य के दर्शन नहीं कर सकते, हम हमेशा अपने मार्ग से विचलित हो जायेंगे।

अस्तु जो लोग सत्य का दर्शन करना चाहते हैं उन्हें स्वर्ण का, धन का लोभ छोड़ना ही पड़ेगा। इस प्रकार इस मन्त्र का व्यावहारिक अर्थ हुआ कि सत्य धर्म का पालन करने की इच्छा करने वाले पुरुष को सुवर्ण का लोभ छोड़ देना चाहिये। यह नियम वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में समान रूप से लागू होता है। इसलिये जिसे राष्ट्रधर्म का पालन करना हो उसे भी सुवर्ण का लोभ त्याग देना चाहिये क्योंकि वस्तुतः लोभ ही पाप का मूल है।

आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अर्थ हुआ कि सत्यस्वरूप परमात्मा तथा आत्मा के बीच माया मोह का स्वर्णिम आवरण पड़ा हुआ है अस्तु इस सांसारिक माया मोह को दूर किये बिना परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता।

कठोपनिषद् में वर्णित आख्यान में नचिकेता जब आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है तो यम उसे तरह तरह के सुख, सम्पदा, ऐश्वर्य इत्यादि का प्रलोभन देते हैं और कहते हैं कि हे नचिकेता! जो भोग मृत्यु लोक में दुर्लभ हैं उन सबको तुम अपनी इच्छानुसार माँग लो, आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न मत करो किन्तु जब नचिकेता ने प्रलोभन के इस स्वर्णिम ढकने को हटाकर आत्मज्ञान के लिए ही प्रार्थना की तभी यम ने उसे सत्य ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी।

अस्तु यह स्पष्ट है कि जब तक हम स्वर्ण के अथवा सांसारिक ऐश्वर्य के ढक्कन को नहीं हटायेंगे, कभी न तृप्त होने वाली कामनाओं, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा को नहीं छोड़ेंगे, तब तक सत्य के, ब्रह्म के दर्शन नहीं कर सकेंगे।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

जो सोने का सा हो उसे 'हिरण्मय' कहते हैं अर्थात् जो ज्योतिर्मय है उस ढंकने रूप पात्र से ही आदित्य मण्डल में स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्म का मुख द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन ! सत्य की उपासना करने के कारण जिसका सत्य ही धर्म है ऐसा मैं सत्य धर्मा हूँ उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे प्रति, दृष्टि अर्थात् सत्य स्वरूप की उपलब्धि के लिये तू उसे उघाड़ दे, उस पात्र को सामने से हटा दे।

गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित ईशोपनिषद् में इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार दिया है, जो बिल्कुल ही उचित प्रतीत नहीं होता।

हे परमेश्वर ! सत्य स्वरूप आपका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्य मण्डल रूप पात्र से ढंका हुआ है। सत्य धर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझको अपने दर्शन कराने के लिये उस आवरण को आप हटा लीजिये।

श्री बिनोवा भावे ने लिखा है कि वह एक महान मन्त्र है। इसमें दर्शन का सार आ जाता है। दुनिया में सत्य छिपा हुआ है, वह मोह के आवरण से ढंका हुआ है। जब तक उस मोह के आवरण का हम भेदन नहीं करते तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। एक मोह कांचन-मोह है और भी तरह तरह के मोह हैं। उनको 'हिरण्मयपात्र' अर्थात् सोने का ढंकना कहा है। अगर सत्य के दर्शन करना है, तो यह सोने का ढंकना दूर हटा देना चाहिये।

उन्होंने लिखा है 'हिरण्मयपात्र' शब्द स्पष्ट ही लाक्षणिक है। फिर भी अक्षरार्थ से यह वित्त मोह का सूचक है। वित्तमोह से सत्य दर्शन का लोप होता है और मनुष्य प्रमाद में पड़ता है।

प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

।। कठोपनिषद् । १ । २ । ६ ।

इस मन्त्र में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि यदि सत्य को तथा

धर्म को देखना है तो पहले यह सोने का ढक्कन हटा दो अन्यथा सत्य सदा के लिए छिपा रहेगा। जीवन में जो सच्चरित्र व्यक्ति इस सोने के ढक्कन को हटा पाते हैं, वे ही सच्चाई तक पहुँच पाते हैं। इस प्रकार दैनिक व्यवहार से ही यह स्पष्ट है कि जब तक सोने का, धन का, सम्पत्ति का तथा अन्य भोगपरक वस्तुओं का लोभ एवं मोह नहीं छोड़ा जायेगा तब तक हम सत्य एवं धर्म के पास नहीं पहुँच सकेंगे। इस प्रकार के लोभ से न केवल व्यक्ति तथा परिवार की ही क्षति होती है बल्कि इसके अत्यधिक बढ़ जाने से समाज एवं राष्ट्र का भी नाश हो जाता है क्योंकि ऐसे नीच, लोभी लोग भी देश में उत्पन्न हो जाते हैं जो सोने के लालच में देश को भी बेचने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

आध्यात्मिक उन्नति में यह भोग लिप्सा अत्यन्त बाधक होती है। यह स्पष्ट है कि जब तक भगवान की कृपा से मायामोह का यह स्वर्णमयी चमकीला आवरण अथवा ढक्कन नहीं हटेगा तब तक सत्य स्वरूप परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकेंगे। इसीलिए भगवान् से यह ढक्कन हटाने की प्रार्थना यहाँ की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।३।६) में भगवान को (सत्यस्य सत्यम्) 'सत्य का सत्य' कहा गया है। अतः सत्य के दर्शन का अर्थ परमात्मा का दर्शन है।

अनेक लालसाओं, कामनाओं तथा ऐषणाओं में फँसे हुये व्यक्ति को तो भगवान् के विषय में सोचने तक का अवसर नहीं रहता, उसके दर्शन का प्रश्न ही कहाँ उठता है। इसलिए कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए यह महत्वपूर्ण निर्देश दिया गया है और यह भी इंगित किया गया है कि इसके लिये भगवान् की कृपा की आवश्यकता है। अतः उसी से प्रार्थना की गई है कि वह कृपा करके यह आवरण हटा दें।

हिरण्मयेन पात्रेण—

मायारूपी आवरण से सत्यस्वरूप भगवान् के आच्छादित रहने

का भाव गीता में निम्न प्रकार दिया गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।

।। गीता । ७ । २५ ।।

सत्व, रज तथा तम के संयुक्त होने को योग कहते हैं और इन तीन गुणों से युक्त सांसारिक मायाजाल को योगमाया कहते हैं ।

(योगमाया समावृतः) योगमाया से आच्छादित मैं सबके लिये प्रकाशित अथवा प्रकट नहीं रहता हूँ । नाना कामनाओं के कारण नष्ट हो गया है विवेक तथा ज्ञान जिसका, ऐसा मूढ़ अथवा अल्प बुद्धि युक्त (लोकः) पुरुष मुझ अनादि एवं अविनाशी को नहीं जानता ।

इस मन्त्र में सत्य तथा धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाते हुये यह स्पष्ट किया गया है कि जो सत्य है, वही धर्म है, और जो सत्य नहीं है वह किसी भी रूप में धर्म नहीं हो सकता । वैदिक वाङ्मय में यह तथ्य अनेक स्थानों पर भिन्न भिन्न प्रकार से बताया गया है किन्तु फिर भी यह अत्यन्त दुःख का विषय है कि हम असत्य पर आधारित बातों को धर्म अथवा धर्म का भाग मान लेते हैं क्योंकि हमारे अन्दर इतना साहस नहीं रह गया है कि हम वेद के इस कथन के आधार पर कह सकें कि अमुक असत्य बात हमारे धर्म का भाग नहीं हो सकती ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में धर्म एवं सत्य की एकरूपता निम्न प्रकार बताई गई है—

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य-क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांस-माशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्

सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् ह्येवैतदुभयं भवति।

॥ बृहदा० । १ । ४ । १४ ॥

(सः) वह मनुष्य समाज (न एव व्यभवत्) वृद्धि अथवा विशेष उन्नत अवस्था प्राप्त न कर सका तब (तत्) उसने (श्रेयः रूपम् धर्मम्) श्रेय अर्थात् कल्याण रूप धर्म को (अत्यसृजत) रचा। (तत् एतत्) सो वह (क्षत्रस्य क्षत्रम्) क्षत्र अर्थात् बल का भी बल है, (यद् धर्मः) जो धर्म है, (तस्मात् धर्मात् परम्) इसलिये धर्म से बढ़कर (न अस्ति) कुछ नहीं है (यथा राज्ञा) जैसे राजा (एवम् धर्मेण अथः अबलीयान्) उसी प्रकार, निर्बल पुरुष भी धर्म के द्वारा (बलीयां-सम्) अधिक बल वालों को (आशंसते) जीतना चाहता है। (वै) निश्चय ही (यः सः धर्मः) जो वह धर्म है (तत् वै सत्यम्) वही निश्चित रूप से सत्य है। (तस्मात्) इसलिए (सत्यं वदन्तम्) सत्य बोलते हुये को (आहुः) कहते हैं कि (धर्मम् वदति इति) धर्म को कहता है, (वा) अथवा (धर्मम् वदन्तम्) धर्म कहने वाले को (सत्यं वदति इति) सत्य कहता है, ऐसा कहते हैं। (हि) क्योंकि (एतत् उभयम्) ये दोनों (एतत् एव भवति) एक ही हैं।

इस प्रकार धर्म और सत्य वास्तव में एक ही हैं और ऐसा सत्य स्वरूप धर्म ही निर्बलों का बल है।

मनुष्य के कल्याण के लिये मन की पवित्रता सबसे अधिक आवश्यक है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन अथवा मोक्ष का कारण है और इस मन की पवित्रता सत्य से ही होती है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

॥ मनु० । ५ । १०९ ॥

जल से शरीर के अवयव शुद्ध होते हैं, सत्य से मन शुद्ध होता है, विद्या तथा तप से जीवात्मा शुद्ध होती है और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है।

आत्मा की उन्नति में सत्य का इतना महत्व है कि वेद में सत्य का व्रत करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्देश दिया गया है किन्तु दुर्भाग्य से हम सत्य का व्रत न करके केवल सत्यनारायण की कथा कहने तथा सुनने लगे हैं और वेदों के निर्देश को पूरी तरह भूल गये हैं। सत्य नारायण की कथा का मूल एवं वास्तविक स्वरूप यजुर्वेद के पाँचवे मन्त्र में निम्न प्रकार वर्णित है:—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

॥ यजु०।१।५॥

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परब्रह्म! हमारे व्रत की रक्षा करने वाले हे व्रतपते! (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रत का आचरण करूँगा। (तत् शकेयम्) मुझे उसके लिये शक्ति दीजिये ताकि मैं व्रत पर आचरण कर सकूं। (तत् में राध्यताम्) मेरा वह व्रत आप पूरा कराइये। (इदं अहम् अनृतात् सत्यं उपैमि) व्रत यह है कि मैं असत्य से सत्य को प्राप्त होता हूँ।

कितना सुन्दर है यह मन्त्र! संसार में सबसे महत्वपूर्ण किन्तु सबसे कठिन व्रत सत्य बोलना तथा सत्य पर आचरण करना है। इसलिये मन्त्र में भगवान् को व्रत का रक्षक बताते हुये पहले व्रत के आचरण का संकल्प किया गया है, फिर भगवान् से इस कठिन व्रत के

पालन के लिये शक्ति देने की प्रार्थना की गई है किन्तु इस व्रत के पालन के लिये केवल संकल्प एवं शक्ति ही पर्याप्त नहीं है बल्कि भगवान् की कृपा एवं सहायता की भी आवश्यकता है। अतः शरणागत होते हुए भगवान् से प्रार्थना की गई है कि वह मेरा व्रत पूर्ण करवाये।

कृत संकल्प होकर शक्ति एवं सहायता की प्रार्थना के उपरान्त ही व्रत का स्वरूप बताते हुए कहा गया है "व्रत यह है कि मैं अनृत अर्थात् असत्य से सत्य को प्राप्त होता हूँ।"

यह है सत्य और उसके व्रत का महत्व जिसे न समझकर हमने सत्य के साथ नारायण जोड़ दिया और व्रत के साथ 'कथा' शब्द जोड़कर 'सत्य नारायण व्रत कथा' बना दी और केवल कथा सुनकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मानकर अपने को न केवल हास्यास्पद बना दिया बल्कि स्वयं को पतन के गर्त में भी गिरा दिया।

यह उल्लेखनीय है कि वेदों तथा उपनिषदों में कहीं भी असत्य शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है केवल अनृत शब्द का ही प्रयोग किया गया है। भाषा के विद्वानों के लिए यह एक बिचारणीय तथ्य है।

सत्य की महिमा बताते हुये मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

॥ मुण्डक. । ३ । १ । ५ ॥

नष्ट हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे यतिगण अर्थात् विरक्त सन्यासी शरीर के अन्दर स्थित जिस ज्योतिर्मय, पवित्र तथा नित्य अर्थात् अनादि एवं अनन्त परमात्मा को देखते हैं, वह सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

मुण्डक। ३। १। ६

हमारे देश का आदर्श वाक्य अथवा महावाक्य 'सत्यमेव जयते' उपनिषद् के इसी महत्वपूर्ण श्लोक से लिया गया है।

सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं, मोक्ष का मार्ग, देवयान, सत्य से ही विस्तृत हुआ है अर्थात् सत्य आचरण का मार्ग ही वस्तुतः देवयान है, जिस पर चलकर निश्चय ही आप्तकाम ऋषि वहाँ जाते हैं जहाँ सत्य का परम निधान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सत्य पुञ्ज परब्रह्म है।

केनोपनिषद् में कहा गया है—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।

॥ केन०। ४। ८॥

उस ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए तप, इन्द्रिय-निग्रह तथा वह श्रेष्ठ कर्म साधन हैं जो वेद तथा वेदाङ्गों में प्रतिष्ठित हैं और जिनका आयतन अर्थात् आधार सत्य है। इस प्रकार इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि केवल सत्य पर आधारित वेदानुकूल कर्म ही ब्रह्मज्ञान

तथा ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं, असत्य पर आधारित नहीं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः॥

॥ यजु० । १८ । ७७ ॥

यह मन्त्र का केवल आधा भाग है।

(प्रजापतिः सत्यानृते रूपे दृष्ट्वा व्याकरोत्) प्रजापति ने अपने सत्यज्ञान से सत्य और असत्य के वास्तविक रूप को देखकर उन्हें अलग अलग किया है। (प्रजापतिः अनृते अश्रद्धाम् सत्ये श्रद्धाम् अदधात्) प्रजापति ने अनृत में अश्रद्धा तथा सत्य में श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है, स्थापित किया है।

अतः मनुष्य को भी भगवान के इस निर्देश के अनुसार अपने विवेक से सत्य असत्य, धर्म अधर्म, न्याय अन्याय, उचित अनुचित को अलग अलग करके सत्य, धर्म तथा न्याय आदि में श्रद्धा तथा असत्य अधर्म तथा अन्याय आदि में सदा अश्रद्धा रखनी चाहिये। इसी से मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है।

शतपथ ब्राह्मण में सत्य की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा गया है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत् एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति। ॥ श. ब्रा. । १ । १ । १ । ४ तथा ५ ॥

सत्य तथा अनृत (असत्य) केवल यही दो हैं, तीसरा नहीं है। सत्य बोलने वाले देव होते हैं और असत्य बोलने वाले मनुष्य। यह मैं अनृत से सत्य की ओर जाता हूँ। इस प्रकार की भावना से पुरुष मनुष्य से देवत्व की ओर जाता है। इसलिये सत्य ही बोलें। निश्चय ही देव लोग जिस व्रत का पालन करते हैं वह सत्य का ही व्रत है, इसीलिये वे यशस्वी होते हैं। निश्चय ही जो ऐसा जानकर सत्य बोलता है, वह यशस्वी होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—

अथोखल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुं,
सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति।

॥ ऐत० ब्रा० १।६॥

ऐसा कहते हैं कि कौन मनुष्य सब सत्य बोलने में समर्थ है; देवता ही सत्य से युक्त होते हैं मनुष्य तो असत्य से युक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्य से युक्त होकर मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है।

सत्य और अनृत केवल दो ही हैं, यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव में समस्त संसार में केवल यही दो पक्ष हैं, सत्य जीवन है, अनृत मृत्यु है, सत्य ज्ञान है, अनृत अज्ञान है, सत्य प्रकाश है, अनृत अन्धकार है, सत्य सत् है, अनृत असत् है। इसीलिये प्रार्थना की गई है 'असतो मा सद्गमय'।

अथर्व वेद के निम्नांकित अत्यन्त सुन्दर मन्त्रों का उल्लेख करते हुये स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है कि इन मन्त्रों में धर्म के लक्षणों का प्रकाश किया गया है। वास्तव में इन मन्त्रों में मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण शिक्षा दी गई है।

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता।

॥ अथर्व १२।५।१॥

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ।

॥ अथर्व । १२ । ५ । २ ॥

उक्त दोनों मन्त्रों का देवता ब्रह्मगवि: अर्थात् वेदवाणी है । (ब्रह्मणा श्रमेण तपसा सृष्टा वित्ता) ब्रह्म द्वारा श्रम तथा तप से सृजित (ब्रह्मगवि:) वेदवाणी को हमारे द्वारा प्राप्त किया गया है । (ऋते श्रिता) यह वेदवाणी ब्रह्म के सत्य ज्ञान में स्थित है । (सत्येन आवृता) सत्य से आवृत है तथा असत्य से सर्वथा परे है । (श्रिया प्रावृता) श्री, शोभा, कीर्ति, वृद्धि, सिद्धि, लक्ष्मी तथा वैभव से प्रावृत एवं परिवेष्टित है, (यशसा परीवृता) तथा यश से परिवृत है अर्थात् स्वयं यशस्वी है और यश देने वाली है । तात्पर्य यह है कि यह वेद-वाणी अपने उपासकों, साधकों तथा अनुगामियों को श्री, शोभा, लक्ष्मी, वृद्धि, सिद्धि आदि प्रदान करती है तथा उन्हें यशस्वी बनाती है ।

इन मन्त्रों में उल्लिखित धर्म के लक्षणों का सभी मनुष्यों द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिये; उन्हें वेदों में दी गई शिक्षा के अनुसार सत्य धर्म का आचरण करते हुये श्री, शोभा एवं वैभव प्राप्त करना चाहिये तथा श्रेष्ठ त्यागमय कार्य करके अपने जीवन को यज्ञमय एवं यशस्वी बनाना चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्य को ऐसे सफल एवं समृद्धशाली जीवन के लिये प्रयास करना चाहिये जो श्रम, तप, ज्ञान, सत्य, श्री तथा यश आदि सभी दिव्य गुणों से परिपूर्ण हो । मन्त्र में प्रत्येक गुण के लिए कितने भावपूर्ण सुन्दर शब्दों का चयन किया गया है, ऋते श्रिता, सत्येन आवृता, श्रिया प्रावृता, यशसा परीवृता । वैदिक भाषा का यह लालित्य दर्शनीय है ।

सत्यं परं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते

कदाचन सताꣳहि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ।

॥ तैत्ति० आरण्यक । प्रपा । १० । अनु । ६२ ॥

सत्य ही श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ ही सत्य है अर्थात् सत्य से अधिक उत्कृष्ट और कुछ नहीं है, सत्य ही वह सुवर्ण लोक अथवा श्रेष्ठ पद है जहाँ से पुरुष कभी च्युत नहीं होता। सत्पुरुषों में जो बड़प्पन है, श्रेष्ठता है, वह सत्य ही है, अतः सत्य में रमण करना चाहिये।

सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति ।

तैत्ति० आरण्यक । प्रपा १० । अनु. । ६२

सत्य से अथवा सत्य रूपी ब्रह्म से अथवा ब्रह्म के सत्य नियमों से ही वायु रक्षा करती है, सत्य से आदित्य द्युलोक में प्रकाशित होता है, सत्य वाणी की प्रतिष्ठा है, सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, अतएव सत्य को परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्' इस आदर्श वाक्य को सदा स्मरण रखना चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत् त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ।

॥ बृह० । ५ । ५ । १ ॥

(इदम् अग्रे आपः एव आसुः) इस जगत् की उत्पत्ति से पूर्व केवल

ब्रह्म ही था, (ताः आपः सत्यम् असृजन्त) उस ब्रह्म ने सत्य का सृजन किया, (सत्यं ब्रह्म प्रजापतिम्) सत्य स्वरूप ब्रह्म ने प्रजापति (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया, (प्रजापतिः देवान्) और ब्रह्मा ने देवताओं को, (ते देवाः सत्यम् एव उपासते) वे देवगण सत्य की ही उपासना करते हैं।

(तत् एतत् त्र्यक्षरं सत्यम्) वह यह सत्य शब्द तीन अक्षर वाला है, 'स' यह एक अक्षर है, 'ती' यह एक अक्षर है और 'य' यह एक अक्षर है। प्रथम एवं उत्तम अर्थात् अन्तिम अक्षर में सत्य है और मध्य का अक्षर 'ती' अनृत है। यह अनृत दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत है। इसलिये सत्य बहुत है। इस प्रकार के ज्ञाता विद्वान को अनृत नहीं मारता अर्थात् उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती और वह सदैव असत्य पर विजय प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि सत्य शब्द में 'स' और 'य' ये दो अक्षर सत्य के प्रतीक हैं और बीच का अक्षर 'त' अनृत का प्रतीक है क्योंकि अनृत शब्द में 'त' अक्षर आता है। 'स' और 'य' के बीच में 'त' है अर्थात् अनृत सत्य के द्वारा दोनों ओर से घिरा हुआ है और सत्य अनृत से दो गुना अथवा परिमाण में बहुत अधिक है क्योंकि अनृत का आधा अक्षर है और सत्य के दो अक्षर हैं।

इस प्रकार सत्य शब्द संसार की वास्तविक व्यवस्था जिसमें सत्य और असत्य दोनों हैं, को चित्रित करता है और साथ ही यह बताता है, यह इंगित करता है कि संसार में असत्य से सत्य सदैव अधिक रहता है, तभी यह सांसारिक व्यवस्था चल रही है। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् के जिन शाश्वत नियमों से, जैसे सूर्य का उदय होना, वायु का चलना, अग्नि का प्रज्ज्वलित होना, प्राणियों का जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होना, ये सब शाश्वत नियम, जिनसे यह संसार चक्र चल रहा है, पूर्णरूप से सत्य हैं, इन्हें

ऋत भी कहते हैं। संसार में इन्हीं नियमों की प्रमुखता है, इन्हीं की अधिकता है और इन्हीं का बाहुल्य है। इसीलिए कहा गया है कि असत्य से सत्य अधिक है।

सत्य की महत्ता को दृष्टि में रखते हुये तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कहा गया है, "ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।" और उसके बाद जब शिष्य को उपदेश दिया गया तो सर्वप्रथम कहा गया 'सत्यं वद। धर्मं चर।' कैसी अनोखी शिक्षा है यह जिसमें केवल चार शब्दों में ही सब कुछ कह दिया गया है। यह है वेद एवं वेदानुकूल शिक्षा का सौन्दर्य।

सत्यता एवं सरलता अथवा निष्कपटता का महत्व दिखाते हुये प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं
येषु सत्यम् प्रतिष्ठितम्।

॥ प्रश्नो० । १ । १५ ॥

उनका ही यह ब्रह्मलोक है जिनमें तप एवं ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें सत्य प्रतिष्ठित रहता है अर्थात् जो सत्याचरण पर दृढ़ रहते हैं।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।

॥ प्रश्न । १ । १६ ॥

उनका ही यह निर्मल ब्रह्मलोक है जिनमें कुटिलता, असत्य तथा छल कपट नहीं है।

तैत्तिरीय अपनिषद् में ब्रह्म को सत्य एवं ज्ञान का ही रूप बताया गया है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

तैत्ति० उष० २ । १

ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय तथा अनन्त है ।

भारतीय संस्कृति के महावाक्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से तो सभी लोग परिचित हैं । दुःख केवल इतना है कि हम लोग इसका निष्ठापूर्वक पालन नहीं करते ।

सत्य के कल्याणकारी एवं सुन्दर होने के कारण ही सत्य पर आधारित सुमति की प्रार्थना वेद में की गई है ।

देवस्य चेततो महीम्प्र सवितुर्हवामहे ।

सुमतिᳫं सत्यराधसम् ।

॥ यजु० । २२ । ११ ॥

(सवितुः चेततः देवस्य) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले ज्ञान स्वरूप देव की (सत्यराधसम् महीम् सुमतिम् प्र हवामहे) सत्य को सिद्ध करने वाली अथवा सत्य पथ पर चलाने वाली महती सुमति के लिये हम प्रार्थना करते हैं, उसे ग्रहण करते हैं ।

मनुस्मृति में कहा गया है कि असत्य से यज्ञ नष्ट हो जाता है—

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥

॥ मनु० । ४ । २३७ ॥

असत्य से यज्ञ, अहंकार से तप, विद्वान् ब्राह्मण का अपमान करने से आयु तथा दान देकर प्रकट करने से दान नष्ट हो जाता है ।

किन्तु सत्य बोलने का अर्थ अनावश्यक रूप से कटु बोलना नहीं है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के प्रसिद्ध श्लोक की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

॥ मनु० । ४ । १३८ ॥

सत्य एवं प्रिय भाषण करना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये किन्तु ऐसा प्रिय नहीं बोलना चाहिये जो असत्य हो, यही सनातन धर्म है।

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड । ३७ । २

हे राजन्! सदा प्रिय बोलने वाले पुरुष तो बहुत सुलभ हैं किन्तु अप्रिय एवं कल्याणकारी बात को कहने वाले तथा उसको सुनने वाले दोनों दुर्लभ होते हैं।

जब जाबालि ने राम को आयोध्या लौटाने के उद्देश्य से ऐसी बात कही, जो उनके अनुसार धर्मानुकूल थी किन्तु जो वास्तव में असत्य एवं वेद तथा धर्म के विरुद्ध थी, तब श्री राम ने रोष प्रकट करते हुये उसके कथन को मिथ्या एवं अनुचित बताते हुये सत्य के महत्व का जो वर्णन किया है, वह वास्तव में दर्शनीय है और भारतीय संस्कृति के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है। सत्य प्रतिज्ञ, सत्यभृतांवरः एवं धर्मभृतांवरः राम ने कहा—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ।।

।। वाल्मीकि० । अयो० । १०९ । १० ।।

सत्य का पालन करना एवं अत्याचार न करना ही राजाओं का सनातन धर्म है, आचार है, अतः राज्य सत्यात्मक होता है । सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है ।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ।।

।। वाल्मीकि । अयोध्या । १०९ । ११ ।।

ऋषियों तथा देवताओं ने सदा सत्य का ही आदर किया है । इस लोक में सत्यवादी मनुष्य मृत्यु के उपरान्त अक्षय परम धाम को जाता है ।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ।।

।। वाल्मीकि । अयो० । १०९ । १२ ।।

झूठ बोलने वाले मनुष्य से सब लोग उसी प्रकार डरते हैं जैसे साँप से । संसार में सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है ।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ।।

।। वाल्मीकि । अयो० । १०९ । १३ ।।

जगत में सत्य ही ईश्वर है । सत्य के ही आधार पर धर्म की

स्थिति रहती है। सत्य ही सबका मूल अथवा आधार है। सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई परम पद नहीं है।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥

वाल्मीकि। अयो०। १०९। १४॥

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सबका आधार सत्य ही है, इसलिये सबको सत्य परायण होना चाहिये।

सत्य के सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सत्य की प्राप्ति के लिये श्रद्धा की अत्यन्त आवश्यकता होती है। श्रद्धा के बिना केवल तर्क अथवा बुद्धि से सत्य की अथवा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रद्धा का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है बल्कि इसका वास्तविक अर्थ सत्य को धारण करने वाली भावना अथवा सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा है। श्रत् सत्यमस्यां धीयते इति श्रद्धा (श्रत्+धा+अङ्)

वेद में कहा गया है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

॥ यजु०। १९। ३०॥

ब्रह्मचर्यादि यम नियमों के पालन करने से दीक्षा, योग्यता एवं ज्ञान प्राप्त होता है, दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् प्रतिष्ठा तथा धन प्राप्त

होता है, दक्षिणा से श्रद्धा अर्थात् सत्य को धारण करने की क्षमता तथा सत्य के प्रति निष्ठा प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।

गीता में भी कहा गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

॥ गीता। ४। ३९॥

(तत्परः) भगवान के प्रति समर्पित हुआ (संयतेन्द्रियः) जितेन्द्रिय (श्रद्धावान् ज्ञानं लभते) श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है, तथा (ज्ञानं लब्ध्वा) ज्ञान को प्राप्त करके (अचिरेण परां शान्तिम् अधिगच्छति) शीघ्र ही भगवत् प्राप्ति रूप परमशान्ति को प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

॥ गीता। ४। ४०॥

(अज्ञः च अश्रद्दधानः च) भगवद् विषय को न जानने वाला अज्ञानी तथा श्रद्धा रहित और (संशयात्मा) संशययुक्त पुरुष (विनश्यति) परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। (संशयात्मनः) संशययुक्त पुरुष के लिये तो (न सुखम्) न सुख है, (न अयं लोकः) न यह लोक है (न परः अस्ति) और न परलोक अर्थात् उसके यह लोक और परलोक, दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

वास्तव में आत्मोन्नति के लिए जो आवश्यक गुण हैं उनमें श्रद्धा का शीर्ष स्थान है, जैसा कि वेद में कहा गया है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

॥ ऋग् । १० । १५१ । १ ॥

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धापूर्वक यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त की जाती है, (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धापूर्वक ही उसमें हवि का आहुति दी जाती है (श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा आ वेदयामसि) हम लोग अपनी वाणी से श्रद्धा को दैवी सम्पत्तियों अथवा गुणों के शिरमौर के रूप वर्णित करें ।

यह है श्रद्धा तथा उससे प्राप्त होने वाले सत्य की महिमा । वास्तव में श्रद्धा से ही पुरुष के जीवन का निर्माण होता है ।

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

॥ गीता । १७ । ३ ॥

हे भारत ! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरणों के अनुरूप होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, (यः यत् श्रद्धः) जो जैसी श्रद्धा वाला है, (स एव सः) वह वैसा ही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वह पुरुष भी श्रद्धा के अनुरूप वैसा ही होता है ।

गीता में यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि श्रेष्ठ कर्म फलदायक नहीं होते ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

॥ गीता । १७ । १३ ॥

(विधिहीनम्) शास्त्रविधि से रहित (असृष्टान्नम्) अन्न दान से रहित (मन्त्रहीनम्) मन्त्रों से रहित (अदक्षिणम्) दक्षिणा से रहित (श्रद्धाविरहितम्) तथा श्रद्धा रहित (यज्ञम्) यज्ञ को (तामसं परिचक्षते) तामस यज्ञ कहते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

॥ गीता । १७ । २८ ॥

(पार्थ) हे अर्जुन ! (अश्रद्धया हुतम्) बिना श्रद्धा के किया गया हवन, (दत्तम्) दिया गया दान, (तप्तं तपः कृतम् च यत्) किया गया तप तथा अन्य श्रेष्ठ कर्म (तत् असत्) वह सब असत् है, (इति उच्यते) ऐसा कहा जाता है, (तत् नो इह) वह न तो इस लोक में (न च प्रेत्य) और न मरने के बाद ही लाभदायक होता है।

श्रद्धा की महत्ता को दृष्टि में रखते हुये गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही श्रद्धा और विश्वास के रूप में जगज्जननी भवानी तथा महेश्वर को प्रणाम करते हुये लिखा है कि श्रद्धा के बिना सिद्ध पुरुषों को भी अन्तःस्थ ईश्वर के दर्शन नहीं होते।

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

॥ रामचरितमानस । १ । २ ॥

जिस श्रद्धा एवं विश्वास के विना सिद्ध पुरुष भी अपने हृदय में स्थित ईश्वर के दर्शन नहीं कर पाते उस श्रद्धा रूपी भवानी तथा विश्वास रूपी शङ्कर को प्रणाम करता हूँ।

यहाँ यह भी उल्लेख करना परम आवश्यक है कि ऊपर दिये गये

वेद मन्त्र में श्रद्धा को 'भगस्य मूर्धनि' सम्पति की शिर स्थानीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति बताया गया है, जिससे स्पष्ट है कि श्रद्धा मनुष्य की ही नहीं बल्कि राष्ट्र की भी वास्तविक सम्पत्ति है और इस गुण के बिना परम समृद्ध व्यक्ति अथवा राष्ट्र भी वास्तव में निर्धन ही कहा जायेगा। इसीलिये गीता में भगवान् कृष्ण ने शुद्ध अन्तःकरण आदि श्रेष्ठ मानवीय गुणों को दैवी सम्पत्ति बताया है।

दुःख का विषय है कि आज हमारे देश में श्रद्धा का सर्वथा अभाव है जो हमारे अधःपतन का एक प्रमुख कारण है।

सत्य एवं धर्म की एक रूपता होने के कारण धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। उपासना की विधि तथा बाह्य आडम्बरों से वास्तविक धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

मनुस्मृति (६। ६६) में कहा है—

समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्।

समस्त प्राणियों से अपनी आत्मा के समान व्यवहार करना ही प्रमुख धर्म है, वाह्य, दिखावटी चिह्न धर्म के कारण नहीं है अर्थात् वह न तो धर्म हैं और न उनसे धर्म परिलक्षित होता है।

मनुस्मृति में वैदिक धर्म के चार आधार बताये गये हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
॥ मनु०। २। १२॥

वेद तथा स्मृति के निर्देशों का पालन करना सदाचार तथा ऐसे श्रेष्ठ कार्य करना जिनसे अन्तरात्मा को प्रसन्नता हो अथवा जिनके लिए अन्तरात्मा प्रेरित करे, धर्म के ये चार आधार अथवा

प्रकाश स्तम्भ है, जिनसे हम इस आशय का ज्ञान अथवा प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं कि कौन सा कार्य धर्मानुकूल है और कौन सा धर्म के विरुद्ध।

धर्म की महत्ता तथा उपयोगिता बताते हुये मनुस्मृति में कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त केवल धर्म ही मनुष्य के साथ जाता है अन्य कुछ नहीं।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।।

।। मनु० ४। २४१ ।।

मृत शरीर को लकड़ी अथवा मिट्टी के ढेले के समान पृथ्वी पर छोड़कर सभी बन्धु-बान्धव विमुख होकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही पुरुष के साथ जाता है।

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।।

।। मनु०। ४। २४२ ।।

अतः अपनी सहायता के लिए नित्य धर्म का आचरण करके शनैः शनैः उसका सञ्चय करना चाहिये। धर्म की सहायता से ही दुस्तर तम रूपी भवसागर से मनुष्य पार होता है।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रम् गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।

।। चाणक्य। ५। १५ ।।

विदेश में विद्या मित्र होती है, घर में स्त्री मित्र होती है, रोग से पीडित व्यक्ति के लिये औषध मित्र होती है और मरे हुये का धर्म मित्र होता है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

॥ चाणक्य । १२ । १२ ॥

शरीर नाशवान् है, सम्पत्ति भी सदा रहने वाली नहीं है, मृत्यु सदा निकट रहती है, इसलिए धर्म का सदा संग्रह करना चाहिये ।

धर्म क्या है, इसकी वास्तविक जानकारी के लिए मनुस्मृति में धर्म के दस महत्वपूर्ण लक्षण गिनाये गये हैं ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

॥ मनु० ६ । ९२ ॥

१- धृतिः–अर्थात् धैर्य एवं दृढ़ता, २- क्षमा, ३- दमः अर्थात् चित्त एवं मन की वृतियों को रोकना, उनका निग्रह अथवा निरोध करना, मन पर शासन करना, मनीषी होना, ४- अस्तेय–चोरी न करना, अन्याय अथवा अनधिकार चेष्टा करके किसी की धन सम्पत्ति आदि न लेना; ५- शौच–शरीर, मन, वाणी, कर्म तथा धन की पवित्रता, ६- इन्द्रिय निग्रह–बुद्धि एवं मन की सहायता से इन्द्रियों को वश में रखना, ७- धी–श्रेष्ठ बुद्धि, स्वाध्याय करना तथा ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिमान एवं मेधावी बनना ८- विद्या, ९- सत्य १०- अक्रोध-क्रोध पर विजय प्राप्त करना, अनुचित एवं अनावश्यक क्रोध न करना ।

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि धर्म के उपर्युक्त सभी लक्षण शाश्वत एवं सार्वभौमिक हैं, किसी देश, काल अथवा जाति तक सीमित नहीं हैं । इनमें उपासना पद्धति का भी कोई उल्लेख नहीं है । किसी भी देश का वासी किसी भी जाति का व्यक्ति, किसी भी पद्धति से उपासना करने वाला पूर्ण धार्मिक माना जायेगा यदि उसका जीवन, उसका आचरण, उसका व्यवहार इन लक्षणों के अनुरूप है । यह हैं वैदिक

धर्म के शाश्वत एवं सार्वभौसिक उदार मूल्य जो सब प्रकार के संकुचित बन्धनों से मुक्त हैं और जो अपनी विशाल भुजाओं में सम्पूर्ण मानवता को समेट लेने के लिए उत्सुक हैं ।

वैदिक वाङ्मय में धर्म की परिभाषा भी इतनी ही विशाल है ।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

॥ वैशेषिक दर्शन । १ । १ । २ ॥

जिससे अभ्युदय अर्थात् सर्वतोमुखी सांसारिक उन्नति तथा परम कल्याण करने वाली, परमगति देने वाली आध्यात्मिक उन्नति हो, वही धर्म है ।

कितनी सुन्दर है यह परिभाषा । जिस पर आचरण करने से, जिस जीवन पद्धति से व्यक्ति, समाज देश तथा सम्पूर्ण मानवता की उन्नति एवं कल्याण हो वही सच्चा धर्म है, वही वास्तविक कर्तव्य है ।

धर्म के लक्षणों के सम्बन्ध में नीति के निम्नांकित श्लोक भी बहुत सुन्दर हैं ।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधःस्मृतः ॥

॥ विदुरनीति । ३ । ५७ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया, अलोभ यह आठ प्रकार का धर्म मार्ग है । घृणा का अर्थ दया भी होता है ।

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

॥ विदुरनीति । ३ । ५८ ॥

इनमें से प्रारम्भ के चार तो दम्भ के लिये भी सेवन किये जाते

हैं किन्तु अन्त के चार अर्थात् सत्य, क्षमा, दया तथा अलोभ केवल महात्माओं में ही होते हैं।

सत्य एवं धर्म की महत्ता एवं स्वरूप को बताने वाले मनुस्मृति तथा महाभारत आदि के निम्नांकित अत्यन्त सुन्दर श्लोक दृष्टव्य हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥

॥ मनु० । ८ । १४ ॥

जिस सभा में धर्म पर अधर्म तथा सत्य पर असत्य की विजय हो और जहाँ देखने वाले उसका विरोध न करें, उस सभा के समस्त सभासद मानो मरे हुये हैं।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मो न सो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यन्न तद् यच्छलनानुविद्धम्॥

॥ विदुरनीति । ३ । ५८ ॥

वह सभा नहीं जहाँ पर ज्ञान एवं आयु से वृद्ध लोग न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म की बात न करें, वह धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं जो छल कपट से युक्त हो।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

॥ मनु० । ८ । १५ ॥

मरा हुआ धर्म अपने मारने वाले का नाश कर देता है और रक्षित किया हुआ धर्म अपने रक्षा करने वाले की रक्षा करता है। अतः धर्म का नाश नहीं करना चाहिये ताकि कहीं नष्ट हुआ धर्म हमारा ही

नाश न कर दे।

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम्।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः॥

॥ विदुरनीति। ८। १८॥

अग्नि में रखे जाने तथा भस्म हो जाने के बाद पुरुष द्वारा किये गये श्रेष्ठ कर्म ही उसका साथ देते हैं। अतः पुरुष को चाहिये कि यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करके शनैः शनैः उसका संचय करे।

धर्म से ही मनुष्य को सफलता एवं विजय श्री प्राप्त होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है–'यतो धर्मस्ततो जयः' जहाँ धर्म है वहीं विजय है।

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः॥

॥ विदुर०। ८। १२॥

हे तात! सर्वश्रेष्ठ पुण्यप्रद तथा अत्यन्त विशिष्ट यह बात तुम्हें बता रहा हूँ कि काम से, भय से अथवा लोभ से, यहाँ तक कि अपने प्राणों की रक्षा के लिए भी कभी धर्म का परित्याग न करे।

धर्म में शील एवं सदाचार का विशेष महत्व है। दुराचारी के वेदाध्ययन यज्ञ, जप तथा तप आदि सभी कर्म निष्फल होते हैं। इसीलिए मनुस्मृति तथा अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थों में सदाचार पर विशेष बल दिया गया है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

॥ मनु०। १। १०८।

श्रुति एवं स्मृति में कहा गया आचार ही परम धर्म है। अतः ज्ञानी द्विज को सदैव सदाचार से युक्त रहना चाहिये।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

॥ मनु० । ४ । १५६ ॥

सदाचार से आयु, इच्छित उत्तम सन्तान तथा अक्षय धन प्राप्त होता है। सदाचार मनुष्य के दुर्गुणों को नष्ट कर देता है।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥

॥ विदुर० । २ । ४१ ॥

विदुर जी कहते हैं कि मेरे विचार से आचारहीन पुरुष का कुल प्रमाण नहीं होता अर्थात् उत्तम कुल में उत्पन्न होने से दुराचारी व्यक्ति को सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। निश्चय ही अन्त्य जाति में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों का भी आचरण ही विशेष महत्व रखता है। अभिप्राय यह है कि ऊँचे कुल का होने पर भी यदि व्यक्ति सदाचारी नहीं है तो वह श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता जब कि निम्न कुल में जन्म लेने वाला भी यदि सदाचारी है तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, उसे अन्त्य कुल में जन्म लेने के कारण नीचा नहीं समझना चाहिये।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जव दया शौचं सत्यं पीयूषवत् पिब॥

॥ चाणक्य । ९ । १ ॥

हे भाई! यदि मुक्ति की इच्छा हो तो विषयों को विष के समान त्याग दो और क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत की भाँति पियो।

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा ।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः ।।
।। चाणक्य । १२ । ११ ।।

सच्चाई मेरी माता और ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई तथा दया मेरी मित्र है, शान्ति मेरी पत्नी है तथा क्षमा मेरा पुत्र है, ये छः लोग ही मेरे परिवार के सदस्य हैं ।

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।
।। विदुरनीति । ७ । ४७ ।।

विनम्रता अपयश को दूर कर देती है, पराक्रम संकट को नष्ट कर देता है, क्षमा सदा क्रोध को दूर कर देती है और सदाचार दुर्व्यसनों को नष्ट कर देता है ।

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीता
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ।।
।। विदुरनीति । ८ । २५ ।।

नित्य प्रति यथा समय स्नान करने वाला, नित्य यज्ञोपवीत धारण करके अग्निहोत्र करने वाला, नित्य स्वाध्याय करने वाला, पतित अन्न का ग्रहण न करने वाला अथवा धार्मिक आचरण से रहित पुरुषों के अन्न तथा धन को ग्रहण न करने वाला, सत्य बोलने वाला, गुरुजनों एवं बृद्धों की सेवा करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मलोक से पतित नहीं होता अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ।

अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्याद् अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

॥ मनु० । ५ । ४ ॥

वेदाध्ययन का अभ्यास न करने से, अच्छे आचरण को त्याग देने से तथा असात्विक अन्न अथवा पाप से अर्जित अन्न खाने से ब्राह्मण को मृत्यु मारना चाहती है। तात्पर्य यह है कि इन दोषों से युक्त होने पर ब्राह्मण अपने पद से पतित हो जाता है और इस प्रकार मानो उसकी मृत्यु हो जाती है।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

सूक्ति सुधा । १२ ॥

चरित्र की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए। धन तो आता है और चला जाता है। धन से क्षीण व्यक्ति क्षीण नहीं होता किन्तु चरित्र से क्षीण व्यक्ति की तो मृत्यु ही हो जाती है।

धार्मिक एवं सज्जन व्यक्तियों के गुणों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥

॥ विदुरनीति । ३ । ६० ॥

सत्य भाषण, उत्तमरूप अथवा आह्लादक मुद्रा, वैदिक ज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील अथवा उत्तम स्वभाव, बल, धन, शूरता एवं युक्तियुक्त तथा प्रभावकारी भाषण ये दश स्वर्ग के योनि अथवा साधन हैं।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।।

ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं, उसे यशस्वी बनाते हैं श्रेष्ठ बुद्धि, कुलीनता, संयम, वैदिक ज्ञान, पराक्रम, मितभाषिता, यथाशक्ति दान देना तथा किये गये उपकार के प्रति कृतज्ञता ।

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

वृक्ष परोपकार के लिये ही फल देते हैं, नदियाँ परोपकार के लिये बहती हैं तथा गायें परोपकार के लिये दूध देती हैं । श्रेष्ठ पुरुषों की विभूतियाँ परोपकार के लिये ही होती हैं ।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः ।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ।।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान् गुणान् ।
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम् ।।

।। भर्तृ । नीति । ७९ ।।

तृष्णा समाप्त कर दो, क्षमा धारण करो, अहंकार को मार दो, पाप से प्रेम मत करो, सत्य बोलो, सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, सम्माननीय व्यक्तियों का सम्मान करो, विद्वेष करने वालों को भी अपने पक्ष में लाने का प्रयास करो, अपने

गुणों को छिपाये रखो, कीर्ति की रक्षा करो तथा दीन दुःखियों पर दया करो, यही सज्जनों के लक्षण हैं।

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते॥

विदुर०।१।१२६

जो दूसरों के द्वारा न जानने पर भी अपने दोषों से लज्जित अनुभव करता है, वह अनन्त तेजस्वी तथा सुन्दर मन एवं संयमित बुद्धि वाला होकर सूर्य की भाँति चमकता है तथा समस्त संसार का गुरु हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ऐसा पुरुष अपने दोषों के लिए लज्जित होने के कारण उन्हें दूर करके परम तेजस्वी तथा सर्वश्रेष्ठ बन जाता है।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥

विदुरनीति।३।२

सारे तीर्थों में स्नान करना तथा सारे प्राणियों के प्रति सरलता का व्यवहार करना ये दोनों श्रेष्ठ कार्य हैं किन्तु इन दोनों में सरलता तथा ऋजुता अर्थात् एकत्वभाव श्रेष्ठतर है।

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः
निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

सुभाषित

सूर्य के रथ में एक ही पहिया है, साँपों की रस्सी से नियंत्रित होने वाले उसमें सात घोड़े हैं, उनके रथ का मार्ग आलम्बन रहित है और सारथि पैरों से रहित है किन्तु फिर भी सूर्य अपार आकाश के पार प्रतिदिन जाता है। महापुरुषों की सफलता उनके पराक्रम पर आधारित होती है, उपकरणों पर नहीं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

॥ मनु०। २। १२१॥

बड़े लोगों को अभिवादन करने वाले तथा वृद्ध, माता पिता एवं अन्य गुरुजनों की नित्य सेवा करने वाले पुरुष की आयु, विद्या, यश और बल इन चारों की वृद्धि होती है।

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम्॥

विदुरनीति। २। ४७

अच्छे वस्त्र पहनने वाला सभा को जीत लेता है, गाय रखने वाला व्यक्ति मिष्ठान्न खाने की इच्छा को जीत लेता है, यान से यात्रा करने वाला मार्ग को जीत लेता है तथा शीलवान् पुरुष सब कुछ जीत लेता है।

को हि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥

॥ चाणक्य। ३। १३॥

समर्थ, शक्तिशाली व्यक्ति के लिये कोई उत्तरदायित्व भारी नहीं होता, व्यवसायी व्यक्तियों के लिये कोई भी स्थान दूर नहीं होता,

श्रेष्ठ विद्वानों के लिए कहीं भी विदेश नहीं होता और प्रिय बोलने वालों के लिये कोई भी पराया नहीं होता।

दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम्।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी॥

॥ चाणक्य। ५। ११॥

दान दरिद्रता का नाश करता है, शील समस्त दुर्गति, दुःखों को दूर कर देता है, बुद्धि अज्ञान का नाश कर देती है और भावना भय का नाश कर देती है। दृढ़ता एवं भक्ति की भावना होने पर भय नहीं होता।

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम्।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम्॥

॥ चाणक्य। ८। १५॥

गुणों से रूप की शोभा होती है, शील से कुल सुशोभित होता है, सिद्धि विद्या को सुशोभित करती है; भोग करने में ही धन की शोभा होती है।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

॥ भर्तृहरि नीति। ८४॥

ऐश्वर्य का आभूषण सज्जनता है, पराक्रम का आभूषण वाणी का संयम है, ज्ञान का आभूषण शान्ति है, विद्या का आभूषण विनम्रता है, धन का आभूषण सत् पात्र के लिए किया गया व्यय अथवा दान है, तपस्या का आभूषण क्रोध न करना है, सामर्थ्य तथा अधिकार का आभूषण क्षमा

है, धर्म का आभूषण निश्छलता है किन्तु पूर्वोक्त सभी गुणों को जन्म देने वाला तथा सभी का श्रेष्ठ आभूषण शील है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ।।

।। भर्तृहरि नीति शतक । १०९ ।।

जिस मनुष्य के शरीर में सारे संसार को अत्यन्त प्रिय लगने वाला शील विद्यमान है अर्थात् जो शीलवान् है, उसके लिए अग्नि जल की तरह शीतल हो जाती है, समुद्र छोटी सी नाली की भाँति पार करने योग्य हो जाता है, सुमेरु पर्वत शीघ्र ही छोटे से पत्थर के टुकड़े के समान हो जाता है, सिंह तुरन्त हिरन की भाँति प्रिय और शान्त स्वभाव वाला हो जाता है, सर्प माला के समान धारण करने योग्य हो जाता है और विष भी अमृत के समान हित-कारी हो जाता है।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः ।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।

।। भर्तृहरि नीति शत० । २० ।।

मनुष्य को केयूर अथवा भुजाओं में धारण किये जाने वाले अलंकार सुशोभित नहीं करते। उसे न तो चन्द्रमा की भाँति कान्ति-मान् हार, न स्नान, न चन्दन आदि का सुगन्धित लेप, न पुष्प और न सुसज्जित केश ही अलंकृत करते हैं; वास्तव में पुरुष को सुसंस्कृत तथा शुभ लक्षणों से युक्त वाणी ही विभूषित करती है, अन्य सभी

आभूषण पुराने होकर नष्ट हो जाते हैं, केवल सुमधुर वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है।

कठोपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दुश्चरित्र व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी हो, परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

॥ कठ। १। २। २४॥

दुश्चरित्रता को न छोड़ने वाला, चञ्चल चित्त वाला, असंयमित इन्द्रियों तथा अशान्त मन वाला व्यक्ति प्रज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान से भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

॥ मनु०। ४। १५७॥

दुराचारी व्यक्ति संसार में अपयश पाता है और सदैव दुःखी रहता है तथा व्याधिग्रसित रहने के कारण अल्पायु होता है।

मनुष्य के कुछ प्रमुख दुर्गुणों का उल्लेख विदुरनीति में निम्न प्रकार किया गया है—

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्॥

विदुर। ५। १०

(अतिमानः) अत्यधिक अभिमान (अतिवादः) बहुत बोलना, (अत्यागः) त्याग न करना, (क्रोधः) क्रोध, (आत्मविधित्सा) केवल आत्म पोषण अथवा अपने स्वार्थ की पूर्ति का प्रयास, (मित्रद्रोहः च)

तथा मित्र द्रोह (तानि षट्) इन छः कारणों से मनुष्य पूर्ण आयु तक जीवित नहीं रहता।

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥

॥ विदुर। ५। ११ ॥

ये ही छः मनुष्यों की आयु को काटने वाली अत्यन्त तीक्ष्ण तलवारें हैं। मनुष्य को ये ही मारती हैं, मृत्यु नहीं। हे राजन्! आपका कल्याण हो।

अहंकार मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है, इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में निम्न प्रकार किया गया है—

असुरा……अतिमानेनैव पराबभूवुः तस्मान्नावमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः।

शतपथ। ११। १। ८। १

असुर लोग अतिमान अर्थात् अत्यधिक अभिमान के कारण ही पराजित हुये। इसलिए अभिमान नहीं करना चाहिये। निश्चित रूप से अभिमान पराजय का मुख है। तात्पर्य यह है कि यहीं से पराजय तथा पतन का प्रारम्भ होता है। जैसे जैसे अभिमान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे मनुष्य पतन की ओर अग्रसर होता जाता है।

धर्म के विभिन्न लक्षणों के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में शीर्षस्थ विद्वानों, महात्माओं तथा कवियों का अमूल्य ज्ञानामृत उपलब्ध है, जिसमें से कुछ सुन्दर श्लोक इस उद्देश्य से उद्धृत किये जा रहे हैं कि सुविज्ञ पाठक उनका अध्ययन करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें और उन्हें स्मरण करके उन पर आचरण करें।

धृतिः

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥

विदुरनीति । ४ । ४७

सुख-दुःख, भाव-अभाव, लाभ-हानि, जीवन-मरण बारी बारी से सभी प्राणियों को प्राप्त होते हैं। अतः धीर पुरुष को चाहिये कि न तो इष्ट की प्राप्ति पर प्रसन्न हो और न ही अनिष्ट की प्राप्ति पर शोक करे।

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तताः समिधः श्रियः ॥

विदुर० ६ । ३७

धैर्य, शान्ति, इन्द्रिय जय, सब प्रकार की पवित्रता, करुणा, कोमल वाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सात गुण समृद्धि को बढ़ाने वाले हैं।

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥

विदुर० । ८ । २२

पाँचों इन्द्रियों के विषय ही जिसमें जलस्वरूप है तथा काम एवं क्रोध जिसमें ग्राह के समान हैं ऐसी दुस्तर जीबन रूपी नदी को धैर्य रूपी नाव से पार करे।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।

भर्तृहरि नीतशतकम् । ८५

नीति में निपुण, उचित अनुचित का विवेक रखने वाले विद्वान् चाहे निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी, धन सम्पत्ति, इच्छानुसार आये अथवा चली जाये, आज ही मृत्यु हो जाये अथवा युगों तक जीवित बने रहें किन्तु धीर पुरुष न्यायोचित मार्ग से एक पग भी कभी विचलित नहीं होते।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न
शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

भर्तृहरि नीतिशतकम्। १०६

विपन्न एवं कष्टापन्न अवस्था में भी धैर्यशाली व्यक्ति का धैर्यगुण मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि को उलट कर नीचे की ओर मुख कर देने पर भी उसकी शिखा अथवा लौ कभी नीचे की ओर नहीं चलती।

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥

॥ भर्तृ० नीति। १०७ ॥

जिस मनुष्य के चित्त को कामिनी कटाक्ष रूपी बाण घायल नहीं कर सकते, क्रोधरूपी अग्नि जला नहीं सकती तथा समस्त सांसारिक विषय जिसे लोभपाश में बाँधकर अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते, वह धीर पुरुष तीनों लोकों को पूर्ण रूप से जीत लेता है।

विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

विपत्ति में धैर्य रखना, ऐश्वर्य प्राप्त होने पर क्षमा करना, सभा में वाणी की चतुरता, युद्ध में पराक्रम, अपने यश की वृद्धि में रुचि तथा वेदाध्ययन का व्यसन, ये सब गुण महात्माओं में स्वाभाविक रूप से होते हैं ।

क्षमा

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ।।

विदुर । १ । ५३

क्षमाशील पुरुषों में कोई अन्य दोष नहीं होता, केवल एक ही होता है कि इस क्षमाशील पुरुष को लोग शक्तिहीन समझने लगते हैं।

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।।

विदुर । १ । ५४

किन्तु वास्तव में क्षमा को दोष नहीं समझना चाहिये । निश्चय ही क्षमा श्रेष्ठ बल है । क्षमा निर्बलों का गुण है और बलवानों का आभूषण ।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ।।

विदुर । १ । ५५

क्षमा संसार में सबको वश में करने वाला गुण है । क्षमा से क्या

सिद्ध नहीं किया जा सकता ? शान्ति रूपी तलवार जिसके हाथ में है उसका दुष्ट क्या करेगा।

नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ।।

विदुर । ७ । ५८

हे धृतराष्ट्र ! इससे अधिक विभूति युक्त तथा कल्याणकारी कोई भी अन्य साधन नहीं माना गया है जैसा कि समर्थ व्यक्ति द्वारा सदैव एवं सर्वत्र क्षमा करना ।

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ।।

विदुर । ७ । ६९

तपस्वियों का बल तप है, वेदज्ञों का बल वेद है, दुष्टों का बल हिंसा है और गुणवानों का बल क्षमा है।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ।।

विदुर । १ । ८६

मनुष्य को सत्य, दान, अनालस्य अर्थात् पुरुषार्थ, अनुसूया अर्थात् दूसरे के गुणों में दोष न देखना, क्षमाशीलता तथा धैर्य ये छः गुण कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

कोकिलानां स्वरो रूपं नारी रूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरुपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ।।

चाणक्य । ३ । ९

कोयल का सौन्दर्य उसका स्वर है, स्त्री का सौन्दर्य उसका पाति-

व्रत धर्म है, कुरूप पुरुषों का सौन्दर्य विद्या है तथा तपस्वियों का सौन्दर्य क्षमा है।

दम

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता। ६। ३४

हे कृष्ण! यह मन अत्यन्त चञ्चल तथा प्रमथनशील अर्थात् इन्द्रियों को क्षुब्ध करके अपने वश में करने वाला, बलवान् तथा अत्यन्त दृढ़ है। अतः इसका निग्रह वायु के निरोध के समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

असंशयम् महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

गीता। ६। ३५

हे महाबाहो! निःसन्देह मन अत्यन्त चञ्चल तथा कठिनाई से वश में आने वाला है, किन्तु हे कौन्तेय! बार-बार अभ्यास करने तथा भोगों में दोष दृष्टि रूप वैराग्य से इसे वश में किया जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

गीता ६। ३६

मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है, ऐसा मेरा मत है किन्तु मन को वश में रखने वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा उपाय करने से योग की सिद्धि सम्भव है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

गीता। ६। २६

यह अत्यन्त चलायमान होने के कारण अस्थिर रहने वाला मन, इन्द्रियों के विषय रूप जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, अर्थात् जिस जिस विषय में आसक्त होता है, उस उस विषय अथवा कारण से इसे रोककर आत्मा के वशीभूत करे।

शौच

शौच से सम्बन्धित कुछ श्रेष्ठ मन्त्र तथा श्लोक यम नियम के के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं।

इन्द्रिय निग्रह

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

विदुर। १। ८२

पञ्च इन्द्रियों वाले मनुष्य की यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र रूप है अर्थात् उसके वश में नहीं है और वह उस इन्द्रिय की विषय वासना में लिप्त है तो इससे उसकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार चर्मपात्र में एक भी छिद्र होने से उसमें रखा हुआ जल रिस रिस कर निकल जाता है। यही महत्वपूर्ण कथन किञ्चित् पाठ-भेद के साथ मनुस्मृति के निम्न श्लोक में किया गया है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

॥ मनु०। २। ९९ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते॥

विदुर। २। ६२

जो व्यक्ति धर्म तथा धर्मानुकूल अर्थ का परित्याग करके इन्द्रियों

की इच्छा का अनुगामी हो जाता है, वह शीघ्र ही यश, धन, स्त्री तथा अपने प्राणों से हीन हो जाता है।

धी:

धी का अर्थ बुद्धि होता है किन्तु धर्म के लक्षणों में वह दुष्ट बुद्धि सम्मिलित नहीं है जो विनाशकारी होती है बल्कि वह कल्याणकारी बुद्धि अपेक्षित है जो श्रेष्ठ ज्ञान एवं सद्‌गुणों को धारण करती हैं। ऐसी बुद्धि को धारणावती बुद्धि अथवा मेधा कहते हैं। मेधा का जीवन में इतना अधिक महत्व है कि अनेक वेदमन्त्रों में मेधा के लिए प्रार्थना की गई है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।।

।। यजु० ३२ । १४ ।।

(अग्ने) हे प्रभो ! (यां मेधां देवगणाः पितरः च उपासते) जिस मेधा की समस्त देव अथवा विद्वान् तथा पितर उपासना करते हैं, सेवन करते हैं, (तया स्वाहा माम् अद्य मेधाविनं कुरु) उसी मेधा तथा मधुर एवं कल्याणी वाणी से संयुक्त करके आज मुझे मेधावी बनाइये।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।

प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ।

।। अथर्व० । ६ । १०८ । २ ।।

(अहम् प्रथमाम्) मैं उस श्रेष्ठ (ब्रह्मण्वतीम्) ब्रह्मज्ञान से युक्त (ब्रह्मजूताम्) ब्रह्मज्ञानियों द्वारा सेवित, (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसित, (ब्रह्मचारिभिः प्रपीताम्) तथा ब्रह्मचारियों द्वारा पान की गई, धारण की गई (मेधाम्) मेधा का (देवानाम् अवसे) इन्द्रियों तथा दिव्य गुणों की रक्षा के लिए (ह्वे) आह्वान करता हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि मेघा तथा बुद्धि से ही मनुष्य के शरीर तथा जीवन की रक्षा होती है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्त का जीवन ही नष्ट हो जाता है, जैसा कि गीता में कहा गया है—

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

॥ गीता । २ । ६३ ॥

क्रोध से मनुष्य का विवेक समाप्त हो जाता है अविवेक से स्मृति नष्ट हो जाती है, स्मृति के नष्ट होने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का ही नाश हो जाता है।

जिनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है उन सत् असत् अथवा उचित-अनुचित के विवेक से शून्य व्यक्तियों के क्रमिक पतन का अत्यन्त सुन्दर एवं आलंकारिक वर्णन भर्तृहरि जी द्वारा निम्न प्रकार किया गया है-

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

॥ भर्तृहरि । नीति । ११ ॥

स्वर्ग से गङ्गा का पतन भगवान् शङ्कर के शिर पर हुआ, उनके शिर से गिर कर हिमालय पर, पर्वत के उत्तुङ्गशिखर से पृथ्वी पर और अन्त में वह पृथ्वी से जा कर सागर में गिर गई। इस प्रकार

गङ्गा क्रमशः अवनति अथवा अधोगति को प्राप्त होती चली गयीं। विवेक भ्रष्ट व्यक्तियों का इसी भाँति सैकड़ों प्रकार से पतन होता है।

बुद्धि

तद् भोजनं यद् द्विजभुक्तशेषं
तत्सौहृदं यत् क्रियते परस्मिन्।
सा प्राज्ञता या न करोति पापं
दम्भं विना यः क्रियते स धर्मः॥

॥ चाणक्य । १५ । ८ ॥

भोजन वही है जो ब्राह्मण के भोजन करने के बाद बचा हो, सुहृदयता तथा सहृदयता वही है जो परायों पर की जाती हो बुद्धिमत्ता वही है जिससे पाप न किया जाता हो और धर्म वही है जो बिना दम्भ के किया जाता हो।

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि
यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते
शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥

॥ सूक्तिसुधा । १७ ॥

शुद्ध एवं पवित्र बुद्धि निश्चय ही कामधेनु है; यह धन सम्पत्ति देती है, बिपत्तियों को रोकती है, यशों को जन्म देती है, बुराइयों को दूर करती है तथा संस्कारों की पवित्रता से मनुष्य को परम पवित्र करती है।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति॥

विदुर । २ । ८१

देवगण जिस पुरुष के लिए पराभव देते हैं, उसकी बुद्धि को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए वह पुरुष नीच कर्मों को ही देखता है। तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को नष्ट होना होता है उसकी बुद्धि नीच कर्मों में लिप्त हो जाती है, उसे अच्छी बातें तथा अच्छे काम दिखायी ही नहीं पड़ते।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥

विदुर। ३। ४१

चरवाहों की भाँति, देवगण डण्डा लेकर पुरुष की रक्षा नहीं करते अपितु वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे सद्बुद्धि से युक्त कर देते हैं।

विद्या

विद्या की प्रशंसा अनेक कवियों ने की है। कुछ सुन्दर श्लोक यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

कल्पलता की भाँति विद्या मनुष्य के लिए क्या-क्या नहीं करती। वह माता की भाँति रक्षा करती है, पिता की भाँति हितकारी कार्यों में लगाती है, पत्नी की भाँति चिन्ता तथा थकावट दूर करके आनन्द देती है, लक्ष्मी की वृद्धि करती है तथा चारो दिशाओं में यश का विस्तार करती है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हिं धनं विद्याविहीनः पशुः ।।

भर्तृहरि । २१

विद्या ही मनुष्य का श्रेष्ठ रूप है अर्थात् विद्या से मनुष्य सुन्दर बनता है । विद्या गुप्त एवं सुरक्षित धन है, विद्या भोग-विलास सुख एवं कीर्ति देने वाली है, विद्या गुरुओं की भी गुरु है, विद्या विदेश में अपरिचितों के बीच भाई बन्धुओं की भाँति सहायक है, विद्या श्रेष्ठ देवस्वरूप, सर्वार्थदात्री है, विद्या ही राजाओं द्वारा पूज्य होती है, धन नहीं । विद्या से रहित मनुष्य पशु के समान होता है ।

न चौरहार्यं न च भ्रातृभाज्यं
न राजहार्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एवं नित्यं
विद्याधनं सर्वधन - प्रधानम् ।।

।। सुभाषित ।।

विद्या वह धन है जिसे चोर चुरा नहीं सकते, भाई बाँट नहीं सकते, राजा हरण नहीं कर सकता और जिसमें कुछ भार भी नहीं होता । यह वह धन है जो व्यय करने पर सदा वढ़ता है । वास्तव में विद्या रूपी धन ही समस्त धनों में प्रधान है ।

येषां न विद्या न तपो न दानम्
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

भर्तृहरि । नीति । १५

जिनमें न विद्या है, न तप, न दान, न ज्ञान, न शील, न दया-दाक्षिण्यादि गुण, और न वेदविहित मानव मात्र के प्रति कर्तव्यस्वरूप धर्म, वे इस लोक में पृथ्वी के भार स्वरूप होकर मनुष्य के रूप में विचरण करने वाले पशु हैं।

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

॥ चाणक्य । ८ । २१ ॥

रूप तथा यौवन से युक्त एवं उच्चकुल में जन्म लेने वाले पुरुष भी विद्या से हीन होने पर उसी प्रकार शोभित नहीं होते जिस प्रकार गन्ध रहित टेसू का फूल।

सत्य

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव॥

विदुरनीति । ८ । २१

जीवन की आत्मा रूपी नदी में सत्यरूपी निर्मल जल है, संयम तीर्थ स्वरूप है। तीर्थम् तरति पापादिकं यस्मात्, अर्थात् जिससे पापों से पार जाया जा सके वह तीर्थ है। शील इस नदी का तट है और इसके जल में दया रूपी लहरें उठती हैं। ऐसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करने वाला पुण्य कर्मा पुरुष पवित्र हो जाता है। नित्य लोभ रहित रहने वाला पुरुष ही पुण्यात्मा होता है।

जिस प्रकार नदी में जल की प्रधानता होती है, उसी प्रकार जीवन में सत्य की प्रधानता है। श्लोक की अन्तिम पंक्ति 'पुण्योह्यात्मा

नित्यमलोभ एव' नित्य लोभ रहित पुरुष निश्चय ही पुण्यात्मा होता है, कितनी सत्य सुन्दर एवं महत्वपूर्ण है।

मानस स्नान के वर्णन में यह श्लोक निम्न प्रकार भी आया है—

यस्मिन् देवाश्च वेदाश्च
पवित्रं कृत्स्नमेकताम्।
व्रजेत्तन्मानसं तीर्थं
तत्र स्नात्वाऽमृतो भवेत्॥

जिसमें समस्त देव तथा वेद पूर्ण एकता को प्राप्त हो गये हैं, उस परम पवित्र मानस तीर्थ को जाकर और वहीं स्नान करके अमृत हो जाय अर्थात् अमरत्व को प्राप्त करे।

ज्ञानह्रदे ध्यानजले
रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे
स याति परमां गतिम्॥

जो पुरुष मानस तीर्थ में ज्ञान सरोवर के अन्दर रागद्वेष रूपी मल को दूर करने वाले ध्यान रूपी जल में स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

आत्मा रूपी नदी के किनारे संयम रूपी पुण्य तीर्थ है, इसमें सत्य रूपी जल है, इसके तट शील रूपी हैं तथा इसमें दया की लहरें

उठती हैं। हे पाण्डु पुत्र ! इसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करो क्योंकि जल से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता।

क्रोध

नास्ति कामसमो व्याधिः नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ।।

चाणक्य । ५ । १२

काम के समान अन्य कोई रोग नहीं, मोह के समान अन्य कोई शत्रु नहीं, क्रोध के समान और कोई अग्नि नहीं, तथा ज्ञान से बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं।

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुहा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम् ।।

चाणक्य । ८ । १४

क्रोध यमराज है, तृष्णा वैतरणी नदी है, विद्या कामधेनु गाय है तथा सन्तोष नन्दन वन है।

क्रोध एवं अभिमान मनुष्य का सब कुछ नष्ट कर देता है, इसका उल्लेख निम्नांकित श्लोक में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ।।

विदुरनीति । ३ । ५१

वृद्धावस्था रूप का हरण करती है, आशा धैर्य का, मृत्यु प्राणों का, असूया अर्थात् दूसरों के गुणों में दोष देखने की प्रवृत्ति धार्मिकता

का, क्रोध शोभा एवं लक्ष्मी का, दुष्टों की सेवा अर्थात् दुष्टों की संगति शील का, काम लज्जा का तथा अभिमान सभी गुणों का हरण करता है, उन्हें नष्ट कर देता है।

यहाँ यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि क्रोध करना सर्वथा बुरा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत दुष्टों पर क्रोध करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा समाज में दुष्टता बढ़ती जायेगी और धर्म का नाश हो जायेगा।

वेद में प्रार्थना की गयी है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि

वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि

बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि

सहोऽसि सहो मयि धेहि।

यजुर्वेद १९।९

हे प्रभो! आप तेजस्वी हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिये, आप पराक्रम से युक्त हैं, मुझमें पराक्रम धारण कीजिये अथवा मुझे पराक्रम

दीजिये, आप बल से युक्त हैं, मुझे बल दीजिये; आप ओजस्वी हैं, मुझ में ओज धारण कीजिये; आप (मन्युः असि) दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझ में उस क्रोध को धारण कीजिये; आप सहनशील हैं मुझे सहनशीलता दीजिये।

इसीलिए भगवान राम जो कि वैदिक धर्म के आदर्श पुरुष हैं, के गुणों का वर्णन करते हुये महर्षि वालमीक ने कहा है कि क्रोध में राम कालाग्नि के समान हैं।

> **विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।**
> **कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥**
> **धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।**
> **तमेव गुण सम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्॥**

वालमीकि १।१।१८, १९

चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी राम पराक्रम में विष्णु के समान हैं, क्रोध में कालाग्नि के समान हैं, क्षमा में पृथ्वी के सदृश है, त्याग में कुबेर के समान हैं तथा सत्य में धर्मराज के समान हैं। ऐसे श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न तथा सत्य पराक्रम से युक्त राम को महाराज दशरथ ने युवराज के पद पर अभिषिक्त करने की इच्छा की।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन्त्समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

बृहदारण्यक । ५ । १५ । १ ॥ —— यजु० काण्व सं० ४० । १६

यह मन्त्र वाजसनेयि शुक्ल यजुर्वेद संहिता में नहीं है ।

(पूषन्) हे पोषण करने वाले ! (एकऋषे) हे एक-मात्र दृष्टा तथा ज्ञाता ! (यम) हे सर्व नियन्ता ! (सूर्य) हे परम तेजस्वी, सर्व प्रकाशक ! (प्राजापत्य) हे जनक तथा प्रजापालक ! (रश्मीन् व्यूह समूह) अपनी किरणों को एकत्र कर एक ओर कर दीजिये, हमारे सामने से हटा लीजिये, जिससे (यत्ते कल्याणतमं तेजो रूपम्) जो आपका परम कल्याणकारी तेजोमय रूप है, (तत्ते पश्यामि) उसे मैं देख सकूँ।(यः असौ असौ पुरुषः)जो यह प्राणों में रहने वाला पुरुष जीवात्मा है, (सः अहं अस्मि) वह मैं हूँ ।

हे सबका पालन करने वाले, अद्वितीय न्यायकारी, सबका नियन्त्रण करने वाले, प्रकाश स्वरूप, तेजस्वी, प्रजापति, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभो ! अपनी तेजोमयी किरणों को इकट्ठा करके एक ओर हटा लीजिये ताकि आपके तेज का चकाचौंध हट जाने से मैं आपके परम कल्याणमयी, तेजस्वी रूप का दर्शन कर सकूँ अर्थात् हे देव ! आप ही कृपा करके अपने स्वरूप को दिखाइये । यह जो प्राणों में रहने

वाला पुरुष है, वह मैं हूँ।

एकर्षे—ऋषि गतौ धातु से ऋषति गच्छति अर्थ करते हुये श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि अकेला चलने के कारण सूर्य एकर्षि है; जगत् का पोषण करने के कारण पूषा है तथा प्रजापति का पुत्र होने के कारण प्राजापत्य है। इस प्रकार सूर्य परक अर्थ करते हुये उन्होंने लिखा है कि हे सूर्य! अपनी किरणों को दूर कर, अपने तेज अर्थात् सन्तप्त करने वाली ज्योति को पुञ्जीभूत, एकत्रित अर्थात् शान्त कर। तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है, उसे तुझ आत्मा की कृपा से मैं देखता हूँ तथा यह बात मैं तुझसे सेवक के समान याचना नहीं करता क्योंकि वह जो व्याहृति रूप अङ्गों वाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है-जो पुरुषाकार होने से अथवा जो प्राण और बुद्धि रूप से समस्त जगत् को पूर्ण किये हुये है अथवा जो शरीर रूपी पुर में शयन करने के कारण पुरुष है, वह मैं ही हूँ।

किन्तु वास्तव में उक्त सूर्यपरक अर्थ सही नहीं है। सूर्य चलता नहीं है अतः उसे एकर्षि कहना उचित नहीं है। सूर्य से यह प्रार्थना करना कि वह अपनी किरणों को हटा ले अथवा अपनी सन्तप्त करने वाली ज्योति को शान्त करे, हास्यास्पद है। सूर्य अपनी किरणों को किस प्रकार हटा लेगा और तब उसका क्या कल्याणमयी रूप दिखायी देगा? इस मन्त्र में वास्तव में भगवान् से प्रार्थना की गई है, सूर्य से नहीं। पूषन, यम, सूर्य, प्रजापति आदि सब उसी के नाम हैं। वही सूर्य का भी सूर्य है और वही वास्तव में एकमात्र उपास्य तथा दर्शनीय देव है। उसी के दर्शन तथा ज्ञान से मुक्ति मिलती है।

निरुक्त में "ऋषिः दर्शनात्" लिखकर ऋषि का अर्थ सूक्ष्मदर्शी अथवा तत्वदर्शी किया गया है। पं० दामोदर सातवलेकर जी ने भी एकर्षे का अर्थ एक दृष्टा किया है, जो सही है।

इस प्रकार 'पूषन् एकर्षे' का अर्थ हुआ हे पालन पोषण करने

वाले एकमात्र दृष्टा। परमात्मा एक है और वह सर्वव्यापक तथा सर्व-शक्तिमान होते हुये अकेला ही सबका जन्मदाता तथा पालन पोषण कर्ता है, यह तथ्य अनेक मन्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से समझाया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥

॥ श्वेता० । ३ । ३ ॥ —— ॥ यजु० । १७ । १९ ॥

ऋ० । १० । ८१ । ३

(विश्वतः चक्षुः उत विश्वतः मुखः) सब ओर आंखों वाला, सब ओर मुख वाला, (विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात्) सब ओर बाँहों तथा सब ओर पैर वाला अर्थात् सबका दृष्टा, श्रोता, ज्ञाता एवं सर्व-शक्तिमान् सर्वगतः, सर्वव्यापक, (द्यावा भूमी देव एकः) एकमात्र देव द्युलोक तथा पृथिवी आदि लोकों को (पतत्रैः जनयन्) अपनी अनन्त शक्तियों से उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्याम् सं धमति) अपने अनन्त बाहुबल अथवा पराक्रम से संसार को सम्यग् रूप से प्राप्त होता है अर्थात् संसार में व्याप्त होकर तथा उसे आधार देकर स्थित रहता है।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।

ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥

॥ अथर्व । १० । २ ॥२५ ॥

(ब्रह्मणा भूमिः विहिता) ब्रह्म ने भूमि विशेष प्रकार से स्थित की है (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता) ब्रह्म ने द्युलोक ऊपर स्थित किया है (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं तिर्यक् व्यचः च हितम्) ब्रह्म ने ही यह अन्तरिक्ष ऊपर तिरछा तथा चारों ओर विस्तृत रखा है।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।

स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥

अथर्व १० । ७ । २९

(स्कम्भे लोकाः) सर्वाधार परब्रह्म में समस्त लोक (स्कम्भे तपः) उसी में तप, (स्कम्भे अधि ऋतं आहितम्) तथा उसी सर्वाधार परमात्मा में आधारित होकर ऋत अर्थात् सत्य एवं संसार को नियन्त्रित करने वाले समस्त शाश्वत अपरिवर्तनीय सत्य नियम स्थित हैं। (स्कम्भ त्वा प्रत्यक्षम् वेद) हे स्कम्भ ! मैं तुझे प्रत्यक्ष रूप में जानता हूँ (इन्द्रे सर्वं समाहितम्) समस्त ऐश्वर्य सम्पन्न एवं सब पर शासन करने वाले तुझ इन्द्र में ही यह सब, यह समस्त जगत समाहित है।

एकर्ष—

बृहदारण्यक उपनिषद् ३ । ८ । ११ में कहा है—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳश्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।

(गार्गि तद् वै एतद् अक्षरम्) हे गार्गि! निश्चय ही वह यह अक्षर

अविनाशी ब्रह्म (अदृष्टं द्रष्टृ) स्वयं अदृष्ट होते हुये सबका दृष्टा है, (अश्रुतं श्रोतृ) स्वयं अश्रुत होते हुये सबका श्रोता है (अमतं मन्तृ) स्वयं मनन न किये जाने योग्य होते हुये भी सबका मनन करने वाला है, (अविज्ञातं विज्ञातृ) स्वयं अविज्ञात होते हुये सबका जानने वाला है। (अतः अन्यत् द्रष्टृ न अस्ति) इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, (अतः अन्यत् श्रोतृ न अस्ति) इससे अन्य कोई श्रोता नहीं है, (अतः अन्यत् मन्तृ नास्ति) इससे अन्य कोई मन्ता नहीं है, (अतः अन्यत् विज्ञातृ नास्ति) इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं है; (गार्गि एतस्मिन् नु अक्षरे खलु आकाशः ओतः च प्रोतः च इति) हे गार्गि ! निश्चय ही इसी अक्षर में आकाश ओत प्रोत है।

यम सूर्य प्राजापत्य—

भगवान संसार का नियामक, प्रकाशक, अन्नदाता तथा प्रजापालक है।

यम, सूर्य, अग्नि, प्रजापति ये सब ब्रह्म के ही नाम हैं, यह निम्नांकित वेदमन्त्र, जिसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, से स्पष्ट है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्। १।१६४।४६ —— अथर्व ६।१०।२८॥

(एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति) ब्रह्म एक ही है किन्तु ज्ञानी लोग उसे बहुत प्रकार से अनेक नामों से कहते हैं (उसी को) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण तथा गरुत्मान कहते हैं, उसी को यम तथा मातरिश्वा अर्थात् वायु कहते हैं।

भगवान के इन गुणों का उल्लेख गीता के निम्नांकित श्लोकों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।

।। गीता । ११ । ३९ ।।

हे प्रभो ! आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति तथा सबके प्रपितामह हैं । आपको नमस्कार हो, सहस्रों बार नमस्कार हो, और फिर बारंबार नमस्कार हो, नमस्कार हो ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।

।। गीता । ११ । ४३ ।।

हे प्रभो ! आप इस चराचर जगत् के पिता हैं, पूज्य हैं, गुरु से भी महान् गुरु हैं । अतुलनीय तथा अतिशय प्रभाव वाले ! तीनों लोकों में आपके समान अन्य कोई नहीं है फिर आपसे अधिक महान् कोई कैसे हो सकता है ।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।

।। गीता । १३ । १६ ।।

परमात्मा केवल एक अविभक्त होता हुआ भी समस्त भूतों में (विभक्तम् इव) पृथक् पृथक् के समान स्थित प्रतीत होता है । वही

जानने योग्य तथा (प्रभविष्णु) समस्त भूतों का उत्पन्न करने वाला (भूतभर्तृ) धारण पोषण करने वाला और (गृसिष्णु) संहार करने वाला है।

कठोपनिषद् में अत्यन्त आलंकारिक एवं सुन्दर ढंग से कहा गया है कि यह ब्रह्म (उद्यतम् वज्रम् इव) हाथ में वज्र उठाये हुये के समान महान भय वाला है। इसी के भय से ब्रह्माण्ड की सारी व्यवस्था ठीक ठीक चल रही है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

॥ कठ। २। ३। ३॥

इस ब्रह्म के भय से ही अग्नि तपती है, इसी के भय से सूर्य तपता है, प्रकाश देता है, इसी के भय से इन्द्र अर्थात् विद्युत चमकती है और अपने सभी कार्यों को करती है, इसी के भय से वायु चलती है तथा पाँचवीं मृत्यु दौड़कर अपना कार्य करती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में यह श्लोक निम्न प्रकार आया है—

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम ॥इति।

॥ तैत्तिरीय। २। ८॥

(अस्मात् भीषा वातः पवते) इसके भय से वायु बहता है, इसके भय से सूर्य उदित होता है, इसके भय से अग्नि तथा इन्द्र अर्थात् विद्युत अपना कार्य करते हैं, तथा पाँचवाँ मृत्यु भी इसी के भय से दौड़ता है।

ब्रह्म ही सूर्य को उत्पन्न करता है तथा प्रकाशित करता है, उसी की परम ज्योति से सब कुछ प्रकाशित होता है, वही सूर्य का सूर्य है।

इसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन निम्नांकित प्रसिद्ध श्लोक में किया गया है, जो तीन उपनिषदों में आया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

॥ मुण्डक० । २ । २ । १० ॥ —— ॥ श्वेत० । ६ । १४ ॥
कठ० । २ । २ । १५ ॥

उस ब्रह्म के पास न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा अथवा तारे और न यह बिजलियाँ ही वहाँ चमकती हैं, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है, यह वहाँ कैसे चमकेगी । उस ब्रह्म के ही प्रकाशित होने से, उसी के प्रकाश से ये सूर्य, चन्द्र आदि सब पीछे से प्रकाशित होते हैं,उसी की कान्ति से, उसी की ज्योति से यह सब कुछ प्रकाशित होता है ।

इस सम्बन्ध में सामवेद का एक अत्यन्त सुन्दर मन्त्र दृष्टव्य है ।

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥

सामवेद उत्तरा. ६ । ७ । २ ॥ ॥ ऋग् । ८ । ९८ । २ ॥
क्र० स० । १०२६ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं अभिभूः असि) तुम सबका पराभव करने वाले, सब पर अधिकार करने वाले हो । (त्वं सूर्यं अरोचयः) तुम्हीं ने सूर्य को प्रकाशित किया है, (विश्वकर्मा विश्वदेवः महान् असि) तुम

विश्वकर्मा, विश्वदेव तथा महान् हो अर्थात् समस्त जगत् के रचयिता हो, सबके इष्टदेव हो तथा सबसे महान् हो।

बृहदारण्यक उपनिषद् में परमात्मा के शासक एवं सर्व नियामक होने का वर्णन विस्तार से तथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः।

॥ बृहदा० । ३ । ८ । ९ ॥

हे गार्गि! (एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने) इसी अविनश्वर ब्रह्म के प्रशासन में, नियन्त्रण में ये सूर्य तथा चन्द्र मर्यादा में रहते हुये स्थित हैं; इसी अविनाशी के प्रशासन में द्यौ तथा पृथिवी लोक नियंत्रित होकर स्थित हैं; हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही निमेष, मुहूर्त, दिनरात, अर्धमास, मास, ऋतुयें तथा संवत्सर मर्यादा में रहते हुये स्थित हैं; हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही कुछ नदियाँ श्वेत अथवा हिमाच्छादित पर्वतों से निकलकर पूर्व की ओर बहती हैं तथा कुछ अन्य पश्चिम की ओर बहती हैं; (यां यां च दिशम् अनु) ये नदियाँ जिस जिस दिशा का अनुसरण करती हैं, वह उसी अक्षर के प्रशासन में, उसी के नियम के अनुसार करती हैं। हे गार्गि! इसी अक्षर के प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं, (देवाः यजमानम् अन्वायत्ताः) देवगण यजमानों के अनुगत होते हैं,

(पितरः दर्वीम्) और पितर दर्वी के अनुगामी होते हैं।

दर्वी करछुल को कहते हैं, अतः प्रतीक रूप मे इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि माता-पिता, दादी बाबा आदि वृद्ध गुरुजन भोजन तथा सेवा सत्कार आदि से प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देते हैं।

कठोपनिषद् में कहा है—

य एष सुप्तेषु जागर्ति
कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म
तदेवामृतयुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे
तदु नात्येति कश्चन॥
एतद्वै तत्॥

॥ कठ० । २ । २ । ८ ॥

(यः एषः पुरुषः) जो यह पुरुष (कामं कामं) अपनी इच्छानुसार (निर्मिमाणः) सृष्टि को रचता हुआ (सुप्तेषु जागर्ति) सोये हुये जीवों में जागता है, अन्तर्यामी रूप से आत्मा में स्थित परमात्मा सदैव जागता है, (तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म) वही शुक्र अर्थात् शुद्ध एवं पवित्र है, वही ब्रह्म है, (तद् एव अमृतम् उच्यते) वही अमृत कहा जाता है (तस्मिन् सर्वे लोका श्रिताः) उसी में समस्त लोक आश्रित हैं, ठहरे हुये हैं (तद् उ कश्चन न अत्येति) उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, (एतद् वै तत्) यही वह ब्रह्म है।

प्राजापत्य

प्रजापति शब्द का अर्थ है, उत्पन्न करने वाला तथा पालन पोषण करने वाला। प्राजापत्य का सामान्य अर्थ (प्रजापतेः अपत्यं प्राजापत्यम्) प्रजापति का पुत्र हुआ किन्तु इस मन्त्र में यह

अर्थ अभीष्ट नहीं है बल्कि यहाँ प्राजापत्य का अर्थ 'प्रजापति की सामर्थ्य से युक्त' है। श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने प्राजापत्य का यही अर्थ किया है, जो सही है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस मन्त्र का अर्थ करते हुये स्वामी शङ्कराचार्य जी ने भी प्राजापत्य का अर्थ प्रजापति अथवा ईश्वर ही किया है।

ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का उत्पत्ति कर्ता तथा पालन कर्ता है। अतः वास्तव में वही प्रजापति है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

॥ अथर्व ११। ७। २३॥

(यत् च प्राणेन प्राणति) जो प्राण से श्वास आदि क्रिया करता है (यत् च चक्षुषा पश्यति) और जो आँख से देखता है, ऐसे सब प्राणी तथा द्युलोक में स्थित एवं द्युलोक पर आश्रित समस्त देव उच्छिष्ट अर्थात् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं।

देवाः पितरो मनुष्याऽगन्धर्वाप्सरसश्च ये।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

॥ अथर्व। ११। ७। २७॥

देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अपसरायें तथा द्युलोक में स्थित एवं द्यु लोक पर आश्रित देव, ये सब उच्छिष्ट अर्थात् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं।

मुण्डकोपनिषद् २। १। १ में कहा है—

तदेतत्सत्यं।

यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरुपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

(तद् एतत् सत्यम्) वह यह सत्य है (यथा सुदीप्तात् पावकात्) कि जैसे सुदीप्त अग्नि से (सरुपाः सहस्रशः विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते) समान रूप वाली सहस्रों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार (सोम्य) हे सौम्य! (अक्षराद् विविधाः भावाः प्रजायन्ते) अविनाशी ब्रह्म से विविध प्रकार के भाव, शक्तियाँ, क्रियायें, कलायें, देव, प्राणी तथा पदार्थ आदि प्रकट होते हैं, (च तत्र एव अपियन्ति) और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं।

व्यूह रश्मीन् समूह—

हे प्रभो! अपनी किरणों को एकत्र कर लीजिये उन्हें एक ओर हटा लीजिये। यह प्रार्थना कितनी सुन्दर, सत्य एवं वास्तविक है। पुरुष के नेत्रों की शक्ति इतनी सीमित है कि जब सामने से कोई तीव्र प्रकाश आँखों में पड़ता है तो आँखें चकाचौंध के कारण कुछ भी देखने में असमर्थ हो जाती हैं। रात्रि में कार से यात्रा करने पर प्रायः सभी को यह अनुभव होता है कि जब सामने से अधिक तीव्र प्रकाश वाला कोई वाहन आता है और अपनी हेड लाइट को नीचा (डिप) नहीं करता तो सामने का मार्ग अत्यन्त कठिनाई से

दिखाई पड़ता है क्योंकि सामने से पड़ने वाले तीव्र प्रकाश के कारण आँखें अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। जब एक वाहन के साधारण प्रकाश से इतनी कठिनाई होती है तो भला अगणित सूर्यों से भी अधिक तेज और प्रकाश वाले प्रकाशपुञ्ज इस परमात्मा के तेज के सामने हमारी आँखें, इन्द्रियाँ, बुद्धि अथवा ज्ञान आदि कैसे ठहर सकता है। इसीलिए जैसे सामने से आने वाले वाहन को अपनी किरणें हटानी पड़ती हैं, हेडलाइट डिप् करनी पड़ती है, उसी प्रकार भगवान से यह सुन्दर आलंकारिक प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! अपनी किरणों को इकट्ठा करके हमारे सामने से हटा दीजिये जिससे कि हम आपका कल्याणमयी रूप देख सकें।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की कृपा के बिना उसका दर्शन नहीं हो सकता। इसीलिए शरणागत होकर यह प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! मुझे अपना दर्शन करने का अवसर प्रदान कीजिये।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।

हे प्रभो ! आपका जो अत्यन्त कल्याणमय सुन्दर रूप है, उसे मैं देखता हूँ।

यह ब्रह्म साक्षात्कार की, मोक्ष की अत्यन्त मनोहारी एवं प्रतीकात्मक प्रार्थना है। वेद के अनेक मन्त्रों तथा उपनिषदों एवं गीता के श्लोकों में भगवान् के इस कल्याणमय दर्शन का उल्लेख किया गया है जिसमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।

पवित्र अन्तःकरण वाले निष्पाप ज्ञानी, जो अपना समस्त कार्य परमात्मा के प्रति समर्पित करके तथा तत्परायण होकर करते हैं वे ही इसके परम दर्शन के योग्य होते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।

।। गीता । ५ । १६ ।।

जिनका (आत्मनः अज्ञानम्) अन्तःकरण का अज्ञान (ज्ञानेन नाशितम्) ज्ञान से नष्ट हो गया है (तेषां आदित्यवत् ज्ञानं तत्परम् प्रकाशयति) उन्ही का सूर्य के समान ज्योतिर्मय ज्ञान उस परम पिता को प्रकाशित करता है, उसका दर्शन कराता है ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।

।। गीता । ५ । १७ ।।

जिनकी बुद्धि, मन, आत्मा तथा निष्ठा केवल भगवान् के प्रति है और जो तत्परायण हैं अर्थात् उसी के प्रति समर्पित हैं, उसी को अर्पण करके सब कुछ करते हैं (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) ज्ञान से नष्ट हो गये हैं पाप जिनके ऐसे ज्ञानी भक्त (अपुनरावृत्ति गच्छन्ति) मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

ऐसे ज्ञानी भक्त जिन्हें वेद में 'सूरयः' कहा गया है विष्णु के उस परम पद को सदैव स्पष्ट रूप से देखते हैं, जैसा कि इस अति प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ।

ऋग्० । १ । २२ । २०।। ----- ।। यजु० । ६ । ५ ।।
।। अथर्व० ७ । २६ । ७ ।। -- साम उत्तरा. १८ । २ । ४ ।।
क्र० सं० १६७२ ।।

(सूरयः) स्तुति करने वाले ज्ञानी भक्त (विष्णोः) व्यापक प्रभु के (परमम् पदम्) अत्यन्त श्रेष्ठ पद को (दिवि आततम्) द्युलोक में अपने तेज तथा प्रकाश से सर्वत्र व्याप्त (चक्षुः इव) सूर्य के समान (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं। अथवा (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आततम् चक्षुः इव) जैसे नेत्र की दृष्टि व्याप्त हो जाती है अर्थात् नेत्र को स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार ज्ञानी जन विष्णु के परम पद को स्पष्ट रूप से देखते हैं।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।

विष्णोर्यत् परमं पदम्।

ऋग्० ।१।२२।२१॥

साम. उत्तरा. १८।२।५॥ क्र. सं. १६७२

(विष्णोः यत् परमं पदम्) विष्णु का जो परम उत्कृष्ट पद है (तत्) उसे (जागृवांसः) प्रमाद रहित होकर तथा जागरूक रहकर निरन्तर प्रयास करने वाले और (विपन्यवः) भक्तिपूर्वक भगवान् की प्रशंसा, स्तुति एवं उपासना करने वाले (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (समिन्धते) अपने हृदय को श्रद्धा, सत्य एवं ज्ञान से प्रकाशित करके प्राप्त करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि मन्त्र में प्रयुक्त किये गये विशेषण विप्रासः अर्थात् ज्ञानी, जागृवांसः अर्थात् जागरूक रहकर श्रेष्ठ कर्म करने वाले, विपन्यवः अर्थात् स्तुति करने वाले, यह दिखाते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों के समुच्चय की परम आवश्यकता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा–
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।
।। कठ० । २ । २ । १२ ।।

(एकः वशी) सबको वश में रखने वाला एकमात्र परमात्मा, (सर्वभूतान्तरात्मा) जो सब प्राणियों एवं पदार्थों में अन्तर्यामी रूप से स्थित है (यः एकं रूपं बहुधा करोति) और जो एक रूप वाली कारण प्रकृति को अनेक रूप वाली बना देता है अर्थात् जो उससे भिन्न भिन्न रूप वाले प्राणियों एवं पदार्थों को उत्पन्न करता है, उस जीवात्मा में स्थित परमात्मा को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।
।। यजु० । ३१ । १८ ।।

(अहम् एतम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात् महान्तं पुरुषं वेद) मैं उस आदित्य वर्ण वाले अर्थात् अन्धकार एवं अज्ञान से परे प्रकाश स्वरूप, महान् पुरुष को जानता हूँ । (तम् एव विदित्वा मृत्युं अति एति) उसी को जानकर ज्ञानी भक्त मृत्यु को पार कर जाता है, (अयनाय अन्यः पन्थाः न विद्यते) मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है ।-

जो भगवान् को जानता है तथा जिस पर उनकी कृपा हो जाती है,

वही उन्हें प्राप्त करता है तथा उन्हीं में लीन हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है। भक्ति के साथ शरणागत होना, आत्म समर्पण करना ही भगवत्-प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। इसके लिये ज्ञानी भक्त चारों ओर घूमकर तथा समस्त प्राणियों को देखकर उनमें परमात्मा का दर्शन करता है और अन्त में भक्ति तथा उपासना से अपनी आत्मा द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है। आत्मा के इस प्रकार परमात्मा में प्रविष्ट होने का स्पष्ट वर्णन यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में किया गया है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्

परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मना-

त्मानमभि सं विवेश॥

॥ यजु०। ३२। ११॥

(भूतानि परीत्य) प्राणियों में घूमकर, उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करके, (लोकान् परीत्य) लोकों में भ्रमण करके (सर्वाः दिशः प्रदिशः च परीत्य) सारी दिशाओं तथा उप दिशाओं में भ्रमण करके तथा (सत्यस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्य के प्रथम प्रवर्तक अर्थात् परमात्मा की उपासना करके, (आत्मना आत्मानम् अभि संविवेश) ज्ञानी भक्त अपनी आत्मा से उस परमात्मा में सम्यक् रूप से प्रवेश कर जाता है।

यः असौ असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि ।

वह जो प्राणों में पुरुष है, वह मैं हूँ ।

आत्मा प्राणों के मध्य में रहता है इस तत्व को बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार बताया गया है—

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ।

॥ बृहदारण्यक । ४ । ३ । ७ ॥

जब महाराज जनक ने पूछा कि (कतमः आत्मा इति) आत्मा कौन सा है तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि (यः हृदि अन्तः प्राणेषु अयम् विज्ञानमयः ज्योतिः पुरुषः) जो हृदय के भीतर प्राणों के मध्य यह विज्ञानमय ज्योतिर्मय पुरुष है, (सः समानः सन् उभौ लोकौ अनुसञ्चरति) वह समान रूप से दोनों लोकों अर्थात् इस लोक और परलोक में विचरता है (ध्यायति इव लेलायति इव) वही ध्यान अथवा चिन्तन करता हुआ सा और अभिलाषा तथा चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है (क्योंकि ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न यह आत्मा के लक्षण हैं ।) (हि स स्वप्नः भूत्वा इमं लोकं मृत्योः रूपाणि अतिक्रामति) निःसन्देह वही स्वप्न होकर इस लोक का तथा मृत्यु के रूपों अर्थात् इन्द्रिय आदि शरीर के रूपों का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् शरीर त्याग कर दूसरे लोक में चला जाता है ।

जब तक यह विज्ञानमय ज्योतिर्मय आत्मा हृदय में प्राणों के मध्य स्थित रहता है, तभी तक पुरुष बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, इच्छा करता हुआ तथा चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है । आत्मा ही वह ज्योति अथवा ज्ञान पुञ्ज है जो बुद्धि तथा मन को आलोकित

करता है तथा जड़ शरीर को चेतन बनाता है। शरीर में आत्मा ही ब्रह्म का वह अंश है जो प्राणों का आधार बनकर शरीर को जीवित रखता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

॥ गीता १३। ३३॥

हे भारत ! जिस प्रकार एक ही सूर्य (इमम् कृत्स्नं लोकं) इस सम्पूर्ण लोक को (सौर मण्डल को) प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार (क्षेत्री) एक ही आत्मा (कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति) सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देता है; उसे प्राण, बुद्धि, मन तथा इन्द्रिय शक्ति से युक्त करके चेतन बना देता है, ज्ञानशील, मननशील एवं क्रियाशील बना देता है।

यह तथ्य कि आत्मा प्राणों में रहता है कठोपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

॥ कठ०। २। २। ३॥

(ऊर्ध्वं प्राणं उन्नयति) प्राणों को ऊपर उठाता है और (अपानं प्रत्यक् अस्यति) अपान को नीचे फेंकता है, (मध्ये आसीनं वामनम्) मध्य में स्थित श्रेष्ठ जीवात्मा की (विश्वे देवाः उपासते) मन सहित सभी इन्द्रियाँ तथा प्राण उपासना करते हैं अर्थात् सेवा करते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। जीवात्मा को यहाँ वामन कहा गया है क्योंकि वास्तव में जीवात्मा विष्णु के विराट स्वरूप का एक वामन रूप है, वामन अवतार है।

ईश्वर का रूप किसी के सामने प्रकट नहीं होता है और न ही

इसे कोई देख सकता है। इसका दर्शन केवल ज्ञानमय आत्मा द्वारा ही किया जा सकता है। इसीलिए इस मन्त्र में कहा गया है कि "वह जो प्राणों में रहने वाला पुरुष है, वह मैं ही हूँ।" इस पुरुष से भिन्न अन्य कोई भी ब्रह्म के दर्शन नहीं कर सकता। यह आत्मा इन्द्र है और यही उस महान् इन्द्र, महेन्द्र का दर्शन कर सकता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन–
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

कठ० २।३।९ ॥ श्वेता० ।४।२०॥

इसका रूप किसी के सामने प्रकट नहीं होता और इसे कोई आँखों से देख नहीं सकता। जो हृदय में स्थित इस अन्तर्यामी परमेश्वर को (हृदा) श्रद्धा एवं भक्तियुक्त हृदय से तथा पवित्र, निर्मल मन से (एवं विदुः) ऐसा जान लेते हैं (ते अमृताः भवन्ति) वे मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, अमृत हो जाते हैं।

श्री नारायण स्वामी ने लिखा है कि इस मन्त्र में सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द बनाने की प्रार्थना ईश्वर से की गई है। उन्होंने "यः असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि" का अर्थ किया है "जो वह ईश्वर है, वह मैं हूँ।" किन्तु यह अर्थ सही नहीं है क्योंकि उन्होंने दूसरा 'असौ' छोड़कर ऐसा अर्थ किया है। यह स्पष्ट है कि जब जीवात्मा ब्रह्म के दर्शन के लिए प्रार्थना कर रहा है तब वह यह नहीं कह सकता कि जो वह ईश्वर है, वह मैं हूँ।

कुछ अन्य विद्वानों का भी मत है कि जब पुरुष ईश्वर के साक्षात् दर्शन कर लेता है तब वह ईश्वर से भिन्न नहीं रह जाता, उसी में लीन हो जाता है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलकर समुद्र ही

हो जाती हैं उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा में मिलकर परमात्मा ही हो जाता है। इसीलिए उस स्थिति में साधक कहता है कि मैं आपके मंगलमय स्वरूप का दर्शन कर रहा हूँ और वह जो ईश्वर है वह मैं हूँ अर्थात् मेरा अलग से अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

श्री विनोबा जी ने लिखा है "इस मन्त्र में सूर्य प्रतीक में ईश्वर का ध्यान करना है। मन्त्र के पहले दो चरणों में प्रार्थना समाप्त हुई है। 'रश्मीन् व्यूह' 'रश्मीन् समूह' इस प्रकार प्रार्थना का दोहरा वाक्य है। इसके बाद भक्त की प्रार्थना सुनकर ईश्वर ने उसे दर्शन दिया है, यह हमें मान लेना है। तीसरे चरण में इस दर्शन का वर्णन है। 'तेजः' यह 'रूपं' के विशेषण जैसा-समानाधिकरण है। चौथे चरण में दर्शन से प्राप्त हुई प्रतीति को दिखाया है।

ईश्वर को 'अशब्दं' 'अस्पर्शं' 'अरूपं' (कठ. । १ । ३ । १५) आदि प्रकार से केवल 'अव्यक्त' कहा गया है। तब उसका रूप दर्शन कैसे हो, यह प्रश्न यहाँ उठ सकता है, इसी को लेकर ब्रह्मसूत्र में इसका उत्तर यह दिया गया है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

॥ ब्रह्म सू. ३ । २ । २४ ॥

श्रुति और स्मृतियों का निर्णय है कि ध्यानावस्था में अव्यक्त ईश्वर का भी दर्शन हो सकता है। 'यो असौ असौ पुरुषः सोऽहमस्मि' यहाँ यह दूसरा 'असौ' शब्द अवतरणांकित है। "वह जो 'असौ पुरुषः' कहा है, वह मैं हूँ" यह है इस वाक्य का अर्थ। 'असौ पुरुषः' यानी उस पार का परात्पर, पुरुष अर्थात् परमेश्वर। वह जो उस पार का है वही बिल्कुल इस पार का है, अर्थात् मैं ही वह हूँ।"

किन्तु 'योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहमस्मि का अर्थ 'वह जो ईश्वर है वह मैं हूँ' ठीक प्रतीत नहीं होता। विनोबा जी द्वारा किया गया अर्थ मन्त्र में प्रयोग किये गये शब्दों के अनुरूप नहीं था अतः उन्हें लिखना

पड़ा कि दूसरा असौ शब्द अवतरणांकित है किन्तु उनके इस कथन का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है। फिर सर्वव्यापक परब्रह्म को उस पार का पुरुष कहना किस प्रकार उचित है ?

एक ओर तो जीव परमात्मा से यह प्रार्थना करे कि हे प्रभो ! कृपा करके अपने तेज को हटा लीजिये ताकि मैं आपका दर्शन कर सकूँ और दूसरी ओर वह यह कहे कि 'वह जो ईश्वर है वह मैं हूँ' यह उचित प्रतीत नहीं होता और मन्त्र की हठात् खींचातानी मालूम पड़ती है।

श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने इसका निम्नांकित अर्थ कियाहै, जो सही है। असु शब्द प्राण का वाचक है, अतः असौ का अर्थ हुआ प्राणों में। (यः असौ असौ पुरुषः) जो यह प्राणों में रहने वाला पुरुष जीवात्मा है, वह मैं हूँ। पुरुषः पुरि वसति इति पुरुषः। शरीर रूपी पुरी में रहने वाला जीवात्मा पुरुष है। प्राण आत्मा के सहचारी हैं और शरीर में आत्मा के ही आश्रित होकर तथा उसकी सेवा करते हुये उसके सब ओर रहते हैं। इसीलिए जीवात्मा को प्राणों में रहने वाला पुरुष कहा गया है।

यही तथ्य अथर्ववेद के निम्नांकित मन्त्र में कहा गया है—

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।

समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥

॥ अथर्व० । २ । २ । ३ ॥

(गन्धर्वः आभिः अन् अवद्याभिः उ सं जग्मे) वाणी तथा इन्द्रियों को धारण करने वाला आत्मा इन दोष रहित अप्सराओं के साथ

संगति करने वाला, मिलने वाला तथा (अप्सरासु अपि आसीत्) निःसन्देह अप्सराओं अर्थात् प्राण की शक्तियों के बीच में रहने वाला है। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान समुद्र में अर्थात् अन्तरिक्ष में है, (यतः सद्यः आयन्ति परायन्ति च) जहाँ से ये प्राण शक्ति रूपी अप्सरायें शीघ्र ही आती हैं और वापस चली जाती हैं; (मे आहुः) यह मुझे बताया गया है। यह प्राण शक्तियाँ ही आत्मा रूपी इन्द्र की प्रसिद्ध अप्सरायें हैं।

इस मन्त्र में आत्मा तथा उसकी प्राणशक्तियों का वर्णन अत्यन्त आलंकारिक ढंग से किया गया है। जीवात्मा रूपी गन्धर्व इन प्राण-शक्ति रूपी दोष रहित पवित्र अप्सराओं के साथ मिलकर इनकी संगति करता है तथा इनके मध्य रहता है।

जिस प्रकार शरीर में आत्मा रूपी गन्धर्व अपनी प्राणशक्ति रूपी अप्सराओं के साथ रहता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में पृथिवी आदि को धारण करने वाला परमात्मा रूपी गन्धर्व विश्व व्यापक समष्टि प्राण रूपी अपनी अनन्त जीवन शक्तियों के साथ रहता है।

गन्धर्व का अर्थ है (गां+धर्व) भूमि, सूर्य, वाणी तथा इन्द्रियों आदि को धारण पोषण करने वाला परमात्मा अथवा शरीर में जीवात्मा। अप्सरायें इस गन्धर्व की पत्नियाँ हैं जिनके मध्य यह रहता है, रमण करता है। अप्सरा का अर्थ है (अप्+सरस्) जलके आश्रय से चलने वाली। (आपोमयः प्राणः) प्राण जलमय है अर्थात् जल के आश्रय से रहता है। यह सर्वविदित है कि जल के बिना मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग अथवा वृक्षादि किसी भी जीव धारी का प्राण नहीं रह सकता; अतः जल के आश्रय से चलने वाली ये अप्सरायें स्पष्ट रूप से प्राण की शक्तियाँ हैं जो अपने स्वामी जीवात्मा के साथ शरीर में रहती हैं और अन्तरिक्ष अथवा आकाश से निरन्तर आती जाती रहती हैं। इसीलिए इन अप्सराओं का स्थान समुद्र अथवा अन्तरिक्ष कहा गया है।

जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति के आश्रय से रहती हैं, उसी प्रकार शरीर में प्राण तथा अपान आदि जीवात्मा के आश्रय से रहते हैं। कठोपनिषद् में कहा है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।

।। कठ० । २ । २ । ५ ।।

कोई भी न प्राण से और न अपान से जीवित रहता है बल्कि समस्त प्राणी, इन दोनों से भिन्न उस आत्मा के कारण जीवित रहते हैं (यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ) जिसमें ये दोनों आश्रित रहते हैं।

शरीर में इन प्राण शक्तियों अथवा अप्सराओं का स्थान हृदय रूपी समुद्र अथवा सरोवर है जिसमें यह प्राण रूपी हंस डुबकी लगाता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न
रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ।।

।। अथर्व ११ । ४ । २१ ।।

(सलिलात् उच्चरन् हंसः) जल से ऊपर उठता हुआ हंस (एकं पादं न उत्खिदति) एक पाँव को नहीं उठाता; (अङ्ग) हे प्रिय ! (यत्सः तं उत्खिदेत्) यदि वह उसको उठा ले, (न एव अद्य न श्वः स्यात्) तो न आज हो न कल, (न रात्री न अहः स्यात्) न रात

हो और न दिन और (न कदाचन व्युच्छेत्) न कभी उषा का प्रकाश हो। ऊपर उठता हुआ यह प्राण रूपी हंस, हृदय सरोवर के सलिल से अपना एक पाँव नहीं हटाता अर्थात् एक पाँव शरीर में स्थिर रखता है, केवल दूसरा उठाता है। यदि वह इस पैर को भी हटा ले तो न आज होगा न कल, न रात्रि होगी न दिन क्योंकि प्राण रूपी हंस द्वारा अपने दोनों पैर हटा लेने से वह सदा के लिए शरीर के बाहर चला जायेगा और प्राणी की मृत्यु हो जाने के कारण उसके लिए न आज होगा न कल, न दिन होगा, न रात।

इसीलिए श्वास तथा उच्छ्वास की प्रक्रिया में प्राण कभी पूर्ण रूप से बाहर नहीं जाता बल्कि अपने अंश को शरीर के अन्दर ही छोड़ जाता है। यदि प्राण रूपी हंस हृदय सरोवर के जल से अपने दोनों पैर उठा ले तो सब कुछ समाप्त हो जाय।

प्राण को हंस इस लिए कहा जाता है कि प्राण अर्थात् श्वास के बाहर आने पर 'हं' की ध्वनि होती है और अपान अर्थात् श्वास अन्दर लेने पर 'स' की ध्वनि होती है। इस प्रकार (हं + स) मिलकर प्राण वाचक हंस शब्द बनता है।

इसी हंस शब्द का विपर्यय करने पर और उसमें ओम को सम्मिलित करने से सोऽहं शब्द बनता है, जो अद्वैत की स्थिति का परिचायक है।

हंस–विपर्यय–स हं अथवा स ह

स ह + ओम् = (स + ओ, ह + म्) = सो + हं

= (सोऽहं) = (सः + अहम्)

ओ३म् को हंस के साथ मिलाने का कारण यह है कि अद्वैत की दृष्टि से ओ३म् आत्मा का परिचायक है। हंस प्राण का वाचक है और आत्मा का प्राण के साथ नित्य सम्बन्ध है क्योंकि प्राण आत्मा

की सहचारिणी जीवन शक्ति है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राण ही आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है। इस प्रकार आलंकारिक भाषा में प्राण आत्मा का वाहन है। आत्मा का ब्रह्मा नाम प्रसिद्ध ही है और प्राण का नाम हंस है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि ब्रह्मा का वाहन हंस है।

ब्रह्मा का वाहन यह प्राण रूपी हंस हृदय सरोवर, अथवा मान (स) सरोवर=मान सरोवर में रहता है। इसी मानस सरोवर में यह क्रीड़ा करता है। श्वास लेने के समय यह हृदय सरोवर के सलिल में गोता लगाता है, और उच्छ्वास के समय ऊपर उठता है किन्तु फिर भी अपना एक पैर इस हृदय सरोवर में ही स्थित रखता है अर्थात् शरीर से पूरी तरह बाहर नहीं जाता अन्यथा पुरुष की जीवन लीला ही समाप्त हो जाय।

प्राण तथा आत्मा के इस शाश्वत सम्बन्ध के आधार पर ही पवन पुत्र हनुमान, जो कि वास्तव में प्राण के प्रतीक हैं (प्राण का पवन पुत्र होना स्पष्ट ही है) को राम रूपी आत्मा का सेवक तथा परम बलशाली कहा गया है क्योंकि शरीर का समस्त बल प्राण पर ही आधारित होता है; वास्तव में प्राण ही शरीर का समस्त बल है।

'आत्मा हृदय कमल में रहता है' यह सर्वविदित है। इसीलिए आलंकारिक ढंग से आत्मा अथवा ब्रह्मा का आसन कमल कहा जाता है।

———

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।

ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

बृहदा० ५ । १५ । १ यजु० काण्व० ४० । १७

(वायुः अनिलम् अमृतम्) प्राण वायु, समष्टि अविनाशी वायु तत्व में विलीन हो जाता है, (अथ इदं शरीरं भस्मान्तम्) और उसके पश्चात् इस शरीर का अन्त भस्म के रूप में हो जाता है अर्थात् यह पार्थिव शरीर जलाकर भस्म कर दिया जाता है अथवा अन्य प्रकार से मिट्टी में मिल जाता है ।

(क्रतो ओ३म् स्मर कृतं स्मर) हे कर्म करने वाले जीव ! ओ३म् का स्मरण करो, अपने किये हुये कर्मों का स्मरण करो, (क्रतो स्मर कृतं स्मर) हे जीव ! ओ३म् का स्मरण करो, अपने किये हुये कर्मों का स्मरण करो ।

इस शरीर में आने जाने वाला प्राण वायु अपने अविनाशी कारण रूप समष्टि वायु तत्व में लीन हो जाता है । उसके बाद इस स्थूल शरीर का भस्म में अन्त हो जाता है । हे जीव ! तू ओ३म् का स्मरण कर, अपने किये हुये कर्मों का स्मरण कर ।

वाजसनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता में यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ निम्न प्रकार आया है—

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः ।

ऋषभः स्वरः ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर ॥

॥ वाज० यजु० ४० । १५ ॥

इस मन्त्र में 'क्लिबे स्मर' ऐसा अधिक पाठ है। इस 'क्लिब' 'क्लिप्' अथवा 'क्लृप' का अर्थ है, समर्थ होना, योग्य होना। अतः मन्त्र का अर्थ हुआ "हे कर्म करने वाले जीव! ओ३म् का स्मरण करो, अपनी सामर्थ्य की वृद्धि के लिये स्मरण करो और अपने द्वारा किये गये कर्मों का स्मरण करो।"

इस मन्त्र में यह महत्वपूर्ण शिक्षा दी गयी है कि ओ३म् का स्मरण करने से, जप करने से पुरुष को ऐसी सामर्थ्य, ऐसी शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह जीवन के संघर्षों में विजय प्राप्त कर सकता है और सफलता की ओर अग्रसर हो सकता है।

ओ३म् ही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ नाम है। सभी वेदों में प्रमुख रूप से इसी परम पद का वर्णन किया गया है। इसका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करके, इसका निरन्तर ध्यान एवं जप करके मनुष्य अपने सारे मनोरथों को पूर्ण कर सकता है तथा इसके आलम्बन से सांसारिक ऐश्वर्य के साथ-साथ मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिये इस मन्त्र में ओ३म् का सतत् स्मरण करने का उपदेश दिया गया है।

इसके अतिरिक्त यह बताते हुये कि यह शरीर भस्म में अन्त हो जाता है मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह सदा ओ३म् का स्मरण करने के साथ-साथ अपने किये हुये कर्मों का भी स्मरण करे। मनुष्य अपने जीवन में जब अच्छे कर्म करेगा तभी वह अन्त समय में

उनका स्मरण करके प्रसन्न हो सकेगा और सुखपूर्वक इस संसार से विदा ले सकेगा। इस मन्त्र में दिये गये निर्देश के अनुसार मनुष्य को प्रतिदिन अपने किये हुये कर्मों का आत्म निरीक्षण करना चाहिये जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर करके अपनी उन्नति कर सके।

जो लोग अपने जीवन में निकृष्ट काम करते हैं उनके अन्त समय में वे बुरे काम चलचित्र की भाँति उनके सामने आते हैं, जिससे उन्हें अत्यन्त व्याकुलता तथा मानसिक पीड़ा होती है और मृत्यु उन्हें बड़ी भयावह मालूम होती है। एक ऐसे ही व्यक्ति को मेरे पिता जी ने स्वयं देखा था। वह मृत्यु से पूर्व भयङ्कर चीत्कार कर रहा था और बार-बार कहता था "मुझे हिरण अपने सींगों से वेध रहे हैं; बचाओ, बचाओ।" जानकारी करने पर लोगों ने बताया कि वह व्यक्ति एक बड़ा शिकारी था और उसने अपने जीवन में सैकड़ों हिरण मारे थे।

वास्तव में मनुष्य द्वारा किये हुये अच्छे कार्य ही अन्त समय में उसका साथ देते हैं। **धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।** जीव अकेला ही धर्म को साथ लेकर संसार से प्रयाण करता है। इसीलिए यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को सदा 'ओ३म्' का स्मरण करना चाहिए और अपने कर्मों की आत्म विवेचना करनी चाहिये जिससे वह दुष्कर्मों से बचकर धर्म का पालन कर सके।

यहाँ प्राण वायु का समष्टि वायु में मिलने का वर्णन प्रतीकात्मक है। शरीर में देवों के जितने अंश हैं, वे सभी मृत्यु के उपरान्त अपने-अपने समष्टि तत्व में मिल जाते हैं, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् एवं मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं

पृथिवीꣳशरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीति । बृहदारण्यक । ३ । २ । १३ ॥

(याज्ञवल्क्य इति ह उवाच) जारत्कारव ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! (यत्र अस्य मृतस्य पुरुषस्य) जब इस मरे हुये पुरुष की (वाग् अग्निं अप्येति) वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, तथा (प्राणः वातम्) प्राण, वायु में, (चक्षुः आदित्यम्) चक्षु सूर्य में, (मनः चन्द्रम्) मन चन्द्रमा में, (श्रोत्रं दिशः) श्रोत्र दिशा में, (शरीरम् पृथिवीम्) शरीर पृथिवी में, (आत्मा आकाशम्) आत्मा अर्थात् उसका आश्रय रूप हृदयाकाश, बाह्याकाश में, (लोमानि ओषधीः) लोम ओषधि में, (केशाः वनस्पतीन्) बाल वनस्पतियों में, (लोहितं च रेतः च अप्सु) रक्त और वीर्य जल में, (निधीयते) स्थापित हो जाते हैं, (तदा अयं पुरुषः क्व भवति इति) तब यह पुरुष (जीवात्मा) कहाँ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—

आहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत् प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत् प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ।

बृहदा० । ३ । २ । १३ ॥

(सोम्य आर्तभाग) हे सोम्य आर्तभाग ! (हस्तं आहर) अपना हाथ लाओ, (एकान्त में हम दोनों लोग चलें) (आवाम् एव एतस्य वेदिष्यावः) हम दोनों ही इस प्रश्न के रहस्य को समझेंगे, (नौ एतत् सजने न इति) हम दोनों इसको लोक समूह में नहीं विचारेंगे । तब (तौ ह उत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते) उन दोनों ने वहाँ से निकल कर

विचार किया, (तौ ह यद् ऊचतुः) तथा लौटकर उन दोनों ने जो कहा (तत् कर्म एव ह ऊचतुः) वह कर्म ही को कहा, (अथ यत् प्रशशंसतुः) और दोनों ने जो प्रशंसा की (कर्म एव ह तत् प्रशशंसतुः) वह कर्म की ही प्रशंसा थी। (वै) निश्चय ही (पुण्येन कर्मणा पुण्यः भवति) पुण्य कर्म से पुण्य होता है, (पापेन पापः इति) पाप कर्म से पाप। (ततः ह जारत्कारवः आर्तभागः उपरराम) तब जारत्कारव शान्त हो गये।

श्रेष्ठ कर्मों की महत्ता के इस भाव को छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न प्रकार बताया गया है—

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषोयथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।

छान्दोग्य। प्रपा० ३। खण्ड–१४। प्रवाक। १॥ (ख)

(अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः) निश्चय ही यह पुरुष अथवा जीवात्मा कर्ममय है, (अस्मिन् लोके पुरुषः यथाक्रतुः भवति) इस लोक में पुरुष जैसे कर्म करने वाला होता है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसा ही वह यहाँ से जाकर अर्थात् मृत्यु के उपरान्त होता है (सः क्रतुं कुर्वीति) अतः उसे श्रेष्ठ कर्म ही करने चाहिये।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥

॥ मुण्डक। ३। २। ७॥

(पञ्चदश कलाः प्रतिष्ठाः गताः) पन्द्रह कलायें अपनी प्रतिष्ठा, आधार अथवा कारण में वापस चली जाती है, (सर्वे देवाः च प्रतिदेवतासु) समस्त देव अर्थात् इन्द्रियाँ अपने अपने कारण रूप देवताओं

में वापस चली जाती हैं, तथा (विज्ञानमयः आत्मा कर्माणि च) विज्ञानमय आत्मा और उसके कर्म (सर्वे परेऽव्यये एकीभवन्ति) ये सब श्रेष्ठ अविनाशी परमात्मा में एक हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस लोक में वर्णित कलाओं का उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में निम्न प्रकार किया गया है—

१- प्राण	५- अग्नि अथवा तेज	९- मन	१३- मन्त्र
२- श्रद्धा	६- जल	१०- अन्न	१४- कर्म
३- आकाश	७- पृथिवी	११- वीर्य	१५- लोक
४- वायु	८- इन्द्रियाँ	१२- तप	१६- नाम

उक्त श्लोक में मोक्ष का वर्णन है। जब मोक्ष होता है तब जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है, अन्यथा वह अपने ज्ञान एवं कर्म के अनुसार दूसरे शरीर में प्रवेश करने के लिए अपने कर्मों द्वारा उत्पन्न वासना तथा प्राण के साथ चला जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

॥ कठ० २।२।७॥

अपने अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार कुछ जीवात्मा शरीर धारण करने के लिए भिन्न भिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं और कुछ अन्य वृक्ष आदि स्थावर योनियों को जाते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में यह तत्व निम्न प्रकार समझाया गया है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा
युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।

॥ प्रश्नो। प्रश्न ३।१०॥

(यत् चित्तः तेन एष प्राणं आयाति) जैसा जिसका चित्त होता है, उस चित्त के साथ आत्मा प्राण में स्थित हो जाता है, (प्राणः तेजसा युक्तः) प्राण तेज अथवा उदान से युक्त होकर (आत्मना सह) आत्मा को अपने साथ (यथा संकल्पितं लोकं नयति) ज्ञान एवं कर्मों के अनुसार अभिप्रेरित लोक अथवा योनि में ले जाता है।

आत्मा के साथ जाने वाले इस चित्त में ही कर्म जनित वासनाएँ रहती हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

॥ गीता० । १५ । ८ ॥

(वायुः आशयात् गन्धान् इव) जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, उसी प्रकार (ईश्वरः अपि यत् शरीरम् उत्क्रामति) शरीर का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीर को त्यागता है (तस्मात् एतानि ग्रहीत्वा च यत् शरीरम् अवाप्नोति तस्मिन् संयाति) उससे मन सहित इन इन्द्रियों को साथ लेकर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है।

मृत्यु के ठीक पूर्व की अवस्था का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

स यत्रायमात्माबल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति।

॥ बृहदा० उप० ४।४।१॥

(सः अयम् आत्मा) वह यह आत्मा (यत्र) जब, जिस अवस्था

में, (अबल्यं नि एत्य) अबलता, शिथिलता को प्राप्त होकर अर्थात् शारीरिक दुर्बलता के कारण, (सम्मोहम् इव नि एत्य) मानो सम्मोह अर्थात् विवेक के अभाव को प्राप्त हो जाता है, अचेत हो जाता है, (अथ) तब उस समय (एनम् एते प्राणाः अभिसमायन्ति) ये वागादि प्राण अर्थात् प्राण के वे अंश जो वाणी आदि में कार्य करते हैं, आत्मा के अभिमुख हो जाते हैं। (सः) वह आत्मा (एताः तेजोमात्राः समभ्याददानः) इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् रूप से ग्रहण करके (हृदयम् एव अनु अवक्रामति) हृदय में ही स्थित हो जाता है। (यत्र एषः चाक्षुषः पुरुषः) जब यह चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करने वाला जीवात्मा (पराङ् पर्यावर्तते) सब ओर से व्यावर्तन कर लेता है अर्थात् इन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण की शक्तियों को अपने अन्दर समेट लेता है, (अथ अरूपज्ञः भवति) उस समय इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने के कारण पुरुष रूप आदि विषयों के ज्ञान से रहित हो जाता है।

इस प्रकार जीवात्मा में मन सहित समस्त इन्द्रियों का लय हो जाने के उपरान्त जीवात्मा प्राण के साथ शरीर से उत्क्रमण करता है।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

बृहदारण्यक ४।४।२

(एकीभवति न पश्यति इति आहुः) जब चक्षु इन्द्रिय जीवात्मा से मृत्यु के समय एक रूप हो जाती है, तो लोग 'नहीं देखता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न जिघ्रति इति आहुः) घ्राणेन्द्रिय जीवात्मा से एक रूप हो जाती है, तो 'नहीं सूंघता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न रसयते इति आहुः) रसनेन्द्रिय एक रूप हो जाती है तो 'नहीं चखता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न वदति इति आहुः) वाग् इन्द्रिय एक रूप हो जाती है तो 'नहीं बोलता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न शृणोति इति आहुः) श्रोत्रेन्द्रिय एक रूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न मनुते इति आहुः) मन एक रूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता है' ऐसा कहते हैं, (एकीभवति न स्पृशति इति आहुः) त्वक् इन्द्रिय एक रूप हो जाती है तो 'स्पर्श नहीं करता है' ऐसा कहते हैं और (एकीभवति न विजानाति इति आहुः) बुद्धि जीवात्मा से एक रूप हो जाती है तो 'नहीं जानता है' ऐसा कहते हैं। (तस्य ह एतस्य हृदयस्य अग्रं प्रद्योतते) उस समय जीवात्मा के हृदय का अग्र अर्थात् बाहर जाने का मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, (तेन प्रद्योतेन एष आत्मा) उसी प्रकाशित मार्ग से होकर यह आत्मा, (चक्षुष्टो वा) यदि उसका ज्ञान या कर्म आदित्य लोक की प्राप्ति का कारण होता है तो चक्षु द्वार से निकलता है (मूर्ध्नो वा) यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण होता है तो मूर्धा से निकलता है (अन्येभ्यः शरीरदेशेभ्यः वा) अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से बाहर निकलता है। (तम् उत्क्रामन्तं) उस आत्मा के उत्क्रमण करने पर उसके साथ (प्राणोऽनुत्क्रामति) प्राण उत्क्रमण करता है, (प्राणं अनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति) मुख्य प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी प्राण उत्क्रमण करते हैं। (सविज्ञानो भवति) उस समय वह आत्मा सविज्ञान होता है अर्थात् स्वप्न के समान अपने कर्मवश विशेष विज्ञानवान् होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं।

यदि स्वतन्त्र रूप से विज्ञानवान् हो सकता तो सभी कृतकृत्य हो जाते। तात्पर्य यह है कि इस समय जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार अपने चित्त की वासनाओं के सहित होता है। इस समय वह अपने पूर्व कर्मों द्वारा उद्भूत अन्तःकरण की वृत्ति विशेष के आश्रित रहने वाले वासनात्मक बिशेष ज्ञान से युक्त होता है, सविज्ञान होता है और (सविज्ञानम् एव अनुअवक्रामति) इस विज्ञान से उद्भासित होकर, प्रेरित होकर अपने गन्तव्य स्थान को अनुगमन करता है (तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च) उस आत्मा के साथ उसके ज्ञान तथा कर्म के साथ साथ पूर्वप्रज्ञा अर्थात् अनुभूत विषयों की वासना भी जाती है।

आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर में कुछ शेष नहीं रहता और वह केवल भस्म मात्र रह जाता है, यह तथ्य कठोपनिषद् में निम्न प्रकार कहा गया है—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते।
एतद्वै तत्॥

॥ कठ० । २ । २ । ४ ॥

शरीर में स्थित इस आत्मा के (विस्रंसमानस्य विमुच्यमानस्य) शरीर से अलग हो जाने पर, निकल जाने पर यहाँ इस शरीर में क्या बच जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं, यही वह जीवात्मा है।

ओ३म्

ओ३म् ही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ नाम है। यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १७ में कहा है 'ओ३म् खं ब्रह्म' अर्थात् ओ३म् आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म है।

ओ३म् की महिमा का वर्णन करते हुये कठोपनिषद् में कहा गया है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।

।। कठ. । १ । २ । १५ ।।

सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं, और समस्त तप जिसको प्राप्त करने के साधन हैं; जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ, वह ओ३म् है ।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।

।। कठ. । १ । २ । १६ ।।

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही सर्वश्रेष्ठ है । इस अक्षर को ही जानकर, जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त हो जाती है अर्थात् इसके ज्ञान तथा इसकी उपासना से पुरुष को अभीष्ट फल एवं कामना की प्राप्ति होती है ।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।

।। कठ० । १ । २ । १७ ।।

इसी अविनाशी ओ३म् का आश्रय श्रेष्ठ है, इसी का आलम्बन सर्वश्रेष्ठ है, इसके आश्रय को, आलम्बन को भली प्रकार ज्ञानपूर्वक प्राप्त करके तथा उसकी महिमा को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है ।

ओ३म् को ही प्रणव अथवा उद्गीथ भी कहते हैं । योगदर्शन में

कहा गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

योग० । समाधि० । २७ ॥

उस परब्रह्म का वाचक प्रणव अथवा ओ३म् है ।

माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।

॥ माण्डूक्य० । १ ॥

(ओम् इति) ओ३म् (एतद् अक्षरं) यह अविनाशी ब्रह्म है । (इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्) यह सब, यह सारा संसार उसी का विस्तार है, उसी की महिमा है । (भूतं भवत् भविष्यत्) भूत वर्तमान तथा भविष्य (इति सर्वं ओङ्कारः एव) यह सब ओङ्कार ही है । (च यत् अन्यत् त्रिकाल-अतीतम्) और इसके अतिरिक्त तीनों कालों से जो बाहर है, (तद् अपि ओङ्कारः एव) वह भी ओङ्कार ही है ।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।

॥ माण्डूक्य । ६ ॥

(एषः सर्वेश्वरः) यह ओ३म् सर्वेश्वर है, (एषः सर्वज्ञः) यह सर्वज्ञ है, (एषः अन्तर्यामीः) यह सबमें अन्तर्यामी रूप से स्थित है, (एषः सर्वस्य योनिः) यह समस्त जगत का कारण है और (हि) निश्चय ही (भूतानाम् प्रभवाप्ययौ) यह समस्त प्राणियों एवं पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है ।

उपनिषद् के उपरिलिखित वाक्य वेद के निम्नांकित महत्वपूर्ण मन्त्रों के अनुरूप हैं।

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

ऋग्. । १० । ९० । २ ॥ ॥ वाजसनेयि । यजु. । ३१ । २ ॥
अथर्व १९ । ६ । ४ ॥
साम. । ६ । ४ । ५ ॥

(यद्भूतं यत् च भाव्यम् पुरुष एव इदम् सर्वम्) भूत वर्तमान और भविष्य जो कुछ भी है, वह सब पुरुष ही है, वह उस अमृतत्व अर्थात् जीवात्मा का भी स्वामी है जो शरीर में अन्न के साथ बढ़ता है। आत्मा शरीर में रहता है और शरीर अन्न से बढ़ता है किन्तु आत्मा के बिना शरीर नहीं बढ़ सकता अतः मन्त्र में आलंकारिक ढंग से आत्मा को ही अन्न के साथ बढ़ने वाला कह दिया गया है।

एतावानस्य महिमा ऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

यजु. ३१ । ३
ऋग्वेद १० । ९० । ०३
अथर्व १९ । ६ । ३

(एतावान् अस्य महिमा) यह समस्त ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। इस विश्व से केवल उसकी महिमा का बोध होता है (पुरुषः अतो-ज्यायान् च) वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक महान् और श्रेष्ठ है। (विश्वा भूतानि अस्य पादः) यह समस्त चराचर जगत उसका केवल एक पाद है, एक अंश है, (अस्य अमृतं त्रिपाद् दिवि) उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप में स्थित हैं। उस महान् पुरुष के

एक अंश से उत्पन्न होने वाली यह सृष्टि परिवर्तित होती रहती है, बनती और बिगड़ती रहती है किन्तु उसके तीन पाद अर्थात् वह पूर्ण पुरुष अपने अमृत स्वरूप में सदा अविकारी, अपरिवर्तनीय, एक रस एवं ध्रुव होकर रहता है। वास्तव में सृष्टि रूपी अंश को निकालने के बाद भी वह परमात्मा सदा पूर्ण ही रहता है। 'पूर्णमेवावशिष्यते'।

यही भाव तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

ॐ इति ब्रह्म। ॐ इति इदं सर्वम्।

॥ तैत्तिरीय उप०। १। ८।

ओ३म् यह ब्रह्म है। ओ३म् यह सब कुछ है अर्थात् यह समस्त चराचर जगत ब्रह्म अथवा ओ३म् का ही रूप है। ओ३म् की सत्ता ही इसके कण-कण में प्रतिभासित एवं प्रतिविम्बित हो रही है। यह सब उसी की महिमा है, उसी का विस्तार है।

गीता तथा मनुस्मृति में ओ३म् का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामं परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥

॥ मनु०। २। ८३॥

ओ३म् एकाक्षर परब्रह्म है, प्राणायाम परम तप है, गायत्री मन्त्र से श्रेष्ठ कुछ नहीं है और मौन रहने से सत्य बोलना अच्छा है।

एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृति पूर्विकाम्।
सन्ध्योर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येनयुज्यते॥

॥ मनु० २। ७८॥

(एतत् अक्षरम्) इस अक्षर, अविनाशी ओ३म् को (च) और (व्याहृति पूर्विकाम् एताम्) भूः भुवः स्वः इन तीनों व्याहृतियों को

पूर्व में लगाकर गायत्री मन्त्र को (सन्ध्योः) दोनों समय सन्ध्या काल में (जपन्) जप करता हुआ (वेदविद् विप्रः) वेदज्ञ ब्राह्मण (वेद-पुण्येन) वेद विहित धर्मों के पुण्य से (युज्यते) युक्त होता है अर्थात् उनके पुण्य को प्राप्त करता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

॥ गीता १७। २४॥

अतः ब्रह्मवादियों की, वेद के विद्वानों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान तथा तप की क्रियायें सदा ओ३म् के उच्चारण के साथ ही प्रारम्भ होती हैं। ओ३म् की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि सभी वेदानुकूल श्रेष्ठ कर्म तथा वेद मन्त्रों का पाठ ओ३म् का उच्चारण करने के उपरान्त ही किये जाने का नियम है।

क्रतो ओ३म् स्मर।

हे कर्म करने वाले जीव ओ३म् का स्मरण करो। ओ३म् का ज्ञान, उसका जप तथा उसकी साधना ही पुरुष के परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

योगदर्शन में कहा गया है--

तज्जपः तदर्थभावनम्।

योगदर्शन। समाधि। २८।

प्रणव अथवा ओ३म् का ध्यानपूर्वक एकाग्रचित्त से तथा भक्ति-भाव से जप करना चाहिये और उसी की भावना, उसी का विचार श्रद्धापूर्वक अपने हृदय, मन तथा बुद्धि में स्थिर करना चाहिये।

गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है--

अध्यात्मम् आत्मभैषज्यम् आत्मकैवल्यम् ओङ्कारः।

गोपथ ब्राह्मण। पूर्व भाग। १।कण्डिका ३०।

ओङ्कार अध्यात्म, आत्मभैषज्य तथा आत्मकैवल्य है।

अध्यात्मम्–ओ३म् आत्मज्ञान का अधिकरण अथवा आधार है अर्थात् ओ३म् का ध्यान करने से आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

आत्मभैषज्यम्–ओ३म् आत्मा का औषध है। इसके जप, ध्यान तथा चिन्तन से आत्मा के समस्त दोष दूर हो जाते हैं और आत्मा पूर्णरूप से निर्मल हो जाता है।

आत्मकैवल्यम्–ओ३म् का ध्यान आत्मा को मोक्ष देने वाला है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है--

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति।

॥ छान्दोग्य० १।१।१॥

(ओ३म् इति) ओ३म् (एतद् अक्षरम्) इस अविनाशी (उद्-गीथम् उपासीत) उद्गीथ की उपासना करे। (ओम् इति हि उद्-गायति) सामगान करने वालों के द्वारा ओ३म् का उच्च स्वर से गान किया जाता है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोष-धयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।

॥ छान्दोग्य उप०।१।१।२॥

१- समस्त प्राणियों एवं पदार्थों का रस, सारभूत पदार्थ अथवा आधार पृथिवी है, २- पृथिवी का रस अथवा सार जल है, ३- जल का रस अथवा सार औषधियाँ हैं, ४- औषधियों का रस पुरुष है,

५- पुरुष का रस वाणी है, ६-वाणी का रस ऋचायें हैं, ७-ऋचाओं का रस साम है और ८- साम का रस उद्गीथ अथवा ओङ्कार है।

स एष रसानां रसतमः परमः। परार्द्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।

॥ छान्दोग्य उप०।१।१।३॥

(यद् उद्गीथः) जो उद्गीथ पद वाच्य ब्रह्म है (सःएषः) वह यह (रसानाम् रसतमः) सम्पूर्ण रसों में अत्युत्तम रस है, (यहाँ रस शब्द आनन्द वाचक है) वही (परमः), परम अर्थात् सर्व-श्रेष्ठ है, (परार्द्ध्यः) वही परम प्रापणीय पद है तथा गत प्रवाक में उल्लिखित पृथिव्यादि रसों में आठवाँ होने के कारण सामवेद का सारभूत है।

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते।

॥ छान्दोग्य उप०।१।१।७॥

(यः एतद् अक्षरम् उद्गीथम्) जो इस अविनाशी उद्गीथ को (एवम् विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ (उपास्ते) उसकी उपासना करता है, वह (वै) निश्चय ही (कामानाम् आपयिता) मनोरथों का प्रापक अर्थात् प्राप्त करने वाला होता है, (ह) यह बात प्रसिद्ध है।

भाव यह है कि ओ३म् की उपासना करने वाले पुरुष की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१३) में कहा गया है—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥

(यथा योनिगतस्य वह्नेः मूर्तिः न दृश्यते) जिस प्रकार अरणि अथवा काष्ठादि में उपस्थित रहते हुये भी अग्नि का न तो साक्षात् रूप दिखाई देता है (च न एव लिङ्गनाशः), न ही उसकी सत्ता का नाश होता है और (भूयः एव स इन्धनयोनिगृह्यः) इन्धन रूपी अपनी उत्पत्ति के स्थान से चेष्टा करने पर वह अग्नि फिर से प्राप्त किया जा सकता है, अथवा उत्पन्न किया जा सकता है, (वा) उसी प्रकार (तद् उभयम्) परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों (देहे वै) शरीर में ही (प्रणवेन गृह्यते) ओ३म् की उपासना करने से प्राप्त किये जा सकते हैं।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

॥ श्वेता० । १ । १४ ॥

(स्वदेहम्) अपने शरीर को (अरणिं) नीचे की अरणि, (च प्रणवं उत्तरारणिम् कृत्वा) तथा ओङ्कार को ऊपर की अरणि बनाकर, (ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्) ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन रूपी अभ्यास करके (निगूढवत्) अरणि में छिपे हुये अग्नि की भाँति हृदय में स्थित (देवं पश्येत्) परमेश्वर का साक्षात् दर्शन करे।

ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उपनिषदों में ओ३म् के जप का विधान किया गया है, जिसके सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण श्लोक निम्न प्रकार है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

॥ मुण्डक । २ । २ । ४ ॥

(प्रणवः धनुः) ओङ्कार को धनुष, (शरः आत्मा) आत्मा को बाण (ब्रह्म तत् लक्ष्यम् उच्यते) तथा ब्रह्म को उसका लक्ष्य कहा

जाता है। (अप्रमत्तेन शरवत्) आलस्य रहित होकर अपनी आत्मा को बाण के सदृश ब्रह्म रूपी लक्ष्य में (वेद्धव्यम्) बींधना चाहिये तथा (तन्मयः भवेत्) उसमें, उस ब्रह्म में तन्मय हो जाना चाहिये।

इस प्रकार भक्तिपूर्वक किये गये ओ३म् के जप से तथा श्रेष्ठ कर्म एवं ज्ञान की सहायता से और करुणामय भगवान् की कृपा से मनुष्य निश्चित रूप से ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है तथा उसी में लीन हो सकता है। वेदों में इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन होने से इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥

॥ मुण्डक। २। २। ६॥

(रथनाभौ अराः इव) रथ की नाभि में अरों के समान (यत्र नाड्यः संहताः) जहाँ पर नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं, उसी हृदयाकाश में (सः एषः) वह यह परमात्मा (बहुधा जायमानः) बहुत प्रकार से उत्पन्न होता हुआ (अन्तः चरते) अन्दर स्थित रहता है। (तमसः परस्तात्) अज्ञान रूपी अन्धकार से दूर (पाराय) इस संसार सागर से पार जाने के लिये (आत्मानं ओम् इति एवं ध्यायथ) इस परमात्मा का ओम् के रूप में ध्यान करो (वः स्वस्ति) जिससे तुम्हारा कल्याण हो।

मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना है और यह ओ३म् के सतत् स्मरण से ही सम्भव है। स्वयं वेद में ही कहा गया है कि जिसने उस ब्रह्म को नहीं जाना उसे वेदाध्ययन से क्या लाभ और उसके लिये ऋचायें क्या कर सकेंगी।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्

यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति

य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।

।। अथर्व० । ९ । १० । १८ ।। ऋग्० । १ । १६४ । ३९ ।।

अथर्व वेद में इमे के स्थान पर अमी शब्द का प्रयोग हुआ है । (परमे व्योमन् यस्मिन् अक्षरे) परम व्योम में व्याप्त जिस अविनाशी परब्रह्म में (ऋचः विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) ऋचायें तथा सूर्य चन्द्र आदि समस्त देव आधारित होकर स्थित हैं, (यः तत् न वेद) जो उस परब्रह्म को नहीं जानता; (किं ऋचा करिष्यति) वह ऋचाओं से क्या करेगा अर्थात् उसके द्वारा वेद मन्त्रों के पठन-पाठन से क्या लाभ ? (ये इत् तद् विदुः) जो उस ब्रह्म को जानते हैं (ते इमे समासते) वे उस ब्रह्म में सम्यक् रूप से स्थित हो जाते हैं अथवा तल्लीन हो जाते हैं ।

शाकपूणि ने लिखा है कि ओम् शब्द वाच्य ब्रह्म अक्षर है, ऋग्वेदादि इसी सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक अक्षर में स्थित हैं और इसीलिए नाना देवता वाले सब मन्त्रों में यही अक्षर वर्णित है अर्थात् ओम् शब्द वाच्य ब्रह्म ही चारो वेदों का प्रतिपाद्य विषय है । अतः अग्नि,वायु,आदित्य, अश्विनौ आदि सब देवताओं से वही एकमात्र ब्रह्म अभिप्रेत है । ब्राह्मण में भी कहा है कि ओम् पद वाच्य ब्रह्म ही वह

अक्षर है जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या का प्रतिनिधि अथवा प्रतिपाद्य विषय है।

निम्नांकित महत्वपूर्ण मन्त्र में ओ३म् की भावना तथा उपासना करने और उसे हृदय में धारण करने का निर्देश दिया गया है।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं

तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳसमिमं दधातु।

विश्वे देवासऽइह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥

॥ यजु० । २ । १३ ॥

(जूतिः मनः आज्यस्य जुषताम्) अत्यन्त वेगवान् मेरा मन यज्ञ सामग्री का सेवन करे अर्थात् यज्ञ में रमण करे, मेरे मन में यज्ञमय जीवन व्यतीत करने का संकल्प हो। (बृहस्पतिः इमं अरिष्टं यज्ञं तनोतु) आकाशादि पञ्चमहाभूतों का स्वामी परमेश्वर इस अहिंसनीय अथवा न छोड़े जाने योग्य यज्ञ का विस्तार करे तथा (इमं यज्ञं सं दधातु) इस यज्ञ का अच्छी प्रकार धारण करे अर्थात् इसकी रक्षा करे और सभी को यज्ञ करने की प्रेरणा दे, (विश्वे देवासः इह मादयन्ताम् ओम् प्रतिष्ठ) समस्त विद्वान अपने हृदय में ओ३म् की प्रतिष्ठा करके ओ३म् की भावना अपने हृदय में भक्तिपूर्वक धारण करके इस लोक में सुख एवं आमोद-प्रमोद का उपभोग करें।

इस प्रकार इस मन्त्र में ओम् की उपासना करने तथा श्रेष्ठ कर्म करते हुये यज्ञमय, त्यागमय, एवं कल्याणकारी जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया गया है।

अन्त समय में ओ३म् के उच्चारण का महत्व गीता में निम्न प्रकार दिया गया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

।। गीता । ८ । १३ ।।

जो पुरुष 'ओ३म्' इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुये तथा (माम्) मुझको अर्थात् भगवान् को स्मरण करते हुये शरीर त्यागता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

।। गीता । ८ । ६ ।।

हे कुन्ती पुत्र ! यह जीव अन्त में जिस जिस भाव का स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह (तद्भावभावितः) उसी भाव से भावित होकर अर्थात् सतत् चिन्तन करने के कारण उस भाव का अभ्यस्त होकर (सदा तं तं एव एति) सदैव उस उस भाव को ही प्राप्त होता है।

इसीलिए यह आवश्यक है कि अपना कल्याण चाहने वाला पुरुष सदा नियमित रूप से ओ३म् का चिन्तन करे जिससे वह ओ३म् अर्थात् परमात्मा के भाव से भावित अथवा युक्त होकर, प्रेरित होकर अन्त समय में भी ओ३म् का स्मरण करके परमात्मा को प्राप्त कर सके।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।

।। गीता । ८ । ८ ।।

हे पार्थ ! परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त (नान्यगामिना चेतसा) परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ भक्त दिव्य परम पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है।

ओङ्कार की उपासना का फल

प्रश्नोपनिषद् में कहा है—

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।

प्रश्नो०। पञ्चम प्रश्न। १।

(अथ ह एनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ) तब इन महर्षि पिप्पलाद से शिविपुत्र सत्यकाम ने पूछा कि (सः यः ह वै तत् मनुष्येषु) इन मनुष्यों में जो (प्रायणान्तं ओंकारं अभिध्यायीत) मरणपर्यन्त ओङ्कार का ध्यान करे, (स तेन कतमं लोकं वाव जयति) वह उस उपासना से किस लोक को निःसन्देह जीत लेता है ?

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।

प्रश्नो०। पञ्चम प्रश्न। २।

(तस्मै स ह उवाच) उसको उस ऋषि ने उत्तर दिया, हे सत्यकाम ! (एतद्वै) निश्चय ही यह (यद् ओंकारः) जो ओंकार है वही (परं च अपरं च ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है। (तस्माद्) इसलिए (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (एतेन एव आयतनेन) इसी के आश्रय से (एकतरं अन्वेति) पर अथवा अपर ब्रह्म में से किसी एक को अपनी श्रद्धा के अनुरूप प्राप्त होता है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

प्रश्नो०। पञ्चम प्रश्न। ३।

(सः यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत) वह यदि ओङ्कार की केवल एक मात्रा अर्थात् अकार का ध्यान करता है, (सः तेन एव संवेदितः) तो वह उसी से सम्यक् रूप से प्रबोधित होकर (तूर्णम् एव जगत्याम् अभिसम्पद्यते) मरणोपरान्त शीघ्र ही संसार में जन्म लेता है और (तं ऋचः मनुष्यलोकं उपनयन्ते) ऋचायें, ऋग्वेद के मन्त्र उसको मनुष्य योनि प्राप्त करा देते हैं। (सः तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः महिमान अनुभवति) वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से युक्त होकर महिमा, सम्पन्नता तथा ऐश्वर्य का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का उपासक शीघ्र ही मनुष्य योनि में, ऐसे सम्पन्न तथा पवित्र कुल में जन्म लेता है जिसे गीता में 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' कहा गया है। उसकी आत्मा इधर उधर भटकती नहीं रहती।

ओङ्कार की एक मात्रा का ध्यान करने का भाव इस तथ्य के आधार पर मनन किया जाना चाहिये अथवा समझा जाना चाहिये कि ओङ्कार की पहली मात्रा अर्थात् अकार का सम्बन्ध भूः महाव्याहृति, पृथिवीलोक, ऋग्वेद, आत्मा के प्रथम पाद जिसे वैश्वानर कहते हैं, जाग्रत अवस्था तथा स्थूल जगत से है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ओङ्कार की प्रथम मात्रा का ध्यान करने वाला पुरुष सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने तथा सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त करने में अधिक अभिरुचि रखता है। इसीलिये ऐसे पुरुष को मृत्यु के उपरान्त इसी जगत में मनुष्य योनि प्राप्त होती है जहाँ वह श्रेष्ठ आचरण करते हुये सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है। माण्डूक्य उपनिषद्

में अकार की उपासना का फल 'आदिः भवति' अर्थात् प्रमुख व्यक्ति, प्रथम व्यक्ति, अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बनता है, लिखा है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों से ज्ञान प्राप्त करके तथा ओङ्कार की एक मात्रा की उपासना करके मनुष्य अपने जीवन में महत्व प्राप्त करता है तथा माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार 'सर्वान् कामान् आप्नोति' अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति करता है, समस्त इच्छित भोगों को प्राप्त करता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।

॥ प्रश्नोप०। पञ्चम प्रश्न। ४॥

(अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते) और यदि वह उपासक ओङ्कार की दो मात्राओं अर्थात् 'अ' और 'उ' का मन में ध्यान करता है, उनकी उपासना करता है, (सः यजुर्भिः अन्तरिक्षं उन्नीयते) तो वह यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा अन्तरिक्ष लोक में ले जाया जाता है और (सोमलोकम्) सोमलोक को प्राप्त होता है। (सः सोमलोके विभूतिं अनुभूय) वह सोमलोक में विभूति का अनुभव करके (पुनः आवर्तते) फिर इस लोक में लौट आता है।

दो मात्राओं की उपासना का सही अर्थ समझने के लिए इस तथ्य पर मनन किया जाना चाहिये कि जैसे अकार का पृथिवी लोक तथा स्थूल जगत से सम्बन्ध है, वैसे ही उकार का सम्बन्ध महाव्याहृतियों में भुवः, लोकों में अन्तरिक्ष, आत्मा के पादों में द्वितीय पाद, जिसे तैजस कहते हैं, स्वप्नावस्था, यजुर्वेद तथा सूक्ष्म जगत् से है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दो मात्राओं की उपासना करने वाला पुरुष सांसारिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य के साथ साथ सूक्ष्म जगत् एवं आध्यात्मिक ज्ञान में भी अभिरुचि रखता है तथा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करता है। अतः ऐसा पुरुष इन दोनों तत्वों के प्रभाव से

केवल एक मात्रा की उपासना करने वाले पुरुष से अपेक्षाकृत उत्तम सोम लोक को प्राप्त होता है, जहाँ वह ऐश्वर्य एवं सुख का अनुभव करके उचित समय पर पुनः मनुष्य योनि को प्राप्त होता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है कि ओंकार की दूसरी मात्रा उकार की उपासना करने वाला पुरुष 'ज्ञानसंततिम् उत्कर्षति' ज्ञान की परम्परा को उन्नत करता है, श्रेष्ठ सन्तान को उत्पन्न करता है और उसके कुल में अब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं होता।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः।

प्रश्नो० । पञ्चम प्रश्न । ५ ॥

(यः पुनः एतं त्रिमात्रेण ओम् इति एतेन अक्षरेण एव परं पुरुषम् अभिध्यायीत) और जो अ + उ + म् इन तीनों मात्राओं से युक्त ओ३म् इस अक्षर के द्वारा इस परमेश्वर का ध्यान करता है, (सः तेजसि सूर्ये सम्पन्नः) वह तेजोमय सूर्य लोक को प्राप्त होता है (यथा पादोदरः त्वचा विनिर्मुच्यते) तथा जैसे पादोदर अर्थात् सर्प केंचुली से निकल जाता है (एवं ह वै सः पाप्मना विनिर्मुक्तः) वैसे ही वह साधक भी निश्चय ही पापों से मुक्त हो जाता है और (सः सामभिः ब्रह्मलोकं उन्नीयते) वह साम मन्त्रों द्वारा उत्कृष्ट ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है (सः एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षते) और वह इस श्रेष्ठ जीवात्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ तथा समस्त ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में व्याप्त परात्पर परम पुरुष का साक्षात्कार करता है।

ओङ्कार की तीनों मात्राओं की उपासना करने का वास्तविक अर्थ समझने के लिए यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि जहाँ अकार का सम्बन्ध पृथिवी लोक, स्थूल जगत् तथा आत्मा की जाग्रत अवस्था से है और उकार का सम्बन्ध अन्तरिक्ष लोक, आत्मा के दूसरे पाद, स्वप्नावस्था तथा सूक्ष्म जगत से है, वहीं मकार का सम्बन्ध महाव्याहृतियों में स्वः, लोकों में ब्रह्मलोक, आत्मा की सुषुप्तावस्था जिसे प्राज्ञ कहते हैं एवं सामवेद तथा कारण जगत से है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ओङ्कार की तीनों मात्राओं अर्थात् समग्र ओ३म् की उपासना करने वाला पुरुष जहाँ एक ओर सांसारिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करता है वहीं दूसरी ओर यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करते हुये आत्मज्ञान से समग्र ओ३म् अर्थात् परब्रह्म का मनन, चिन्तन, नमन तथा श्रद्धा भक्तिपूर्वक उपासना करता है जिससे उसकी आत्मा को साक्षात् परब्रह्म का दर्शन प्राप्त होता है। समग्र ओ३म् की उपासना करने वाला ऐसा पुरुष जीवन में सर्वतोमुखी अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्त करता है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने के उपरान्त आत्मा की स्थिति का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्' के रूप में किया गया है जिसका तात्पर्य है कि इस अवस्था में आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता।

माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है कि ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार आत्मा की सुषुप्तावस्था तथा प्राज्ञ नामक तृतीय पाद से सम्बन्धित है, अतः जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह इस सम्पूर्ण जगत को माप लेता है, तथा (अपीतिः भवति) सबको अपने में विलीन कर लेने वाला हो जाता है, सर्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह दो श्लोक हैं।

तिस्रोमात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यान्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः। ॥ प्रश्नो० । पञ्चम प्रश्न । ६ ॥

(त्रिस्रः मात्राः प्रयुक्ताः मृत्युमत्यः) ओङ्कार की तीनों मात्रायें अलग अलग प्रयोग किये जाने पर मृत्युमती है; अर्थात् मृत्यु की सीमा के अन्दर ही रहती है; मृत्यु के बाहर नहीं जातीं। इस प्रकार की उपासना से साधक जन्म मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकता किन्तु इन तीनों मात्राओं की (अन्योऽन्यसक्ताः अनविप्रयुक्ताः) एक दूसरे से सम्बद्ध तथा समन्वित रूप से इस प्रकार ध्यान तथा उपासना किये जाने पर कि इनका प्रयोग परस्पर विपरीत न हो तथा (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु क्रियासु) बाह्य मध्य तथा आभ्यन्तर अर्थात् जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं की क्रियाओं में (सम्यक् प्रयुक्तासु) सम्यक् रूप से प्रयुक्त किये जाने पर (ज्ञः न कम्पते) ज्ञानी विचलित नहीं होता। प्रश्नोपषिद् (५।७) में कहा है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनाऽन्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥

(ऋग्भिः एतम्) ऋग्वेद से इस लोक को (यजुर्भिः अन्तरिक्षम्) यजुर्वेद के मन्त्रों से अन्तरिक्ष लोक को और (सामभिः तत् यत् कवयः वेदयन्ते) साम के मन्त्रों से उस लोक को जिसे ज्ञानी ही जानते है, साधक प्राप्त होता है। (ओङ्कारेण आयतनेन विद्वान् तम् अन्वेति) ओङ्कार के आश्रय से, अवलम्बन से ज्ञानी साधक उसको प्राप्त करता है, (यत् तत् शान्तम् अजरम् अमृतम्, अभयम् परम् च इति) जो वह शान्त, अजर, अमृत, अभय तथा सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर है।

इस श्लोक में ओङ्कार की तीन मात्राओं की उपासना के माध्यम से ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों के समुच्चय की आवश्यकता पर बल दिया गया है। मात्राओं में (अकार) ऋग्वेद अथवा ज्ञान से (उकार) यजुर्वेद अथवा कर्म से तथा (मकार) सामवेद अथवा उपासना

से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। अतः जब असम्बद्ध रूप से इनका अलग-अलग प्रयोग किया जाता है तो उपासक की सर्वतोमुखी उन्नति न होकर केवल एकाङ्गी उन्नति होती है और वह अमृतत्व को प्राप्त नहीं कर पाता। इसीलिये अलग-अलग प्रयुक्त की गई ये मात्रायें मृत्युमती अर्थात् मृत्यु की सीमा के अन्दर ही कही गई हैं किन्तु जब इनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करके सम्बद्ध रीति से एक दूसरे के विपरीत प्रयोग किये जाने के बजाय इनका समन्वित एवं सम्यक् प्रयोग किया जाता है तब इनकी उपासना विशेष फलवती होती है और ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों के सामञ्जस्य से पुरुष अपनी आत्मोन्नति करते हुये परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है।

वेद में जिस प्रकार विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति के प्रकरण में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों के सामञ्जस्य का निर्देश दिया गया है, उसी प्रकार इन श्लोकों में ओङ्कार की तीनों मात्राओं, तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, भूः भुवः स्वः, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-शरीर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा बाह्य, मध्यम एवं आभ्यन्तर अवस्थाओं तथा वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ में परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्य की महत्ता पर बल दिया गया है।

वास्तव में भगवान का नियम ही समन्वय एवं सामञ्जस्य का है। उसके द्वारा, दिन रात, उष्ण-शीत, अग्नि-जल, सूर्य-चन्द्र, व्यक्त-अव्यक्त प्रकृति-पुरुष, स्त्री-पुरुष, शरीर-आत्मा, तथा मृत्यु-जीवन आदि अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का सामञ्जस्य करके ही सृष्टि की रचना तथा व्यवस्था की गई है। यही जीवन का रहस्य है तथा सत्य एवं शाश्वत नियम है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वेद, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् दर्शन, स्मृति आदि सभी आर्ष ग्रन्थों में ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र के जप, चिन्तन एवं मनन का ही विधान किया गया है, अन्य किसी का

नहीं, किन्तु फिर भी आज हम लोग अपने अज्ञानवश तथा कुछ अप्रामाणिक एवं अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थों के कारण राम, कृष्ण आदि भिन्न-भिन्न नामों का जप तथा संकीर्तन करके अपना समय नष्ट करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं भगवान् शिव एवं कृष्ण भी ओम् तथा गायत्री मन्त्र का ही जप करते थे। अतः हमें भी उन्हीं के चरण चिह्नों पर चलना चाहिये।

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

श्रीमद् भाग. १०। १०। ६

इसके पश्चात् श्री कृष्ण निर्मल जल में विधिपूर्वक स्नान कर, तथा शुद्ध वस्त्र धारण करके सन्ध्योपासन तथा अग्नि होत्र करते हैं और मौन होकर ब्रह्म जप अर्थात् गायत्री का जप करते हैं।

गायत्री मंजरी में कहा है कि भगवान शिव ने पार्वती जी को बताया कि मैं वेदमाता गायत्री की ही उपासना करता हूँ।

गायत्री वेदमातास्ति साऽऽद्या शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि॥

गायत्री वेदमाता है, पृथिवी पर वह आद्या शक्ति कही जाती है, और वही संसार की जननी हैं। मैं भी उसी की उपासना करता हूँ।

कुछ लोग तो साईं बाबा आदि जीवित लोगों के नामों का कीर्तन, राम तथा कृष्ण आदि के पूज्य नामों के साथ करते हैं। अन्ध-भक्ति, मूर्खता तथा पतन की यह पराकाष्ठा है। कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान् पूजनीय अथवा चमत्कारिक शक्तियों से युक्त

क्यों न हो, उसकी भगवान् के समान उपासना करना, उसका भजन, कीर्तन आदि करना अत्यन्त अवैदिक, निकृष्ट तथा निन्दनीय कार्य है, जो पुरुष की गरिमा के सर्वथा विपरीत है।

जिस धर्म में आत्मा को परमात्मा का अंश मानकर "यः असौ आदित्ये पुरुषः सः असौ अहम्" "जो आदित्य में पुरुष (परमात्मा) है वही प्राणों में रहने वाला मैं हूँ" कहा गया है, उस धर्म के अनुयायियों के लिये किसी व्यक्ति विशेष की पूजा-अर्चना करना नितान्त अशोभनीय एवं अपमानजनक है। केवल एकमात्र भगवान् ही उपास्य देव हैं, वही हमारे विधाता, पिता, मित्र तथा भाई हैं, यह विचार हम सबको अपने हृदय में भली-भाँति स्थिर कर लेना चाहिये। वेद में कहा गया है "ओ३म् प्रतिष्ठ" हृदय में ओ३म् की प्रतिष्ठा करो, अन्य किसी की नहीं।

वेद में भगवान् को भी केवल उपास्यदेव, पिता तथा सखा के रूप में वर्णित किया गया है। किसी भी मन्त्र में आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध सेवक और स्वामी के रूप में नहीं बताया गया है बल्कि इसके विपरीत "सखा सखिभ्यः ईड्यः" कहकर उसे अपना पूजनीय मित्र बताया गया है। वेद के इस सिद्धान्त के अनुसार ही महाभारत में कृष्ण एवं अर्जुन का मैत्री सम्बन्ध दिखाया गया है। वास्तव में परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध का यह वेद प्रतिपादित सच्चा स्वरूप है।

ओ३म् को सहस्र बार जपने का फल

तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत् त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्तयेत् सिध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्।

गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग १। २२

(तद् एतद् अक्षरम्) सो इस अक्षर, अविनाशी ओ३म् को, (ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञानी (यं कामं इच्छेत्) जिस इष्ट पदार्थ को चाहे, (त्रिरात्रोपोषितः) तीन रात तक उपवास करता हुआ (प्राङ्मुखः) पूर्व को मुख करके (वाग्यतः) मौन धारण कर (बर्हिषि उपविश्य) कुशासन पर बैठकर (सहस्रकृत्वः) सहस्रवार (आवर्तयेत्) फेरता रहे, जप करता रहे। (अस्य अर्थाः सर्वकर्माणि च) ऐसा करने पर उसके मनोरथ और सब काम (सिद्ध्यन्ति) सिद्ध होते हैं। (इति ब्राह्मणम्) यह ब्रह्मज्ञान है।

कृतं स्मर

पुरुष को अपने किये हुये कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है और अपने कर्मों के अनुसार ही उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। अतः यह उसी के हित में है कि वह अपने किये हुये कर्मों का प्रतिदिन स्मरण करे, उनकी विवेचना करे और इस प्रकार निकृष्ट कर्मों को छोड़कर श्रेष्ठ कर्मों द्वारा स्वयं अपने लिये उत्कृष्ट लोक (स्वकृतस्य लोकः) का निर्माण करे तथा अपनी उन्नति के लिये अपने कर्मों द्वारा बनाया गया अपना आलोकित जीवन पथ प्रशस्त करे।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥

॥ श्वेता० । ५ । ७ ॥

(यः गुणान्वयः) जो तीन गुणों से प्रेरित होकर मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का सेवन करने वाला (च फलकर्मकर्ता) तथा फल की इच्छा से कर्म करने वाला है (सः तस्यैव कृतस्य उपभोक्ता) वही अपने किये हुये कर्मों का फल भोगने वाला है। (सः) वह (विश्व-

रूप:) अनेक योनियों में जन्म लेकर भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करने वाला, (त्रिगुण:) तीन गुणों अर्थात् सत्व, रज तथा तम से युक्त होकर शरीर में स्थित रहने वाला, तथा (त्रिवर्त्मा) कर्मानुसार उत्तम, मध्यम या निकृष्ट मार्ग से गमन करने वाला अथवा मनुष्यों की तरह सीधा खड़ा होकर दो पैर से चलने वाला, पशुओं आदि के समान तिरछा होकर चलने वाला तथा पक्षियों आदि के समान आकाश में उड़ने वाला अथवा नभचर, थलचर, एवं जलचर के रूप में रहने वाला (प्राणाधिप: स्वकर्मभि: संचरति) शरीरस्थ प्राणों का स्वामी यह जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार अनेक योनियों में विचरता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

॥ चाणक्य। ६। ९॥

जीव आप ही कर्म करता है और आप ही उसका फल भोगता है, आप ही संसार में भ्रमता है और आप ही उससे मुक्त होता है।

मनुष्य के जीवन का उसके कर्मों से कैसा सम्बन्ध है इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय: प्राणमयश्चक्षुर्मय: श्रोत्रमय: पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमय: काममयोऽकाममय: क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममय: सर्वमयस्तद् यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्य: पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन। अथो खल्वाहु: काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। ॥ बृहदारण्यक०। ४। ४। ५॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। यह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय,अधर्ममय तथा सर्वमय है। (तत् इदंमय अदोमय यत् एतत्) 'यहमय' अथवा 'वहमय' जो कुछ भी है वह यह (आत्मा) है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का अंश होने के कारण यह जीवात्मा ब्रह्म के समान ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, ज्ञानस्वरूप तथा अविकारी है। शरीर में बुद्धि, ज्ञान तथा मन के साथ संयुक्त होने के कारण यह ज्ञानमय अज्ञानमय तथा मनोमय हो जाता है, इसी प्रकार प्राण तथा इन्द्रियों के साथ संयुक्त होने के कारण वह प्राणमय तथा चक्षुर्मय आदि होता है और पञ्च महाभूतों से निर्मित शरीर तथा संसार में रहता हुआ यह पृथ्वीमय, जलमय आदि हो जाता है यद्यपि यह वास्तव में इन सबसे पूर्णरूप से भिन्न तथा असङ्ग अथवा निर्लिप्त है।

इसी प्रकार वह तेज अथवा अतेज, क्रोध अथवा अक्रोध, धर्म अथवा अधर्म के साथ संयुक्त होता हुआ, तेजोमय, अतेजोमय, धर्ममय, अधर्ममय आदि हो जाता है। सृष्टि में यह या वह जो कुछ भी है, वह सभी के साथ संयुक्त होने के कारण वास्तव में सर्वमय है।

जीव तथा प्रकृति के संयोग से ही यह सृष्टि बनी है। अतः जगत् में आत्मा भिन्न भिन्न रूपों वाली प्रकृति से सब प्रकार से संयुक्त है। अतएव उसे सर्वमय कहा गया है। (यथाकारी यथाचारी तथा भवति) यह आत्मा जैसे कर्म करने वाला तथा जैसे आचरण वाला होता है, वैसा ही बन जाता है। साधु कर्म करने वाला साधु हो जाता है। पुण्य कर्म करने वाला पुण्यात्मा हो जाता है और पाप कर्म करने वाला पापात्मा अथवा पापी हो जाता है। पुण्य कर्मों से पुण्य होता है और पाप कर्मों से पाप।

इस प्रकार सब कुछ मनुष्य के आचरण तथा कर्मों पर ही निर्भर

होता है। पुरुष अपने कर्मों के अनुरूप ही पुण्यात्मा तथा पापात्मा बन जाता है।

(अथो खलु आहुः) कोई कोई कहते हैं कि (काममयः एव अयं पुरुषः) यह पुरुष काममय ही है। वह जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करने वाला होता है, जैसा संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अत्यन्त सरल एवं सुन्दर ढंग से कहा है—

जो जस करहि सो तस फल चाखा।
कर्म प्रधान विश्व रचि राखा॥

वास्तव में यह संसार कर्मप्रधान ही है और इसीलिए प्रत्येक पुरुष को नित्य प्रति अपने किये हुये कर्मों की विवेचना करके आत्मोन्नति का उपाय करना चाहिये।

मनुष्य को अपने जीवन काल में सदा ओ३म् का स्मरण करना चाहिये और साथ ही प्रतिदिन अपने किये हुये कर्मों का स्मरण करके आत्म विवेचना करनी चाहिये जिससे उसे अपने बुरे कर्मों को छोड़ने का अवसर मिलता रहे। यदि मनुष्य अपने किये हुये कर्मों पर बार बार दृष्टि-पात नहीं करेगा तो वह अपनी बुराइयों को नहीं छोड़ पायेगा। इसीलिये मन्त्र में दो बार 'कृतो स्मर, कृतम स्मर' कहकर इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य सदैव ओ३म् का स्मरण करे तथा अपने कर्मों पर स्वयं विवेचनात्मक दृष्टि डालकर अपने जीवन को उत्तरोत्तर पवित्र एवं आदर्श बनाने का प्रयास करे।

यह उल्लेखनीय है कि इस मन्त्र का उपदेश केवल मृत्यु समय के लिए नहीं है, जैसा कि अनेक विद्वानों ने लिखा है, बल्कि सम्पूर्ण जीवन के

लिये है। यह एक ऐसा उपदेश है जिसका हमें अपने जीवन में दिन-प्रतिदिन पालन करना चाहिये।

कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र को एक प्रार्थना के रूप में लिया है लेकिन ऐसा केवल मन्त्र को निरर्थक तोड़ मरोड़कर ही किया जा सकता है। इन विद्वानों ने मन्त्र के साथ अपने शब्द जोड़कर अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाये हैं, जो बहुत उचित प्रतीत नहीं होते।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरुप अमृत अर्थात् सूत्रात्मा वायु को प्राप्त हो (उन्होंने लिखा है कि 'अनिलं अमृतं के साथ प्रतिपद्यताम्' जोड़ लेना चाहिये) तथा अब यह शरीर अग्नि में होम कर दिये जाने पर भस्मशेष हो जाय। (शरीरं भस्मान्तम् के साथ भूयात् जोड़ने पर यह अर्थ होता है)।

किन्तु वास्तव में यह प्रार्थना निरर्थक है। जब मृत्यु का समय आयेगा तो स्वयमेव प्राण सर्वात्मक वायु में लीन हो जायेगा और शरीर भस्मशेष हो जायेगा फिर उसके लिये प्रार्थना करने से क्या लाभ? अस्तु यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता।

गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित ईशोपनिषद् में इस मन्त्र का निम्नांकित अर्थ दिया गया है जो कि बिल्कुल ही युक्तिसंगत नहीं है।

परमधाम का यात्री वह साधक·······सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसीलिये कहता है कि प्राण समष्टि वायु आदि में प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। ऐसा अर्थ करने के लिये अनिलम् के साथ (प्रविशतु, प्रविष्ट हो जायँ) अपनी तरफ से जोड़ दिया गया है।

इसी तरह से शरीरम् भस्मान्तम् के साथ भूयात् अपनी तरफ से जोड़ दिया गया है।

मन्त्र की दूसरी पंक्ति का यह अर्थ तो और भी विचित्र है, "हे भगवान् ! आप मुझ भक्त को स्मरण करें, मेरे द्वारा किये हुये कर्मों का स्मरण करें।"

महात्मा नारायण स्वामी जी ने वायुः का अर्थ किया है 'शरीरों में आने जाने वाला, और अनिलम् का अर्थ किया है 'जीव'। इस प्रकार उन्होंने मन्त्र का निम्न अर्थ किया है।

शरीर में आने जाने वाला जीव अमर है किन्तु शरीर केवल भस्म पर्यन्त है।

इसके विपरीत स्वामी शङ्कराचार्य जी एवं स्वामी दयानन्द जी दोनों ने ही वायुः का अर्थ प्राण वायु और अनिलम् का अर्थ सर्वात्मक सूत्रात्मा वायु ही किया है, जो अधिक उचित प्रतीत होता है।

पं० सातवलेकर जी ने वायुः का अर्थ प्राण तथा अनिलं अमृतम् का अर्थ (अन+इलं, अ+मृतं) अपार्थिव अमृतरूपी किया है। प्राण अपार्थिव अमृतरूपी है और यह शरीर अन्त में भस्म होने वाला है।

कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है-प्राण वायु में विलीन हो जाते हैं, शरीर जलकर भस्म हो जाता है, केवल यह ऋतु आतमा अमृत अर्थात् अमर है, किन्तु यह अर्थ वास्तव में मनमाना है।

श्री विनोबा भावे ने इस मन्त्र का निम्न अर्थ किया है-

"यह प्राण उस चैतन्यमय, अमृत-तत्व में लीन होवे और फिर शरीर की राख हो जाय, ईश्वर का नाम लेकर, हे दृढ़ संकल्पमय

जीव, स्मरण कर। उसका किया स्मरण कर। हे (मेरे) जीव, स्मरण कर (अपने संकल्प छोड़कर) उसका स्मरण कर।"

यहाँ भी 'प्रतिपद्यताम्' तथा 'भूयात्' जोड़कर ही अर्थ किया गया है। उन्होंने लिखा है—

"वायुः अनिलम् प्रतिपद्यताम्।"

अर्थात् प्राण निरन्तर हलचल करने वाले यानी ब्रह्माण्डगत वायु में घुल-मिल जायँ। इसका व्यापक अर्थ यह हुआ कि शरीर के सब तत्व उनके मूल देवताओं में लीन हो जायँ।"

'वायुरनिलम्' का दूसरा अर्थ उन्होंने लिखा है "वायुः यानी जीव, चैतन्यमय परमात्म तत्व में घुल-मिल जाय।" उनके अनुसार, 'वायुः' यानी जीव यह अर्थ 'वाति गच्छति इति वायुः' इस व्युत्पत्ति से सूचित हुआ है। जीव उपाधि युक्त होकर एक देह से दूसरे देह को वासना के अनुसार जाया करता है।"

'अनिल' शब्द 'अन्' याने हलचल करना, इस धातु से बना है। अस्तु अनिल शब्द चैतन्य का वाचक है तथा अमृतम् यहाँ ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है।

"अथ इदं भस्मान्तं शरीरम्" यहाँ के अथ शब्द में खूबी भरी हुई है। अथ अर्थात् अनन्तर। पहले जीव परमात्मा में विलीन हो जाय और बाद में शरीर की राख हो जाय। अन्यथा जीव भाव कायम रखते हुये केवल दहनविधि का नाटक करने से क्या लाभ होगा?

"ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर"। इसका अर्थ "हे संकल्प रूप जीव, तू अपना किया याद कर……यों किया जाता है। मैंने भी पहले इसी तरह किया था। वह प्रकरण के अनुसार नहीं है। यहाँ तो जीव-दशा

को लोप अभीष्ट है। इसीलिए यहाँ ईश्वर के चरित्र का ही स्मरण चाहिये।

"कृतं स्मर" यहाँ कृतं शब्द से नाम, रूप, गुण, कर्म सभी लक्ष्य हैं। ईश्वर को, कृति को, उसके महान् उपकार को, याद करें। उसका नाम, उसका रूप, उसके गुण गायें। अपना संकल्प उसमें विलीन कर देह-भाव भुला दें। इससे अधिक कल्याणकारी मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है?

"क्रतो स्मर, कृतं स्मर" इस चरण का दो बार उच्चारण अन्त काल में ईश्वर स्मरण की नितान्त आवश्यकता दर्शाने के लिये है।"

वाजसनेयि संहिता में यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ निम्न प्रकार आया है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर॥

॥ यजु० ४०। १५॥

स्वामी दयानन्द जी ने इसका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

(क्रतो) हे कर्म करने वाले जीव! तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) इस नाम वाच्य ईश्वर को (स्मर) स्मरण कर (क्लिबे) अपने सामर्थ्य के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का (स्मर) स्मरण कर (कृतं स्मर) अपने किये का स्मरण कर। (वायुः) इस संस्कार का धनञ्जयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को, कारण रूप वायु (अमृतम्) अविनाशी कारण को धारण करता है (अथ इदम् शरीरम् भस्मान्तम्) इसके अनन्तर यह सुखादि का आश्रय शरीर अन्त में भस्म होने वाला है, ऐसा जानो।

पं० दामोदर सातवलेकर जी ने भी लिखा है "क्लिबे स्मर अर्थात् अपनी सामर्थ्य वृद्धि के लिये स्मरण कर। अपने आप समर्थ होने के लिये ऊपर कहे अनुसार ईशस्मरण कर और स्वयं कृत कर्मों का स्मरण कर।"

ओ३म् के सतत् स्मरण तथा ओ३म् में अपने को नित्य संयुक्त करने के विषय में माण्डूक्य उपनिषद कारिका के निम्नांकित श्लोक अत्यन्त सुन्दर हैं—

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥

॥ मा० का० । १ । २६ ॥

(प्रणवः हि अपरं ब्रह्म) प्रणव अर्थात् ओ३म् ही अपर ब्रह्म है, (च प्रणवः परः स्मृतः) और प्रणव को ही परब्रह्म कहा गया है। प्रणव अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य अनपर तथा अव्यय है। परब्रह्म से उत्पन्न यह दृश्यमान जगत अपर ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि वास्तव में यह ब्रह्म का ही रूप है। वाचक एवं वाच्य में अभेद होने के कारण ब्रह्म का वाचक ओ३म् अपूर्व, अनादि, अनन्त, अद्वितीय तथा अविनाशी है। इसके अन्दर और बाहर कुछ नहीं है बल्कि यही सबके अन्दर और बाहर स्थित है।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥

॥ मा० का० । १ । २५ ॥

(प्रणवे चेतः युञ्जीत) प्रणव अर्थात् ओ३म् में चित्त को नित्य संयुक्त करना चाहिये, अनन्य चिन्तन एवं उपासना द्वारा उसमें तल्लीन हो जाना चाहिये। (प्रणवः निर्भयम् ब्रह्म) ओ३म् निर्भय ब्रह्म है। (प्रणवे नित्ययुक्तस्य क्वचिद् भयं न विद्यते) प्रणव के साथ अपने

को भक्ति भाव से नित्य संयुक्त करने वाले साधक को कभी भय नहीं होता।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्॥

॥ मा० का० । १ । २७ ॥

(हि प्रणवः सर्वस्य आदिः मध्यम् तथा एव च अन्तः) निश्चय ही प्रणव समस्त जगत् का आदि, मध्य तथा अन्त है। (एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा तद् अनन्तरम् व्यश्नुते) प्रणव को इस प्रकार जानकर ज्ञानी पुरुष अन्त में उसको प्राप्त कर लेता है।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥

॥ मा० का० । १ । २८ ॥

(प्रणवं हि सर्वस्य हृदि संस्थितम् ईश्वरं विद्यात्) ओ३म् को निश्चय ही सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित ईश्वर समझे। (ओङ्कारं सर्वव्यापिनं मत्वा धीरः न शोचति) ओंकार को सर्वव्यापी समझने वाला धीर पुरुष कभी शोक को प्राप्त नहीं होता।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥

जिसने अमात्र एवं अनन्त मात्राओं वाले उस परम कल्याणकारी ओङ्कार को जान लिया, जिसमें द्वैत का शमन हो जाता है, वही मुनि है, अन्य कोई नहीं। ब्रह्म के अनन्त एवं विश्वरूप होने के कारण यहाँ ओ३म् को अनन्त मात्राओं वाला कहा गया है।

———

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।

बृहदा० ५ । १५ । १ ।। ।। यजु० ५ । ३६, ७ । ४३, ४० । १६ ।।

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म ! (अस्मान् राये सुपथा नय) हमें धन, ऐश्वर्य तथा सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिये अच्छे मार्ग से ले चलिये । हे देव ! आप हमारे (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त कर्मों, विचारों तथा मन के भावों को जानने वाले हैं । (अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि) हमसे कुटिलता पूर्ण पापों को अलग कर दीजिये; (ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हम आपको बारम्बार प्रणाम करते हुये आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति तथा उपासना करते हैं ।

उपनिषद् का यह अन्तिम मन्त्र इतना महत्वपूर्ण है कि यजुर्वेद में यह तीन बार आया है । इस मन्त्र के चार भाग हैं जो अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

पहले भाग में प्रार्थना की गई है कि हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म ! हमें ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति तथा सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिए सुपथ से ले चलिये । यहाँ यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि जब तक मनुष्य का सर्वतोमुखी अभ्युदय नहीं होता तब तक केवल धन तथा सम्पत्ति आदि से ही उसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ यदि किसी के पास करोड़ों रुपया हो किन्तु उसके पुत्रों की मृत्यु हो

जाय अथवा उसके नेत्रों की ज्योति समाप्त हो जाय, तो वह वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। रयि का अर्थ ऐसे सर्वतोमुखी अभ्युदय से है जिससे मनुष्य वास्तव में सुखी हो सके, चाहे उसके पास सुपथ से प्राप्त धन-सम्पत्ति अल्प मात्रा में ही क्यों न हो।

मन्त्र के दूसरे भाग में अत्यन्त ज्ञान की बात कही गई है कि भगवान् सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ होने के कारण हमारे समस्त विचारों भावों, भावनाओं तथा कर्मों को भली प्रकार जानने वाला है। यदि हम सदैव इस बात का ध्यान रखें कि भगवान् हमारे कर्मों को ही नहीं बल्कि हृदय में अन्तर्निहित भावों को भी जानता है और उससे कुछ भी नहीं छिपाया जा सकता तो हम वह अन्यायपूर्ण कार्य अथवा निकृष्ट दुराचार नहीं करेंगे जिन्हें हम यह सोचकर चुपचाप सबसे छिपकर करते हैं कि इन्हें कोई नहीं जानता। सुपथ पर चलने के लिए इस प्रकार के ज्ञान, विचार, विश्वास तथा इस प्रकार की आस्तिकता की अत्यन्त आवश्यकता है।

यद्यपि प्रायः सभी लोग भगवान् को मानते हैं, किन्तु वे वास्तव में इस बात पर विश्वास नहीं करते कि भगवान् सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ है। यदि हम वास्तव में इस बात पर विश्वास करें कि भगवान् हमारे समस्त कर्मों को ही नहीं बल्कि भावनाओं तथा विचारों को भी जानता है, जैसा कि इस मन्त्र में कहा गया है, तो हम बड़ी सरलता से अनेक पापों तथा दुष्कर्मों से बच सकते हैं।

इस प्रकार मन्त्र में पहले कहा गया है कि जीवन का लक्ष्य सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्त करना है किन्तु इसे सुपथ पर चलकर ही प्राप्त किया जाना चाहिये। दूसरे भाग में सुपथ पर चलने के लिए इस ज्ञान, इस विश्वास तथा इस आस्था की आवश्यकता बताई गई है कि हम भगवान् से कुछ नहीं छिपा सकते, वह हमारे विषय में सब कुछ जानता है। जब हम उससे कुछ नहीं छिपा सकते, जो हमें वास्तव

में पारितोषिक अथवा दण्ड देने वाला है तो अन्य लोगों से छिपाकर पापाचार करने से क्या लाभ ? उसका दण्ड तो हमें भोगना ही है क्योंकि भगवान् के नियम शाश्वत, सनातन, निष्पक्ष तथा अपरिवर्तनीय हैं ।

मन्त्र के तीसरे भाग में प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! समस्त कुटिलतापूर्ण पापों को हमसे दूर हटा दीजिये । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हमारे जो कार्य कुटिलतापूर्ण हैं, वे पाप हैं और जो सरलता अथवा ऋजुता से पूर्ण हैं, वे पुण्य हैं । पाप एवं पुण्य की यह कैसी सुन्दर परिभाषा है ।

महाभारत के अश्वमेध पर्व में कहा गया है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ।।

सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु है तथा सरलता ब्रह्म पद अथवा मोक्ष है । ज्ञान का विषय केवल इतना ही है, व्यर्थ प्रलाप से क्या लाभ ? कुटिलता अनृत की, असत्य की तथा सरलता ऋत की, सत्य की, प्रतीक है । भगवान् के शाश्वत सत्य नियम, ऋत हैं । सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि समस्त देव तथा भगवान् की अनन्त शक्तियाँ इसी ऋत की, इन सत्य नियमों की अनुगामी हैं ।

यह स्पष्ट है कि जब तक कुटिलतापूर्ण पाप हमसे दूर नहीं होंगे तब तक हम सुपथ पर नहीं चल सकते और जब तक हम सुपथ पर नहीं चलेंगे तब तक हमें 'सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होगा । यहाँ यह भी स्पष्ट है कि कुटिलतापूर्ण पापों के दूर होने के लिए भगवान की कृपा एवं सहायता की आवश्यकता है । जब तक उस करुणामय परमपिता की सहायता हमें प्राप्त नहीं होगी तब तक हम पापों के

पाश से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इसीलिए भगवान् से इस सम्बन्ध में प्रार्थना की गई है कि वह कुटिलतापूर्ण पापों को हमसे पृथक् कर दे।

भगवान् से प्रार्थना तथा उसकी कृपा के लिए उसकी भक्ति, विनम्रता, सरलता तथा निष्कपटता की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि यदि मनुष्य परम ज्ञानी होते हुये भी अहंकार एवं दम्भ से भरा हुआ है तो वह पापों से मुक्त नहीं हो सकता बल्कि इसके विपरीत वह अपने दम्भ और अपने अहंकार के कारण अधिक पाप करेगा, ज्ञानवान् होने के कारण जगत के लिये और भी अधिक विनाशकारी सिद्ध होगा। इस सम्बन्ध में रावण का ज्वलन्त उदाहरण प्रत्येक भारतीय तथा भारतीय संस्कृति से परिचित व्यक्ति के मानस पटल पर भली भाँति अंकित है।

इसीलिए मन्त्र के चौथे भाग में कहा गया है कि हे प्रभो! मैं आपको बारम्बार प्रणाम करते हुये आपकी भक्तिपूर्वक अर्चना तथा उपासना करता हूँ। जब तक अनन्य भाव से भगवान् का चिन्तन नहीं किया जायेगा तब तक उसकी कृपा प्राप्त नहीं होगी और बिना उसकी कृपा के न तो पाप हमसे दूर होंगे, न हम सुपथ पर चल सकेंगे और न हमें सुख तथा ऐश्वर्य प्राप्त हो सकेगा।

इस प्रकार जीवन का लक्ष्य, उसे प्राप्त करने का सही मार्ग तथा ज्ञान, कर्म एवं उपासना का अद्भुत समन्वय एवं समुच्चय इस मन्त्र में दिया गया है। इन तीनों में से किसी एक के भी बिना जीवन सफल नहीं हो सकता।

अग्ने नय अस्मान्

हे प्रभो हमें ले चलिये। यहाँ (नय) "ले चलिये" शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना चले, बिना प्रयास किये, बिना सतत् कर्म किये कोई पुरुष सफलता, ऐश्वर्य तथा अभ्युदय को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण ३३ । ३ में उल्लिखित निम्नांकित शिक्षा, जो इन्द्र द्वारा महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को दी गई है, इतनी सुन्दर है कि संसार के प्रत्येक नवयुवक को इसे हृदयङ्गम करके इस पर सदैव आचरण करना चाहिये ।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥
चरैवेति चरैवेति ।

(रोहित ! इति शुश्रुम) हे रोहित ! हमने विद्वानों से ऐसा सुना है कि (न अनाश्रान्ताय श्रीः अस्ति) जो अपना काम करते हुये, कठोर प्रयास करते हुये पूर्णरूप से थक नहीं जाता, उसे श्री, सम्पत्ति तथा सुख नहीं मिलता। (वरः जनः नृषद् पापः) मनुष्यों के बीच में बैठकर निरर्थक समय नष्ट करने वाला तथा अकर्मण्य होकर जीवन बिताने वाला श्रेष्ठ व्यक्ति भी पाप का भागी होता है और तुच्छ हो जाता है। (इन्द्र इत् चरतः सखा) सदा चलने वाले, गतिशील रहने वाले, सतत् प्रयासरत रहने वाले का, मित्र स्वयं परमात्मा ही होता है । (चरैवेति चरैवेति) चलते रहो, चलते रहो । तात्पर्य यह है कि भगवान में दृढ़ आस्था रखकर और सदैव जागरूक रहकर कर्तव्य पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिये ।

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतः ॥
चरैवेति चरैवेति ॥

(चरतः जङ्घे पुष्पिण्यौ) चलने वाले पुरुष की जाँघें सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्ष के समान सुशोभित हो जाती हैं, और (आत्मा भूष्णुः फलग्रहिः) उसका शरीर वृद्धि को प्राप्त होकर आरोग्य रूपी फल से युक्त हो जाता है, जिस प्रकार वृक्ष की शोभा उसके पुष्पों से

होती है, उसी प्रकार चलने वाले पुरुष की शोभा उसकी हृष्ठ-पुष्ट जाँघों से होती है। (अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे शेरे हतः) उसके समस्त पाप चलने के प्रकृष्ट श्रम से थक कर सो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। (चरैवेति चरैवेति) चलते रहो, चलते रहो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वं स्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति॥

(आसीनस्य भगः आस्ते) उद्योगहीन होकर बैठ जाने वाले व्यक्ति का भाग्य बैठ जाता है, (तिष्ठतः ऊर्ध्वः तिष्ठति) उठकर खड़े हो जाने वाले का भाग्य भी उठ खड़ा होता है; (निपद्यमानस्य शेते) सोने वाले का भाग्य सो जाता है, और (चरतः भगः चराति) चलने वाले का भाग्य चल पड़ता है। चलते रहो, चलते रहो। तात्पर्य यह है कि प्रयास एवं परिश्रम से भाग्य को बनाना मनुष्य के अपने हाथ में होता है। वास्तव में हर बच्चे का भाग्य उसकी मुठ्ठी में होता है।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥

निद्रा में पड़े रहना कलियुग है, जागना द्वापर है, उठकर खड़ा होना त्रेता है तथा चल पड़ना सतयुग है। चलते रहो, चलते रहो।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥

चलता हुआ पुरुष ही मधु प्राप्त करता है और चलता हुआ ही

स्वादिष्ट फलों को प्राप्त करता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो जो आलस्य रहित होकर निरन्तर चलता रहता है। तात्पर्य यह है कि विचरण करने वाला, गतिशील रहने वाला, उद्योगी, क्रियाशील तथा सतत् जागरूक रहने वाला व्यक्ति मधु अर्थात् मधु सदृश, मधुर सुखकारी एवं कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और अपनी कामनायें पूर्ण करके जीवन में वैभव एवं ऐश्वर्य प्राप्त करता है। "उद्योगिनं पुरुष-सिंहमुपैति लक्ष्मीः।" उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

कोई व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान, अथवा योग्य क्यों न हो, यदि वह चलेगा नहीं, प्रयास नहीं करेगा तो एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकेगा।

गच्छन् पिपीलिको याति योजनानां शतान्यपि।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥

सुभाषित।

चलती हुई चींटी सैकड़ों योजन चली जाती है जबकि न चलता हुये गरुड़ भी एक पग आगे नहीं जा सकता।

गोपथ ब्राह्मण में कहा है—

परिमितं भूतम् अपरिमितं भव्यम्।

॥ गो० उ० ५। १३॥

भूत सीमित है, भविष्य असीमित है। व्यतीत हो जाने के कारण भूतकाल तो सीमित होता है, उसकी सीमायें अब बढ़ नहीं सकतीं किन्तु भविष्य की संभावनायें अनन्त होती हैं। इसी को ध्यान में रखकर पुरुष को चलते रहना चाहिये, प्रगति पथ पर बढ़ते रहना चाहिये। गति हीनता मृत्यु है, गति शीलता जीवन है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

इस मन्त्र भाग में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हमें 'रयि' अर्थात् सर्वतोमुखी अभ्युदय, वैभव तथा ऐश्वर्य की ओर ले चलिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे जीवन का व्यक्तिगत एवं सामाजिक लक्ष्य, सब प्रकार का वैभव, ऐश्वर्य, तेज, कीर्ति, ज्ञान, धन-सम्पत्ति, सन्तान, पशु आदि प्राप्त करना होना चाहिए, सन्यासी बनकर अथवा विरक्त होकर केवल राम-राम करना नहीं। यह है हमारी संस्कृति का वास्तविक स्वरूप जो किसी भी प्रकार से पलायन वादी नहीं है। वैदिक धर्म सांसारिक जीवन को सुखी, सफल, समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने का स्पष्ट संकेत एवं आदेश देता है, किन्तु इसके साथ ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिशा निर्देश भी देता है और वह है इस मन्त्र में प्रयोग किया गया शब्द "सुपथा", अर्थात् अच्छे मार्ग से।

हमें धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि सब कुछ चाहिये किन्तु बेईमानी से नहीं, रिश्वत लेकर, चोरी करके, किसी को धोखा देकर अथवा अन्य किसी अन्यायपूर्ण ढंग से नहीं बल्कि अच्छे मार्ग से, उचित रूप से धर्मानुसार ही चाहिये। इसीलिए हमारे मनीषियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के इन चार लक्ष्यों अथवा पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को सर्वप्रथम रखा है जिससे हर समय हर व्यक्ति को यह ध्यान रहे कि अर्थ एवं काम जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य तो हैं किन्तु इन्हें धर्मानुसार ही प्राप्त करना है, अधर्म, असत्य, अन्याय अथवा अनीति से नहीं। मोक्ष जीवन का चौथा एवं अन्तिम परम लक्ष्य है जो सामान्यतया अर्थ एवं काम के उपरान्त चतुर्थ आश्रम में प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि हमारी सारी विचार धारा, जीवन धारा तथा संस्कृति वेद के इस अत्यन्त महत्व पूर्ण मन्त्र के अनुरूप है।

इसी प्रकार की प्रार्थना वेद में अन्य स्थानों में भी की गई है—

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।

स नः पूर्णेन यच्छतु ।।

।। अथर्व । ७ । १७ । १ ।।

(धाता जगतः पतिः ईशानः) सबका धारण-पोषण करने वाला, समस्त संसार का स्वामी एवं रक्षक तथा सभी पर शासन एवं नियन्त्रण करने वाला प्रभु (नः रयिं दधातु) हमें धन एवं ऐश्वर्य दे। (सः नः पूर्णेन यच्छतु) वह हमें पूर्णरूपेण दे अर्थात् हमारा सम्पूर्ण अभ्युदय करे, हमें सब प्रकार का सुख, समृद्धि एवं वैभव दे तथा हमारा सब प्रकार से कल्याण करे। 'रयि' के साथ 'पूर्णेन यच्छतु' शब्दों का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कितनी सुन्दर है यह प्रार्थना।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।

हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ।।

।। अर्थव ७ । २७ । ८ ।।

हे विष्णो ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक तथा पृथिवी से और (महः उरोः अन्तरिक्षात्) महान् विस्तृत अन्तरिक्ष से (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ प्रणस्व) बहुत से अर्थात् अनेक प्रकार के तथा बहुत बड़ी मात्रा में धनों को अपने दोनों हाथों में भर लीजिये (दक्षिणात् उत सव्यात्) और दायें तथा बायें, अपने दोनों हाथों से (आप्रयच्छ) हमें प्रदान कीजिये। कैसी श्रेष्ठ प्रार्थना है यह।

भगवान् द्वारा हमें दिया गया दान सदैव पवित्र होता है और उसे कोई छीन नहीं सकता। भगवान् ने हमें हज़ारों दान दिये हैं, हज़ारों प्रकार के धन दिये हैं किन्तु हम उस महान् दाता को भूले रहते हैं, कभी उसके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट नहीं करते।

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥

सामवेद उत्त० ९।९।३-क्र० स० १२५२॥ ऋग् १।११।८॥

सामवेद में स्तोमा के स्थान पर स्तोमैः शब्द का प्रयोग हुआ है। (यस्य सहस्रं उत वा भूयसीः रातयः सन्ति) हमारे लिये जिसके हज़ारों अथवा उससे भी अधिक दान हैं, उस (ओजसा ईशानम् इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् तथा अपने अनन्त बल एवं पराक्रम से सब पर शासन करने वाले प्रभु की (स्तोमाः अभि अनूषत) हम वेद के स्तोत्रों द्वारा भली प्रकार स्तुति करें। हमें वेदों के पवित्र स्तोत्रों तथा मन्त्रों द्वारा उस सर्वदाता तेजस्वी प्रभु की स्तुति, प्रशंसा तथा अर्चना करनी चाहिये।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्।

॥ अथर्व। १६।३।१॥

(अहम् रयीणाम् मूर्धा) हे प्रभो! मैं समस्त प्रकार के धनों का स्वामी (मूर्धा समानानाम् भूयासम्) तथा अपने समान अर्थात् अपने समकक्ष पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ बनूं।

मनुष्य को सदैव यह प्रयास एवं प्रार्थना करनी चाहिये कि वह

अधिक से अधिक ऐश्वर्य का स्वामी बने और अपने समकक्ष पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ बने। उदाहरणार्थ विद्यार्थी को सबसे श्रेष्ठ विद्यार्थी तथा विद्वान को सर्वश्रेष्ठ विद्वान बनने का प्रयास करना चाहिये।

१ २ ३१२ ३२ ३ १२
आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम्।
३ १ २ ३१२
मार्डीकं धेहि जीवसे॥

ऋग्०।१।७९।९॥ साम०।उत्तरा० १४।४।३।

॥ क्रमसंख्या १५२६॥

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परब्रह्म! (नः जीवसे) हमारे जीवन के लिये (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान से युक्त (विश्वायु पोषसम्) सम्पूर्ण आयु पर्यन्त पोषण करने वाले तथा (मार्डीकं रयिं) सुख देने वाले धन को (आ धेयि) हमें सब ओर से दीजिये अथवा हमारे लिए सब प्रकार से धारण कीजिये। धारण कीजिये का तात्पर्य यह कि यह धन हमारे पास स्थायी होकर रहे, नष्ट न हो जाय और हमें ध्यान रहे कि इसका धारण भगवान् कर रहा है यह उसी का है, हमारा नहीं। हमें केवल उसका सदुपयोग करने का अधिकार है। यहाँ धन के जो विशेषण दिये गये हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा विचारणीय हैं।

सुचेतुना

धन ऐसा होना चाहिये जो मनुष्य की बुद्धि और उसका आचरण भ्रष्ट न कर दे बल्कि उसे ज्ञानवान बनाये, उसे ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो।

विश्वायु पोषसम्

यह धन सम्पूर्ण आयु तक पूरी तरह पोषण करने वाला हो, हमें दुराचारी बनाकर हमारा जीवन नष्ट करने वाला न हो।

मार्डीकं

यह धन हमारे लिये सब प्रकार से सुखदायी हो। हमारे लिये दु:खों का कारण न बने।

जीवसे

यह हमारे दीर्घ जीवन के लिये सहायक हो। यह सब गुण केवल पवित्र धन में ही हो सकते हैं। बेईमानी, शोषण अथवा अन्याय से अर्जित धन में नहीं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्।
१ २ ३ २ ३ १२
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्॥

ऋग्। १। ७९। ८॥ साम उत्त.। १४। ४। २। क्रम सं० १५२५

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परब्रह्म! (सत्रासाहं) समस्त शत्रुओं को हराने वाला अर्थात् प्रत्येक संघर्ष में विजय दिलाने वाला, समस्त आपत्तियों को दूर करने वाला (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्) जीवन के समस्त संग्रामों में शत्रु के लिए दुस्तर अर्थात् जिस पर कोई शत्रु विजय प्राप्त न कर सके (रयिं न: आभर) ऐसा धन एवं ऐश्वर्य हमें दीजिये।

इस मन्त्र में भी जो धन एवं ऐश्वर्य के विशेषण दिये गये हैं वे ध्यानपूर्वक विचारणीय हैं। हम जिस धन एवं ऐश्वर्य की प्रार्थना कर रहे हैं वह श्रेष्ठ हो, शत्रुओं के लिए दुस्तर तथा अजेय हो और हमें सतत् विजय दिलाने वाला हो; ऐसा नहीं कि जिससे हम चोर अथवा भ्रष्ट बन जायें, जो हमारे पतन तथा हमारी पराजय का कारण बने और अपवित्र हो। वेदों की यह कैसी अद्भुत शिक्षा है! इस पर विचार करके हमें केवल श्रेष्ठ एवं पवित्र, सुखदायी धन ही अर्जित करना चाहिये।

बड़े-बड़े पदों पर आसीन तथा वैभव सम्पन्न लोगों के जब बेईमानी से अर्जित धन की बात प्रकाश में आती है, तब उनका कैसा अपमान एवं पतन होता है, यह सर्वविदित है। वास्तव में ऐसे अपवित्र धन से उन्हें न तो सुख प्राप्त होता है और न उनका किसी प्रकार का कल्याण ही होता है बल्कि इसके विपरीत उनका सारा परिवार दुराचारी होकर नष्ट हो जाता है। इसीलिये वेद में प्रार्थना की गई है 'अग्ने नय सुपथा राये।' हे प्रभो ! हमें सुपथ से धन एवं ऐश्वर्य की ओर ले चलिये।

जिस प्रकार पवित्र एवं श्रेष्ठ धन तथा ऐश्वर्य की प्रार्थना की गई है, उसी प्रकार अनेक मन्त्रों में यशस्वी होने की भी अत्यन्त सुन्दर प्रार्थना की गई है।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥

॥ अथर्व। ६। ३९। ३॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार (यशा इन्द्रः) सूर्य यशस्वी होकर उत्पन्न हुआ है, (यशा अग्निः) अग्नि यशस्वी होकर उत्पन्न हुआ है, (यशा सोमो अजायत) चन्द्रमा यशस्वी होकर उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार (यशा विश्वस्य भूतस्य) समस्त यशस्वी प्राणियों में (अहम् अस्मि यशस्तमः) मैं सबसे अधिक यशस्वी बनूं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पुरुष को यह भावना अपने मन में स्थिर करनी चाहिये कि उसका आत्मा भी सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के समान जन्म से ही यशस्वी है। वह सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के समान तेजस्वी बनकर और उन्हीं के अनुरूप नियमपूर्वक निःस्वार्थ

भाव से परोपकारी कार्य करके, जगत के कल्याण के कार्य करके, सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के समान यशस्वी बन सकता है। इस सुन्दर मन्त्र में किसी व्यक्ति से प्रेरणा लेने की बात नहीं कहीं गई है बल्कि सूर्य चन्द्र आदि देवों से प्रेरणा लेकर उन्हीं के समान बनने का प्रयास करने की शिक्षा दी गई है। कितना ऊँचा आदर्श है यह ! कैसा अनुपम उद्देश्य है यह ! पहले हम सूर्य चन्द्र तथा अग्नि के समान प्रकाशवान्, पवित्र, तेजस्वी तथा ज्ञानवान् बनें और फिर उन्हीं के समान निःस्वार्थ भाव से लोक संग्रह, लोक कल्याण के लिये अपना जीवन समर्पित करते हुये अपने यश का विस्तार करके (विश्वस्य भूतस्य यशस्तमः) संसार में सबसे अधिक यशस्वी बनें।

इसके लिये आवश्यक है सुपथा, अच्छे मार्ग से चलना, समस्त कुटिलताओं को, समस्त पापों को अपने से दूर रखना तथा अहंकार रहित होकर भक्तिभाव से भगवान की बारम्बार उपासना, अर्चना तथा वन्दना करना।

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्

हे देव ! आप हमारे समस्त कर्मों को जानने वाले हैं। भगवान् से कोई कार्य, विचार अथवा मन्त्रणा नहीं छिपाई जा सकती, इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन निम्नांकित मन्त्र में किया गया है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥

॥ अथर्व । ४ । १६ । २ ॥

(यः तिष्ठति चरति) जो खड़ा होता है अथवा चलता है, (यः च वञ्चति) और जो ठगता है, (यः निलायं चरति यः प्रतङ्कम्) जो भीतर घुसकर चलता है अथवा बाहर निकल कर चलता है अर्थात् जो गुप्त व्यवहार करता है, या खुला व्यवहार करता है (द्वौ सं निषद्य यत् मन्त्रयेते) दो लोग पास-पास बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं अथवा चुपचाप बातचीत करते है या विचार विमर्श करते हैं, (तत्) उस सबको (तृतीयः राजा वरुणः वेद) उन दोनों के अतिरिक्त सदैव सर्वत्र उपस्थित तीसरा राज राजेश्वर वरुण अर्थात् परमेश्वर जानता है।

अथर्व वेद के इससे अगले सूक्त में ही आलंकारिक ढंग से कहा गया है कि भगवान् के दूत इन पापियों को बाँधने के लिए हर स्थान पर हर समय पाश लिये हुये खड़े रहते हैं।

सहस्रधार एव ते समस्वरन्

दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।

तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः

पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥

॥ अथर्व । ५ । ६ । ३ ॥

(दिवः सहस्रधारे नाके एव) द्युलोक के सहस्रों धाराओं से प्राप्त होने वाले सुख से पूर्ण स्थान में ही (ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्) वे निश्चल, स्थितिप्रज्ञ, शान्त-स्वभाव वाले मधुभाषी लोग सब मिलकर एक स्वर से कहते हैं कि (तस्यभूर्णयः स्पशः न

निमिषन्ति) दुष्टों को पाश में बांधने वाले, पाश लिये हुए उसके दूत कभी पलक नहीं झपकाते अर्थात् पापियों को पकड़ने के लिये सदैव जागरुक रहकर प्राणियों द्वारा किये जा रहे पापों को खुली आंखों से देखते रहते हैं, (सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति) और वे बांधने के लिए पद-पद पर पाश लिये हुये खड़े रहते हैं; उनसे कोई पापी बच नहीं सकता।

ऐसी अद्भुत व्यवस्था है भगवान् की। पाप करने वाले यह समझकर प्रसन्न होते हैं कि उन्हें उनके द्वारा किये जाने वाले पापों अन्यायों, दुराचारों से दण्ड के बजाय लाभ प्राप्त हो रहा है क्योंकि वे भगवान के इन दूतों के सूक्ष्म किन्तु अकाट्य एवं अचूक पाशों को देख नहीं पाते।

उस सर्वान्तिर्यामी, सर्वसाक्षी, सर्वाधिष्ठाता, सर्वव्यापक प्रभु का वर्णन करते हुये अथर्व वेद में कहा गया है कि परमात्मा हमारे सभी कार्यों को हमारे समीप में स्थित होने के समान स्वयं देखता है तथा जानता है, उससे कुछ भी छुपाया नहीं जा सकता।

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।

य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥

॥ अथर्व ४।१६।१॥

(देवाः इदम् सर्वं विदुः) देव अथवा विद्वान् लोग यह सब भली प्रकार जानते हैं कि (एषां बृहन् अधिष्ठाता) इनका अर्थात् इन लोगों का महान् अधिष्ठाता अर्थात् शासक एवं स्वामी (यः तायत्) जो सबका बिस्तार करता है, सबकी वृद्धि करता है, सबका पालन-पोषण करता है, (चरन्) जो सर्वत्र विचरता है अर्थात् सर्वत्र उप-

स्थित रहता है तथा (मन्यते) जो सब कुछ जानता है, (अन्तिकात् इव पश्यति) समीप में स्थित हुये के समान सब कुछ देखता है।

यही भाव मनुस्मृति के निम्न श्लोकों में दिया गया है—

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥

॥ मनु० । ८ । ८५ ॥

पापी लोग अपने मन में यह विचारते हैं कि हमारे पाप को कोई नहीं देखता परन्तु यह उनका भ्रम है क्योंकि उनके पापों को देवतागण तथा उनके ही हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा स्वयं देखता है।

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥

॥ मनु० । ८ । ८६ ॥

द्युलोक, पृथिवी, जल, कर्म करने वाले का हृदय, सूर्य, चन्द्र, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्यायें तथा कर्मफलदाता यम अर्थात् परमात्मा समस्त प्राणियों के कर्मों को देखते हैं।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

॥ मनु० । ८ । ९१ ॥

हे कल्याण चाहने वाले ! जो तुम अपने को एकाकी मानते हो, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पाप और पुण्यों को देखने वाला परमात्मा सदैव तुम्हारे हृदय में बिराजमान है।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
॥ मनु० । ४ । १७२ ॥

अधर्म का फल संसार में उसी प्रकार तुरन्त नहीं मिलता जिस प्रकार पृथिवी में बोया गया बीज तुरन्त उत्पन्न नहीं हो जाता। अधर्म का फल धीरे-धीरे घेरता हुआ पापकर्ता का समूल नाश कर देता है।

जुहुराणम् एनः अस्मद् युयोधि

कुटिलतापूर्ण पापों को हमसे दूर कर दीजिये। इसी आशय की प्रार्थना अथर्व वेद के निम्न मन्त्र में की गई है—

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां
यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ।
॥ अथर्व । ५ । ६ । ८ ॥

(अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तम्) हमें निन्दनीय पाप कर्म से छुड़ाइये, (यज्ञं जुषेथां) हमारे यज्ञ का सेवन कीजिये तथा (अस्मासु अमृतं धत्तम्) हमारे अन्दर अमृतत्व रख दीजिये अर्थात् हमें अमृतत्व प्रदान कीजिये।

पाप कर्मों को छोड़कर तथा यज्ञमय जीवन व्यतीत करके, श्रेष्ठ यज्ञ कर्मों का सम्पादन करके हम भगवान की कृपा से अमृतत्व प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए सबसे प्रारम्भिक कार्य है पापों से दूर होना और इसके लिए आवश्यक है अन्तःकरण की निर्मलता तथा चित्त की सरलता। इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है कि

मनुष्य को अवक्र चेतसः, कुटिलता रहित अथवा सरल चित्त वाला होना चाहिये।

भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम

हम बहुत प्रकार से बारम्बार विशेष नमनपूर्वक अथवा नमस्कार वचनों से आपकी अर्चना, स्तुति तथा उपासना करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विना अनन्यभक्ति के विना पूर्ण समर्पण के, बिना शरणागत हुए केवल कर्म अथवा ज्ञान से भगवान को अथवा उसकी कृपा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस मार्ग में अहंकार उतना ही बड़ा बाधक है जितना कि दुष्कर्म एवं अज्ञान। इसीलिए इस मन्त्र में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक भगवान् को बारम्बार प्रणाम करने की बात कही गई है।

यदि हम अपनी उपासना से, अपनी अनन्य भक्ति से तथा अपने श्रेष्ठ कर्म अथवा ज्ञान से भगवान की मित्रता के योग्य हो जायँ और भगवान कृपा करके हमें अपना मित्र बना ले, तो हमारे सारे संकट, सारे दुःख तथा कष्ट स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे। स्पष्ट है कि जिसका स्वयं भगवान मित्र हो उसे दुःख, संकट अथवा कष्ट कहाँ ?

भगवान तो अपने भक्त का, अपने मित्र का इतना ध्यान रखते हैं कि उसके कल्याण के लिए, उसकी रक्षा तथा उन्नति के लिये कुछ भी करने को सदैव तैयार रहते हैं; यहाँ तक कि अपने मित्र अर्जुन की रक्षा करने के लिये, उसे विजय दिलाने के लिये भगवान उसके सारथि बन गये। अपने भक्त का मन रखने के लिये राम स्वयं चल कर उसकी कुटिया में गये और उसके जूठे बेर खाये।

भगवान ने कहा है कि जो भी मेरी शरण में आता है, उसे मैं

अभय प्रदान करता हूँ। आवश्यकता है भक्ति भाव से उसकी शरण में जाने की।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

वाल्मीकि रामा०। ६। १८। ३३॥

जो एक बार भी मेरी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित मन्त्र इतना सुन्दर है कि प्रत्येक पुरुष को इसे सदैव अपने स्मृति पटल पर अङ्कित रखना चाहिये।

१ २र३ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २
प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
२ ३ २ ३ १ २र
यस्य त्वꣳसख्यमाविथ।

ऋग्०। ८। १९। ३०॥ सामवेद। पूर्वार्चिक। १। १२। २॥
॥ क्रम सं०। १०८॥
सामवेद। उत्तरार्चिक। २०। ६। १॥ ॥ क्रम सं० १८२२॥

ऋग्वेद में यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ आया है।

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परब्रह्म! (यस्य त्वं सख्यं आविथ) जिसकी मित्रता आप स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् जिसके आप मित्र हो जाते हैं, (सः तव सुवीराभिः ऊतिभिः वाजकर्मभिः) वह आपकी सुन्दर वीरतापूर्ण रक्षाओं तथा आपके बलशाली कर्मों से (प्रतरति) सभी दुःखों, कष्टों एवं संकटों से पार हो जाता है।

वास्तव में भगवान् की कृपा ही सब कुछ है। उसकी कृपा ही

अमृत है, और उसकी अकृपा मृत्यु है, जैसा कि इस प्रसिद्ध प्रार्थना मन्त्र में कहा गया है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

।। यजु० । २५ । १३ ।।

जो हमें आत्मिक ज्ञान एवं आत्मिक तथा शारीरिक बल देने वाला है, समस्त विश्व जिसकी उपासना करता है, सभी देव तथा विद्वान् जिसकी आज्ञा का, जिसके अनुशासन का पालन करते हैं, जिसकी छाया, जिसका आश्रय अथवा जिसकी कृपा अमृत है और जिसकी अकृपा ही मृत्यु है, ऐसे सुखस्वरूप परब्रह्म की हम अपने अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक अनन्यभाव से अर्चना एवं उपासना करें।

इसमें कोई संशय नहीं है कि अनन्यभाव से श्रद्धापूर्वक की गई भक्ति से भगवान को प्राप्त किया जा सकता है, जैसा कि गीता में कहा गया है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।

।। गीता । ८ । २२ ।।

हे पार्थ ! वह परम पुरुष जिसके अन्तर्गत समस्त भूत स्थित हैं तथा जिसके द्वारा इस समस्त सृष्टि का विस्तार अथवा निर्माण किया गया है, अनन्य भक्ति से प्राप्त किया जाने वाला है।

गीता के निम्नांकित महत्वपूर्ण श्लोकों में उपासना के लिये मन तथा इन्द्रियों पर संयम, सभी प्राणियों में समबुद्धि तथा समस्त संसार

के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयास करने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

॥ गीता । १२ । ३ , ४ ॥

जो पुरुष उस सर्वव्यापी, अविनाशी, अनिर्वचनीय, अचिन्तनीय, अव्यक्त अर्थात् निराकार, अचल,सदा एक रस अर्थात् अपने परमानन्द स्वरूप में रहने वाले, ध्रुव अर्थात् नित्य परमात्मा की उपासना अपने मन एवं इन्द्रियों का संयम करते हुये समस्त प्राणियों में समान भाव रखते हुये तथा समस्त भूतों के कल्याण में रत रहते हुये करते हैं, वे मुझे ही अर्थात् भगवान को प्राप्त होते हैं ।

दुर्भाग्य से आज हम इन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को भूलकर केवल नाम संकीर्तन अथवा मूर्तिपूजा को ही उपासना समझ बैठे हैं, जिसका परिणाम है हमारे धर्म का, हमारे समाज का तथा हमारे व्यक्तिगत जीवन का निरन्तर अधः पतन। जिनके धर्म का प्रमुख अङ्ग है "सर्वत्र सम बुद्धि" होना और 'सर्वभूत हिते रतः' होना, वे आज अपने ही भाइयों को अछूत कहकर उन्हें घ्रणा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें मन्दिरों में जाने तक से रोकते हैं और केवल अपने स्वार्थ में ही आकण्ठ डूबे हुये हैं । धर्म की इससे बड़ी विडम्बना, पाखण्ड अथवा मिथ्याचार और क्या हो सकता है ।

यदि हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हमें उपासना के इस वास्तविक स्वरूप को समझकर इस पर आचरण करना चाहिए अन्यथा हम अपने अज्ञान तथा अपनी मूर्खता के कारण अपने निर्विवाद

रूप से सर्वश्रेष्ठ धर्म को समूल नष्ट कर देंगे।

जीवन में जब ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है और वह स्वयं अपना भला-बुरा समझने का स्थिति में नहीं रहता तब उसे भक्तिभाव से भगवान की ही शरण में जाना चाहिए, यही सर्वश्रेष्ठ नियम है। इसीलिए संशय तथा दुविधा में पड़े हुए अर्जुन से भगवान श्रीकृष्ण ने अन्त में यही कहा कि वह भगवान की शरण में चला जाये, तभी उसका कल्याण होगा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

॥ गीता। १८। ६२॥

हे भारत! सर्वभाव से अर्थात् सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जाओ। उसकी कृपा से परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान अर्थात् सनातन परम धाम को प्राप्त होगे। भगवान् में इस प्रकार की आस्था तथा दृढ़ विश्वास उपासना का अभिन्न अंग है।

भगवान की सतत् स्तुति एवं उपासना का निर्देश अनेक मन्त्रों में दिया गया है।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्॥

॥ अथर्व०। ६। १। १॥

(आथर्वण) हे स्थिर चित्त योगी! (देवं सवितारं स्तुहि) समस्त संसार को उत्पन्न करने तथा प्रेरणा देने वाले परमात्मा की स्तुति करो, (दोषो गाय बृहद् गाय) रात्रि में गान करो, उसका गुण

गान करो, कीर्तन करो, भजन करो, बहुत भजन करो, बहुत कीर्तन करो, (द्युमद् धेहि) उस तेजो युक्त प्रभु के तेज को अपने अन्दर धारण करो। सविता सूर्य को भी कहते हैं किन्तु यहाँ रात्रि में सविता देव की उपासना की बात कही गई है, दिन में नहीं। स्पष्ट है कि मन्त्र में सूर्य के जनक तथा प्रकाशक, सूर्य के भी सूर्य परम तेजोमय सविता देव अर्थात् परमात्मा की उपासना का निर्देश दिया गया है, सूर्य की उपासना का नहीं।

भगवान के गुणों के गान एवं कीर्तन का इतना अधिक महत्व है कि जहाँ उनके भक्त गान करते हैं वहीं भगवान का निवास होता है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

पद्म पुराण

हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न ही योगियों के हृदय में। मेरे भक्त जहाँ मेरा संकीर्तन करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।

यह उल्लेखनीय है कि गायत्री मन्त्र में भी भगवान के तेज को अपने अन्दर धारण करने की बात कही गई है—'भर्गो देवस्य धीमहि'। हमारे जीवन का लक्ष्य ही तेजस्वी बनना अथवा ब्रह्मतेज से परिपूर्ण बनना होना चाहिए और इसके लिए हमें भगवान् के गुणों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करना चाहिये। वास्तव में यही सच्ची उपासना है। उसके जितने गुण हम अपने अन्दर धारण कर सकेंगे, उसका जितना तेज हम अपने अन्दर धारण कर सकेंगे उतने ही तेजस्वी हम बन सकेंगे, उतनी ही उन्नति हम कर सकेंगे।

अभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।

अर्चामि सत्यसवꣳरत्नधामभि प्रियं मतिम् ।।

।। अथर्व० । ७ । १४ । १ ।। ।। यजु० । ४ । २५ ।।

।। साम । पूर्वा० । ४ । ८ । ८ ।। क्रम सं. ४६४ ।।

अथर्ववेद का यह मन्त्र सामवेद के मन्त्र की केवल ऊपरी पंक्ति है । यजुर्वेद में जो मन्त्र आया है वह सामवेद के मन्त्र से भी बड़ा है ।

(ओण्योः सवितारं) रक्षा करने वाले तथा द्युलोक एवं पृथिवी लोक को उत्पन्न करने वाले, समस्त संसार को प्रेरणा देने वाले और (कविक्रतुम्) ज्ञानी, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्ता तथा सभी कर्मों के नियन्ता एवं फलदाता (सत्यसवं रत्नधां) सत्य ऐश्वर्य वाले अथवा सत्य के प्रेरक, संसार के समस्त रमणीय श्रेष्ठ पदार्थों, रत्नों अथवा प्रकाशमान लोकों को धारण करने वाले (अभिप्रियं मतिम्) अत्यधिक प्रिय एवं मननीय अथवा ध्यान करने योग्य (त्यं देवं अभि अर्चामि) उस देव की मैं भली प्रकार बारम्बार अर्चना एवं उपासना करता हूँ ।

'अग्ने नय' इस महत्वपूर्ण मन्त्र का संक्षिप्त भाव यजुर्वेद के निम्नाङ्कित मन्त्र में दिया गया है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।

स्वर्ग्याय शक्त्या ।

।। श्वेता० । २ । २ ।। ।। यजु० । ११ । २ ।।

(वयं युक्तेन मनसा) हम योग-युक्त, समाहित, संयमित तथा विषयों से विरक्त मन से (सवितुः देवस्य सवे) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा उसका पालन-पोषण करने वाले परब्रह्म की आज्ञा में अर्थात् उसके निर्देशों, नियमों एवं वेदोक्त आदेशों के अनुसार (स्वर्ग्याय शक्त्या, श्वेताश्वतर उपनिषद् में सुवर्गेयाय शब्द प्रयुक्त हुआ है) सुवर्ग अथवा विशेष सुख, ऐश्वर्य एवं वैभव की प्राप्ति के लिये अपनी पूर्ण शक्ति से निरन्तर प्रयास करें। यही हमारे जीवन का लक्ष्य, कर्तव्य एवं जीवन दर्शन होना चाहिये। योगयुक्त मन का तात्पर्य लाभ हानि, सुख-दुःख, विजय-पराजय आदि में समबुद्धि होना, प्रत्येक प्राणी के प्रति समत्व का भाव रखना तथा चित्त की वृत्तियों के निरोध एवं इन्द्रियों के निग्रह से प्राप्त मन की संयमित, अचंचल एवं शान्त अवस्था से है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार कर्म एवं ज्ञान का समुच्चय आवश्यक है, उसी प्रकार ज्ञान एवं उपासना अथवा भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क एवं हृदय अलग-अलग दिशाओं में अथवा अलग-अलग स्तरों पर कार्य करने वाले नहीं होने चाहिये अन्यथा मनुष्य को सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी।

इस सम्बन्ध में निम्नांकित मन्त्रों में अत्यन्त महत्पूर्ण शिक्षा दी गई है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

॥ अथर्व। १०। २। २६॥

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं संसीव्य) अथर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपने शिर और हृदय को आपस में सीकर (पवमान: शीर्षत: अधि मस्तिष्कात् ऊर्ध्व: प्रैरयत्) प्राण को शिर के नीचे किन्तु मस्तिष्क के ऊपर अर्थात् शिर के ऊपरी भाग तथा मस्तिष्क के बीच में प्रेरित करता है।

उपरिलिखित मन्त्र के अनुसार जब योगाभ्यास द्वारा विभिन्न चक्रों में से होता हुआ, प्राण मस्तिष्क के ऊपर स्थित सहस्रार चक्र में ले जाया जाता है, तब वहाँ आत्मा को ब्रह्म का दर्शन होता है। इस स्थान को ब्रह्मलोक भी कह सकते हैं। यह स्थान मस्तिष्क के ऊपर है जो यह इंगित करता है कि केवल तर्क से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों की आवश्यकता होती है।

तद्वा अथर्वण: शिरो देवकोश: समुब्जित:।

तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मन:॥

॥ अथर्व०। १०। २। २७॥

(तद् वा अथर्वण: शिर: समुब्जित: देवकोश:) वह निश्चय से अथर्वा अर्थात् स्थिरचित्त योगी का शिर देवों का सुरक्षित कोश है (तत् शिर: प्राण: अन्नं अथो मन: अभिरक्षति) उस शिर की प्राण, अन्न तथा मन भली प्रकार से रक्षा करते हैं। इसीलिए इस मस्तिष्क रूपी दिव्य कोश को और अधिक मूल्यवान् तथा उपयोगी बनाने के लिए प्राणायाम, सात्विक एवं पौष्टिक अन्न तथा शान्त एवं संयत मन की आवश्यकता होती है।

शिर में स्थित मस्तिष्क निश्चय ही शरीर का अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग है जिससे शरीर की सारी क्रियायें सञ्चालित होती हैं और जिसके आधार पर ही मनुष्य असीम प्रगति करने के योग्य बनता है। इसीलिये इसे देवों का ज्ञानमय, प्रकाशमय कोश, या भण्डार अथवा शरीर में कार्य कर रहे समस्त देवों का विशेष कोश या प्रकोष्ठ कहा गया है। निश्चय ही सभी देवों के अंश इस रत्न-तुल्य मूल्यवान् सुरक्षित कोश में रखे हैं। तभी तो यह इतना अद्भुत शक्तिशाली एवं जीवन का सबसे महत्वपूर्ण नियन्त्रक बना हुआ है। दो आँख, दो कान, दो नाक तथा जिह्वा, ये सप्तर्षि तथा आठवीं वाणी इसी देव, प्रकोष्ठ में रहते हैं तथा इसी में प्राण अथवा यश रखा हुआ है।

थर्व का अर्थ है गति अथवा चञ्चलता। शरीर, इन्द्रियां तथा मन उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक चञ्चल हैं। जब यह चञ्चलता समाप्त हो जाती है, तब आत्म शक्ति का विकास होता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त योगी को अथर्वा अर्थात् स्थितप्रज्ञ, स्थिर बुद्धि वाला अथवा निश्चल कहते हैं। चञ्चलता को समाप्त करने तथा शारीरिक एवं मानसिक दोषों को दूर करने के लिए यम, नियम, आसन आदि योगिक क्रियाओं तथा प्राणायाम का विधान महर्षियों द्वारा किया गया है। निरन्तर अभ्यास एवं प्रयास से योगीजन अथर्व की स्थिति को प्राप्त करते हैं।

हृदय तथा मस्तिष्क को सीने का तात्पर्य उन्हें एक ही दिशा में, एक ही लक्ष्य की ओर चलाना है। उनमें परस्पर कोई संघर्ष, प्रतिकूलता अथवा विपर्यय नहीं होना चाहिये।

मस्तिष्क का कार्य तर्क-वितर्क करके ज्ञान प्राप्त करना है, जबकि हृदय का कार्य है श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास। केवल तर्क बढ़ने से नास्तिकता का जन्म होता है और केवल भक्ति बढ़ने से अन्ध-

विश्वास का। ये दोनों ही घातक हैं। अतः मस्तिष्क एवं हृदय का ऐसा समन्वय होना चाहिए कि आस्तिकता, श्रद्धा, सत्य एवं ज्ञान प्राप्त हो सके, नास्तिकता, अन्धविश्वास एवं अज्ञान नहीं।

वास्तव में यदि मस्तिष्क एवं हृदय आपस में सिये हुए अर्थात् पूर्णरूप से समन्वित नहीं होंगे तो जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण कार्य में सफलता नहीं मिल सकेगी। परम कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष की विचार शक्ति तथा श्रद्धा भक्ति साथ-साथ बढ़े। हमारी शिक्षा नीति का यह आधार होना चाहिये।

शरीर में सत्य एवं श्रद्धा का स्थान हृदय है, यह तथ्य बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार बताया गया है।

शाकल्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता इति।

श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?

हृदये इति होवाच, हृदयेन हि श्रद्धां जानाति, हृदये हि एव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्यः।

॥ बृहदा० । ३ । ९ । २१ ॥

(हृदये इति ह उवाच) 'हृदय में' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। (हि हृदयेन श्रद्धाम् जानाति) क्योंकि हृदय से ही श्रद्धा को जानता है, हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित होती है। इसी क्रम में २३ वीं कण्डिका में याज्ञवल्क्य ने दीक्षा एवं सत्य की प्रतिष्ठा के विषय में निम्न प्रकार बताया है—

शाकल्य—कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता इति। दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य—'सत्ये इति'। सत्य में। 'तस्मात् अपि दीक्षितम् आहुः'

'सत्यं वद' इति हि सत्ये एव दीक्षा प्रतिष्ठिता इति। इसीलिए दीक्षित से कहा जाता है कि सत्य बोलो क्योंकि सत्य ही में दीक्षा प्रतिष्ठित होती है।

शाकल्य—कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितम् इति। फिर शाकल्य ने पूछा कि सत्य किसमें प्रतिष्ठित है।

तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "हृदये इति, हि हृदयेन सत्यं जानाति हृदये हि एव सत्यं प्रतिष्ठितम् भवति इति"। हृदय में, क्योंकि मनुष्य हृदय ही से सत्य को जानता है। हृदय ही में सत्य प्रतिष्ठित होता है।

'अग्ने नय' इस मन्त्र का अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य जी ने इस प्रकार किया है "हे अग्ने! हमें कर्म फल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान एवं कर्मों को जानने वाला है। हमारे पाखण्ड पूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तेरे लिये अनेक नमस्कार करते हैं।"

उन्होंने लिखा है कि सुपथा यह विशेषण दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिये है। मैं आवागमन रूप दक्षिण मार्ग से ऊब गया हूँ, अतः तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि "पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय" पुनर्गमनागमन को समाप्त करने वाले सुपथ से 'राये', धन के लिये अर्थात् कर्मफल भोग के लिये ले चल तथा तू हमसे कुटिल पापों को बियुक्त कर दे जिससे हम विशुद्ध होकर इष्ट प्राप्त कर सकें किन्तु इस समय हम तेरी परिचर्या करने में समर्थ नहीं हैं। अतः बहुत से नमस्कार वचनों से ही तेरी परिचर्या करते हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है। हे दिव्य स्वरूप, प्रकाश स्वरूप ईश्वर! जिससे हम लोग आपके लिये (भूयिष्ठाम्) अधिकतर (नम उक्तिम् विधेम) सत्यकारपूर्वक

प्रशंसा का सेवन करें इससे (विद्वान्) सबको जानने वाले आप हम लोगों से कुटिलता रूप पापाचरण को पृथक कीजिये। हम जीवों को राये; विज्ञान, धन अथवा धन से हुये सुख के लिये (सुपथा) धर्मानुकूल मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त ज्ञानों को (नय) प्राप्त कीजिये।"

प्रार्थना

इस भाष्य के अन्त में समस्त पाठकों के साथ मिलकर भगवान से प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के दुःखों को हमसे दूर करे और जिसमें हमारा कल्याण हो वह हमारे पास लाये।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न ऽआ सुव॥

॥ यजु० । ३० । ३ ॥

(सवितः देव) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा उसका पालन पोषण करने वाले, उसे चेतना एवं प्रेरणा देने वाले हे परब्रह्म! (विश्वानि दुरितानि परा सुव) समस्त दुःखों को तथा हमारे समस्त अवगुणों को हमसे दूर कर दीजिये। (यद् भद्रं तत् नः आसुव) और जो हमारे लिये कल्याणकारी हो, उसे हमारे पास लाइये, हमें प्राप्त कराइये। हमारा कल्याण किसमें है, यह भगवान ही जानता है। इससे सुन्दर और कोई प्रार्थना क्या हो सकती है। सुविज्ञ पाठकों द्वारा यह श्रेष्ठ प्रार्थना नित्य प्रति की जानी चाहिये।

मन्त्र सूची

ब्राह्मण वाक्य सूची

श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान

के तत्वावधान में

वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु

मैसर्स उमा प्रकाशन लिमिटेड

ई/१४ इन्डस्ट्रियल स्टेट, ताल कटोरा रोड,

लखनऊ

द्वारा

केवल लागत मूल्य पर

मुद्रित एवं प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९८९

१०,००० प्रतियाँ

मूल्य, केवल ३२५०